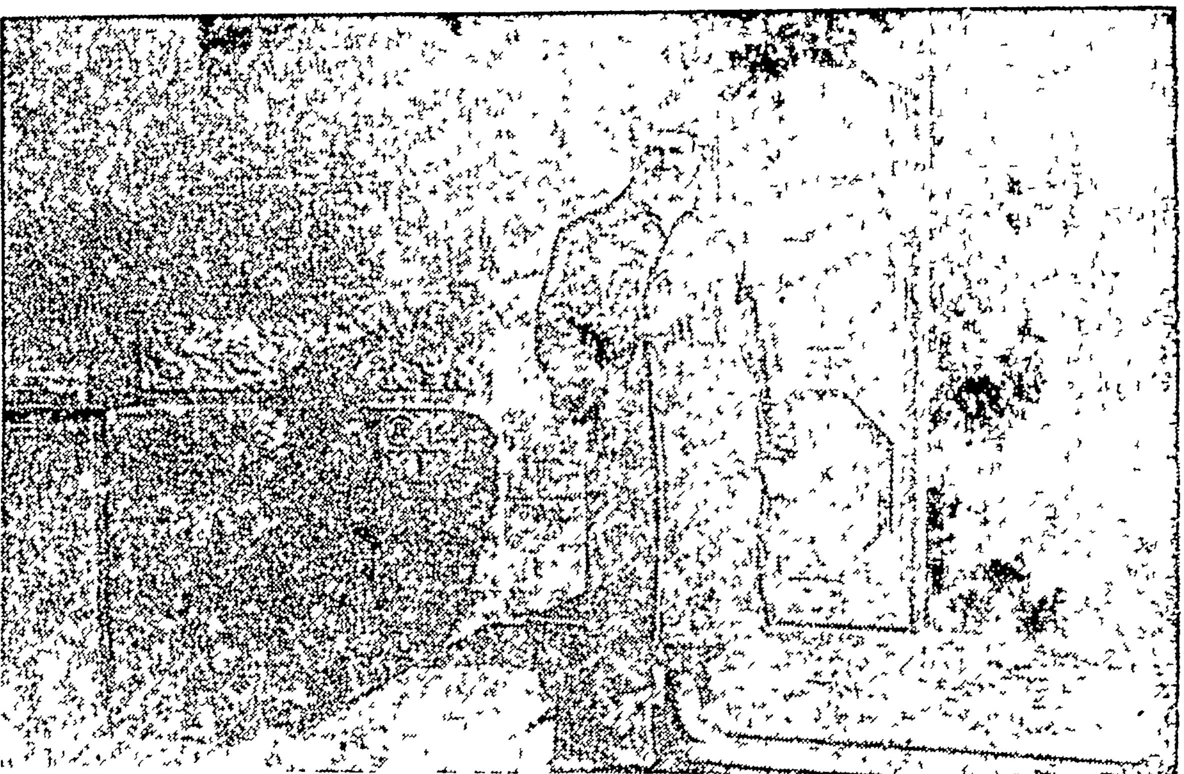
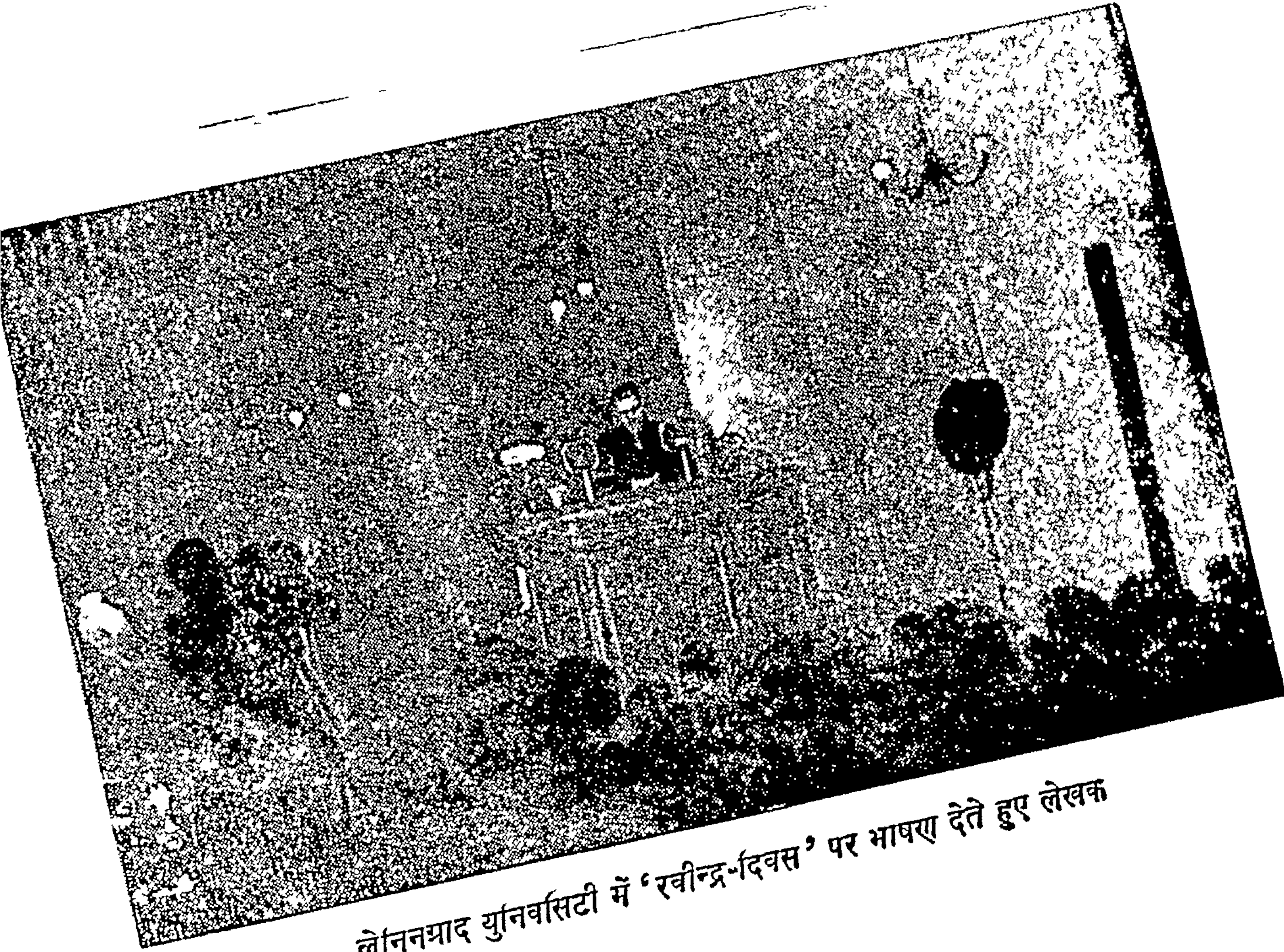
अध्याय		पृष्ठ
१२	प्रतीक्षा और निराशा	१६७
१३	फिर लेनिनग्राद में	२१७
१४	तिरयोकी में	२३४
१५	कालो न दुरतिक्रम	२६६
१६	पुन. हिमकाल	२६७
१७	१६४७ का आरम्भ	३१७
१८	अन्तिम महीने	३४५
१९	लदन के लिये प्रस्थान	३६१
२०	इग्लैंड में	३७३
२१	भारत के लिये प्रस्थान	३६८



लेखक : लेनिनग्राद के जाड़ों (१६४६) में



लेनिनग्राद युनिवर्सिटी में 'रवीन्द्र-दिवस' पर भाषण देते हुए लेखक

१—ईरान में

: परदेश में खाली हाथ :

१९४४ के अक्तूबर के अन्त में किसी तरह पासपोर्ट पाकर मैं रूस के लिए रवाना हुआ। स्थल-मार्ग ही सस्ता तथा उस वक्त निरापद था, इसलिये मैंने ईरान की ओर पैर बढाया। वैसे मेरी कोई यात्रा पैसे के बल पर कभी नहीं हुई, किन्तु उनमें यह सुभीता अवश्य था, कि "तेते पाव पसारिये, जेती लाबी सौर" की नीति का पालन कर सकता था। युद्ध के कारण विदेशी विनिमय का मिलना बहुत मुश्किल था, जो मिलता था वह भी खर्च करने को देश के नाम-निर्देश के साथ। मुझे सवा सौ पौंड विनिमय मिला था, जिसमें मैं १०० पौंड रूस में खर्च कर सकता था और २५ ईरान मे। सोचा था दस-पांच दिन तेहरान में रहना होगा, जिसके लिये २५ पौंड पर्याप्त होंगे, फिर तो वीज़ा लेकर सोवियत-भूमि में चल देना है, जहा लेनिनग्राद विश्वविद्यालय मे संस्कृत की प्रोफेसरी प्रतीक्षा कर रही है।

उस वक्त क्वेटा से ट्रेन सीधे ईरान की सीमा के भीतर ज़ाहिदान (पुराना नाम दुज्दाबपानीचोर) तक जाती थी। रजाशाह ने जर्मन नाज़ियो की विजय पर विजय देखकर उदीयमान सूर्य का स्वागत करना चाहा, किन्तु जर्मन भुजायें इतनी लम्बी नहीं थीं, कि ईरान तक पहुँच पातीं। रजाशाह पकड़ लिए गये, किन्तु दक्षिणी अफ्रीका में नज़रबन्दी कुछ ही महीनों की रही, अल्लामिया ने बेचारे को अपने यहा बुला लिया और उनके साहबजादे को तख्त पर बैठा दिया गया। अब ईरान के अलग-अलग भागों पर अंग्रेज, अमेरिकन और रूसी सेनायें नियन्त्रण कर रही थीं। जर्मन सेना की विजय-यात्रा पराजय-यात्रा में परिणत हो चुकी थी। इसी समय २ नवम्बर (१९४४ ई०) को सबेरे ६ बजे हमारी ट्रेन ज़ाहिदान पहुँची। हम समझते थे, पिछली दो यात्राओं की भांति कस्टम वालों से अभी काफी भुगतना होगा, किन्तु राज्य की असली बागडोर परदेशियों के हाथ में हो, तो ईरानी अफसरों को बहुत परेशानी उठाने की क्या आवश्यकता? मैं अभी भी कस्टपरीक्षा की प्रतीक्षा कर रहा था, इसी समय साथ के भाई ने कहा—वह तो मीरजावा (स्टेशन) में ही खत्म हो गया। स्टेशन से लारी ने नगर में पहुँचा दिया। १९३७ से ज़ाहिदान अब बहुत बढ गया था—युद्ध की बरक्कत। भारत से कितनी ही चीजें भी इस समय इसी रास्ते से रूस भेजी जा रही थीं। लारी ने एक अरक्षित सी गराज में जो उतारा था। ऐसी कोठरी में सामान रखकर पासपोर्ट, मोटर टिकट आदि के प्रबन्ध के लिए इधर-उधर की दौड-धूप करने जाना बुद्धिमानी की बात नहीं थी। मैं अपने दूसरे ही पूर्व-परिचित के ख्याल से सरदार मेहरसिंह (चकवाल) के मकान पर जा पहुँचा। अपरिचित होने पर भी वह बहुत प्रेम से मिले। बेटे की कुडमाई (सगाई) थी, दो कमरों में मिठाइयों और फल की तश्तरिया सजी हुई थीं। "मान न मान मैं तेरा मेहमान" तो मैं बनना नहीं चाहता था, किन्तु सुरक्षित स्थान में सामान रखने के लिए लाचार था।

चीजे भारत में भी बहुत महगी हो गई थीं, किन्तु यहां तो हमारे यहा का २० रुपयों का बूट १०० मे बिक रहा था। चीजों का दाम भारत से

चौगुना पाच गुना था। उस पर "जोई राम सोई राम" अलग। मैं उसी दिन मशहद के लिये रवाना हो जाना चाहता था। दोपहर तक शहरबानी (कोतवाली) के कई चक्कर लगाये, किन्तु वहा पासपोर्ट का पता नही था। बतलाया गया, अभी कोरन्तीन से आया ही नहीं। कोरन्तीन के डाक्टर गरवी ने कहा—न मिले तो लारी छूटने मे घंटा पहिले आना, मैं तुम्हारा पासपोर्ट दे दूंगा। लेकिन काम इतना आसान नहीं था। किसी ने सरदार लालसिंह का पता दे दिया। उन्होंने ५० तुमान पर (तुमान=एक रुपया, यद्यपि ईरानी बैंक उसे एक रुपये से कुछ अधिक का मानता था) लारी का टिकट खरीद दिया। अगले दिन (२ नवम्बर) को भी सरदार लालसिंह ने दौड़-धूप की, तब दस बजे पासपोर्ट मिल सका, उसके बिना जाहिदान से आगे नहीं बढा जा सकता था। आदमी अतीत के तरद्दुदो को जल्दी भूल जाता है, किन्तु ईरान की बस और लारी की यात्रा तो पूरी तपस्या है—शोफर (ड्राइवर) मुसाफिर की जान-माल के बादशाह हैं, जब मर्जी हुई चल पडे, जब मर्जी हुई खडे हो गये। रजाशाही कडाई हट गई थी, इसलिये फिर सडकों पर बुर्का (पर्दा) आम दिखाई देता था, कितनी ही पगडिया भी दिखलाई पडती थीं, यद्यपि हैट बिल्कुल उठ नहीं गई थी।

लारी आठ बजे रात को चली। हमारी लारी में २१ बल्ती (काश्मीर) तीर्थयात्री भी थे, जो तिब्बती भाषा ही बोल सकते थे। मुझे कभी-कभी दुभाषिया बनना पड्ता था, वैसे अपनी प्रभुता से वह २६ तुमान में ही लारी का टिकट पा गये थे। ड्राइवर की सीट कह कर मुझ से ५० तुमान लिया गया था, किन्तु वहा भी चार मुसाफिर ठूंसे गये थे। तकलीफ भी बड़े महगे भाव मोल लेनी पडी थी। नगी पहाड़ियों की मानसून-वंचित भूमि थी। सडक बनाने की सामग्री सब जगह मौजूद थी किन्तु सडको का भाग्य युद्ध ने ही खोला था। चार बजे रात तक लारी चलती गई, फिर दो घन्टे के लिए खडी हो गई। हम लोग बैठे-बैठे ऊंघे। सूर्योदय को फिर चले। चाय के लिए एकाध जगह जरा देर ठहरते एक बजे दिन को बिरजन्द पहुँचे। मील डेढमील आगे जाते ही लारी बिगड गई, एक बार तो निराशा छा गई, किन्तु घन्टे भर बाद वह फिर चेतन हो

गई। रातों-रात मशहद पहुँचने की बात थी, लेकिन ड्राइवर पर नींद सवार हो गई, हमारे दम में दम आई, जबकि दो बजे रात (५ नवम्बर) को उसने गुनाबाद में विश्राम लेने का निश्चय किया। वह १० बजे दिन तक सोता रहा। फिर बल्ती यात्रियों से बाकी किराये के लिये झंझट शुरु हो गया, उन्होंने कुछ सुन रक्खा होगा। कहते सुनते २७ ने दोपहर तक किराया चुकाया, फिर लारी आगे बढी। लारी पर यह तीसरा दिन था। एक एक बार के खाने पर साढे तीन रुपये खर्च हो रहे थे।

अंधेरा हो चला था। दूर मशहद नगर के चिराग दिखलाई देने लगे। ड्राइवर ने यात्रियों को दिखला कर कहा—"शागिर्द (क्लीनर) को चिराग-दिखाई की दक्षिणा दो।" ड्राइवर मानो साथ ही साथ पंडा भी था। लेकिन गरीब बल्तियों ने बड़ी कसाले की कमाई में से कुछ बचाकर मशहद शरीफ में इमाम रजा की समाधि के दर्शन के लिये यह यात्रा की थी, चीजों का दाम भी महगा था, फिर वह कैसे हर जगह दक्षिणा देते फिरते? उनके इन्कार करने पर शोफर ने "वहशी, जानवर, बर्बरी" जाने क्या क्या उपाधियां उन्हें दे डालीं। एक जगह रूसी सैनिक ने लाल रोशनी दिखा गाडी खडी कराई, फिर चलकर नौ बजे रात को हम मशहद-शरीफ पहुँचे। पन्द्रह तुमान और सामान का देना पड़ा। दो एक जगह भटकने पर जब होटल में जगह नहीं मिली, तो पंडाजी मूसा साहिब के प्रस्ताव को स्वीकार करना पडा। दुरेश्की (फिटन) ने चार तुमान और मजूर ने दो तुमान लेकर गली में पंडाजी के घर पर पहुँचा दिया। हर जगह के पंडों की भांति यहां के पंडे भी यजमान के आराम का ख्याल रखते हैं और तुरन्त ही सारे सोने के अन्डों को निकलवाने की बात न करने पर भी अधिक से अधिक दक्षिणा पाने की कोशिश करते हैं। मैंने कह दिया— यथाशक्ति तथाभक्ति।

सवेरे (६ नवम्बर) रूसी कौन्सल के पास गया। सोचा कहीं यहीं से अशकाबाद होकर वीजा मिल जाये, तो दिक्कत से बच जाऊँ, किन्तु वह कहां होने वाला था। रुपये के रूप में लाये सिक्के खतम हो गये थे, अब ईरान में खर्च

करने के लिये प्राप्त २५ पौंडों पर हाथ डालना था। १० पौंड के चैक के बंक शाहंशाही से १२८ तुमान मिले, जिसमे ७५ तुमान तो तेहरान की बस का किराया देना पडा, तीन तुमान मूसा साहेब को और साढे चार तुमान मजूरो को भी। पैसों के पर उग आये थे, उनके उडते देर नहीं लग रही थी। सूर्यास्त के समय बस रवाना हुई। ७ नवम्बर के दिन और रात चलते रहे। अत्तारी गाव में बारह बजे रात को आराम के लिए ठहरे। उताक (कमरे) का किराया दो तुमान (रुपया) दे दिया, लेकिन पीछे पिस्सुओं से परास्त हो बाहर लेटना पडा।

सवेरे फिर चले। समनान की झॅडइयों का पता नहीं था, अब तो वहां बड़े-बड़े पक्के घर खडे थे, पेट्रोल जो निकल आया था। रेल भी आ गई थी, किन्तु हमे तो बस ही से तेहरान पहुँचना था। दोपहर बाद हाजियाबाद में रूसी चौकी आई। सोवियत कौंसल का दिया पास यहा दे दिया। पास लेने वाला रूसी सैनिक बहुत रूखा था, यद्यपि वही बात उसके एसियाई साथी की नहीं थी।

हमारी बस मे अधिकतर यात्री तब्रेजी तुर्क थे, जिनमें टोपवालों से पगडीवाले अधिक थे। साथ में कारतूस-मालाधारी एक सरकारी अफसर साहेब थे जो अपने तिरियाक (अफीम) को बडे दिखलावे के साथ पीना पसन्द करते थे—कानून के बाबा जो थे। ३०-३२ किलोमीतर तेहरान रह गया था, जब कि उनका तिरियाक पकड़ा गया। पहिले उन्होंने कुछ रोब दिखलाना चाहा, किन्तु उससे कुछ बननेवाला नहीं था। बस रुकी रही। कारतूसी माला डाले अभिमान के पुतले तिरियाकी साहब ने ५०० तुमान रिश्वत के गिन दिए और साथ ही उन्हें अफीम मे भी हाथ धोना पडा, फिर जाकर छुट्टी मिली। हम सात बजे रात को ईरान की राजधानी (तेहरान) मे पहुँचे।

पहिले तो कहीं पैर रखने की जगह बनानी थी, फिर सोवियत बीजा की फिकर में पडना था। चिरागबर्क सडक पर ५ कह कर ६ तुमान रोज का एक कमरा "मुसाफिरखाना तेहरान" मे मिला। उसी रात पता लगा, यहा २० तुमान (रुपया) रोज से कम खर्च नहीं पड़ेगा, और हमारे पास थे केवल १५

पौंड या १९२ तुमान अर्थात् सिर्फ दस दिन की खर्ची। बस से यहाँ पहुँचाने वाले एक सहयात्री अभी और आशा बाधे हुये थे। अगले दिन ५ तुमान देकर उनसे पिंड छुड़ाया।

अगले दिन हम्माम-कोरवी के पास कूचा–उन्सरी में अपने पूर्वपरिचित आगा अमीर अली दीमियाद से मिलने गये। छ ही साल में इतने बूढे मालूम होने लगे! फिर सोवियत कौंसल के यहा गये। कहा गया—पहिले अंग्रेजी दूतावास की सिपारिशी चिट्ठी लाओ, फिर बात करो। मनमारे पहुँचे अंग्रेजी दूतावास मे, और भारतीय विभाग के मुखिया मेजर नक्वी के सहायक रिज्वी साहेब से मिले। रिज्वी प्रयाग (शाहगंज) के रहने वाले थे, इसलिये प्रदेशभाई और नगरभाई के तौर पर बडे प्रेम से मिले, अगले सात महीनों तक उनका वैसा ही सौहार्द रहा। उन्होंने सोवियत बीजा का मिलना आसान नहीं बतलाया।

हमारे सामने कड़ी समस्या थी—१९२ तुमान और रोजाना २० तुमान का खर्च! वहीं अब्बासी उर्फ वोस महाशय बैठे थे, उनसे भी परिचय हो गया। वह स्वय अपनी बीबी-बच्ची (ईरानी) लिवाने आये थे। महीनों बीत जाने पर भी कहीं कूल-किनारा नहीं दिखाई पा रहे थे। मेरी चिन्ता में उन्होंने बडी सवेदना प्रकट की। रास्ते मे उन्होंने अपने ३० तुमान मासिकवाले कमरे को मेरे हवाले करने का प्रस्ताव किया। मैंने सोचा १५० की जगह मकान का ३० ही तो हुआ। उन्हीं के साथ टैक्सी मे सामान रखवा के मैं खयाबान-फरिश्ता के उस घर मे चला आया। दीमियाद साहब का मकान भी पास ही था यह और प्रसन्नता की बात थी। यद्यपि १९२ तुमानों के १५ पौंड के चेक तथा आगे के अनिश्चित समय को देखकर हृदयकम्पन दूर नहीं हुआ था, किन्तु इतना तो समझ गये कि अब २० तुमान से कम शायद १० तुमान मे ही रोज का खर्च चल जाये। ९ नवम्बर की रात को बहुत इतमीनान से सोये। अब्बासी अपनी ससुराल मे रहते थे, वह वहां चले गये।

अगले दिन चिन्ता दुगने जोर से बढी, जब मालूम हुआ, कि अब्बासी ने दो महीने का किराया मकान, मालकन को नहीं दिया है। तो भी "दुनिया

बा-उम्मीद कायम ।" हम हिसाब बांध रहे थे "रोज डेढ तुमान की रोटी, मक्खन, खजूर पर गुजारा और इन्सान के बेटे पर भरोसा । चार तुमान रोज से ज्यादा नही खर्च करना होगा । १६० तुमान में १० दिसम्बर तक चलायेंगे । तब भी ३२ तुमान बच जायेंगे । अंगूठी और रिस्टवाच की जंजीर के तीन तोले सोने पर तीन मास और खपा देंगे। १० फरवरी तक यहा इन्तिजार कर सकते हैं ।" बीजा न मिला तो ? भविष्य प्रकाशमान नहीं था ।

अगले दिन (११ नवम्बर) १० पौंड भुनाना जरूरी था । अब्बासी का १५ तुमान उधार था, भुनाकर १२८ में से अब्बासी को १५ देने लगा, तो उन्होंने ५० तुमान किसी जल्दी के काम के लिये माग लिये और मैंने सहज भाव से दे दिये । अब हाथ में ६३ तुमान तथा ५ पौंड का चेक रह गया । बीजा के बारे में दौड-धूप करने पर उस दिन की डायरी मे लिखना पडा, "अपने बारे में तो अभी आशा की किरण नहीं दिखलाई पड़ती ।"

डेढ तुमान रोज पर गुजारा करने का निश्चय कर चुका था, किन्तु (१२ नवम्बर) को तीन तुमान गर्माबा (स्नानागार) को ही देना पड़ा । १३ नवम्बर तक अब्बासी से परिचय चार दिन का हो गया था और उनके कई दोष-गुण मालूम हो गये थे । उनको दिए पचास तुमानों के लौटने की आशा नहीं थी, ऊपर से दो मास के बाकी किराये के ६० तुमान के देनदार भी बनने जा रहे थे । लेकिन अब्बासी का दूसरा भी पहलू था, जिसमे वह सच्चे मानवपुत्र जंचते थे । वह बहुत अधिक नहीं बोलते थे, साथ ही बहुत अल्पभाषी भी नहीं थे । "न श्लोक अपि सत्य स्यात्, पुरुषे बहुभाषिणी" के अनुसार उनकी बातो मे बिल्कुल सत्य का कोई अंश ही नहीं था, यह बात नहीं थी, तो भी उस जगल में से सत्य को ढूँढ निकालना मुश्किल काम था । यदि ६ नवम्बर को अब्बासी मिले थे, तो अगले दिन आगा दीमियाद के यहा दूसरे मानवपुत्र मिर्जा महम्मद अस्पहानी से भी परिचय प्राप्त हुआ ।

———

: तेहरान में :

मैं सन् १९४४ के जाड़ो में तेहरान पहुँचा था। ७ नवम्बर (१९४४) से २ जून (१९४५) तक वहीं इस आशा में पड़ा रहना पडा, कि वीजा मिले और सोवियत के लिए रवाना हो जाऊँ। यद्यपि यह आवश्यक तथा बहुत कुछ दुर्भर प्रतीक्षा थी, लेकिन करता तो क्या करता? सोवियत वीज़ा तभी मिला, जब यूरोप में युद्ध समाप्त हो गया, और जर्मनी ने हथियार डाल दिया, लेकिन इस सात महीने की प्रतीक्षा को बिल्कुल बेकार भी नहीं कहा जा सकता। तेहरान उस वक्त अन्तर्राष्ट्रीय अखाडा केवल राजनीतिक बल्कि सैनिक अखाड़ा भी था। राजनीतिक अखाड़ा बल्कि ही नहीं तब नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि ईरान के बिल्कुल अमेरिका के हाथ की कठपुतली हो जाने के कारण खेल बराबर पर नहीं हो रहा था।

तेहरान मेरे देखते देखते बहुत बढ गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद वह एक लाख से कुछ ही अधिक का पुराने ढंग का नगर था। उसकी गलिया तग और अधेरी थीं। चौड़े रास्तों को ही सडक कहा जाता था, पक्की सडकों का उस समय कहीं पता नहीं था। १९३५ मे जब पहलेपहल मैं तेहरान पहुँचा, तो वह दो लाख से कुछ ऊपर का शहर था। सडकें चौड़ी, सीधी और पक्की हो चुकी थीं। सडकों पर विशेष कर केन्द्रीय स्थानो में आधुनिक ढग की इमारतें खडी थीं। १९३७ की द्वितीय यात्रा मे शहर का आकार काफी बढ गया था, भारत से लौटे मेरे ईरानी मित्र आगा दीमियाद ने अपना मकान शहर के छोर पर बनवाया था, जहा आसपास बहुत सी खाली जगह पडी हुई थी। ७ बरस बाद तीसरी यात्रा मे अब उनका मकान घनी बस्ती के भीतर था, और आबादी

७-८ लाख से ऊपर हो चुकी थी, जिसमें मित्र-शक्तियों की सेनायें और वृद्धि कर रही थीं। यद्यपि अंग्रेजी, अमेरिकन और रूसी सेनाओं के रहने के लिये शहर से बाहर अलग-अलग स्थान नियत थे, किन्तु तो भी सेना का शहर से सम्बन्ध तो था ही। साधारण नहीं तो असाधारण शौकीनी की चीजे खरीदने के लिए सैनिको को वहा जाना पड़ता था। सिनेमा और दूसरी मनोरंजन की सामग्री भी वहीं थी। सड़कों पर अपने-अपने देश की वर्दिया पहिने सैनिक घूमा करते थे।

ऊंचे स्थानों की राजनीति तो यही थी, कि रजाशाह—जिसे नये ईरान का निर्माता कहा जाता है—जर्मन नाजियों का पक्षपाती था। उसने मुल्लाओं की धर्मान्धता के विरुद्ध ईरान के जातीय अभिमान को खड़ा किया। हरेक रजाशाही ईरानी तरुण अरबो और अरबी सस्कृति पर ४ लात लगाकर अपने को कौरोश और दारयोश के आर्यत्व का उत्तराधिकारी मानने लगा। हिटलर के आर्यत्व के प्रचार के पहिले ही रजाशाह ने अपने यहा उसकी ध्वजा गाड दी थी, इसलिये कोई आश्चर्य नहीं, यदि हिटलर की नीति के साथ ईरान ने भी अपनी नीति को जोड दिया। लेकिन यह नीति का जोडना केवल आर्यत्व की भावना के कारण नहीं हुआ। जर्मनी ने जिस तरह यूरोप के प्राय सारे भाग को हडप कर अफ्रीका की ओर पैर फैलाया था, उससे रजाशाह को विश्वास हो गया था, कि अबकी विजय जर्मनी की होगी। इसीलिये उसने उगते सूर्य को नमस्कार करना चाहा। चाहे इंगलैंड और अमेरिका अभी अफ्रीका मे हिटलर के बढाव को न रोक सकते हों, किन्तु रजाशाह की रक्षा के लिए हिटलर की बाहं अभी उतनी बडी नहीं थी, इसीलिये एक ही झोंक मे मित्र-शक्तियों की सेनाओं ने ईरान को अपने अधीन कर लिया, रजाशाह को वन्दी बना उसे दक्षिण-अफ्रीका भेज दिया। रजाशाह ने एक साधारण तुर्क-परिवार से बढकर एक राजवश की स्थापना की, इसलिये उसका गद्दी से वचित होना कोई बडी बात नहीं थी, लेकिन उसका लडका (वर्तमानशाह) तो शाहजादा था। हिटलर को हराने के लिये रूस की सहायता की आवश्यकता भलेही मालूम होती हो, किन्तु इगलैंड और अमेरिका रूसी राजव्यवस्था को छूत की बीमारी समझते थे। जिस समय जर्मन सेना रूस के भीतर बढ

रही थी, उस समय रूस इस स्थिति में नहीं था, कि अपनी किसी बात के लिये जिद करे। ब्रिटिश तथा अमेरिकन साम्राज्यवादी सिर्फ उस समय होती लड़ाई को जीतने की ही फिक्र में नहीं थे, बल्कि युद्ध के बाद के अपने साम्राज्य की भी चिन्ता करते थे। इसलिये वह किसी तरह का भारी हेरफेर नहीं होने देना चाहते थे। इस प्रकार रजाशाह युद्ध की भेंट हुआ, किन्तु उसका राजवंश बचा दिया गया।

तेहरान की सड़कों पर सैकड़ो की तादाद में घूमते इन विदेशी सैनिकों को देखकर मालूम हो जाता था, कि ईरान अपने वश में नहीं है। लेकिन जहा तक रोज-रोज के शासन का सम्बन्ध था, वह ईरानियो के ही हाथ में था। रजाशाह की हकूमत एक तानाशाही या आभिजात्य तानाशाही हकूमत थी। उसमे साधारण जनता या साधारण बुद्धिजीवियों को अपनी आवाज बुलन्द करने का कोई अधिकार अथवा अवसर प्राप्त नहीं था। सारे देश मे खुफिया पुलिस का जाल बिछा हुआ था। ईरानी स्त्री-पुरुष देश के भीतर भी एक जगह से दूसरी जगह जाते गिरफ्तार होके रहते, यदि उनके पास अपने चित्र सहित जावाज (पासपोर्ट) न रहता। एक तरफ रजाशाह ने इस तरह सारे देश को जकड़बन्द कर रखा था— जिससे उसके शत्रुओं का सर्वथा उच्छेद भी नहीं हो गया था–, लेकिन दूसरी ओर वह कभी-कभी अपनी निर्भीकता को भी दिखलाना चाहता था। १९३७ में एक बार मैं सरकारी सचिवालय के पास से जाने वाली सड़क पर जा रहा था, उसी समय एक कपडे के हुडवाली साधारण मोटर पर ड्राइवर के पास बैठे एक आदमी को जाते देखा। तस्वीर देखने से चेहरा परिचित था, इसलिए मुझे संदेह हुआ लेकिन सन्देह की गुन्जाइश नहीं रही, जबकि आसपास और कितने ही लोगों को उधर गौर से देखते तथा "आला हजरत" का नाम लेकर इशारा करते देखा। अब भी जावाज आदि के सम्बन्ध मे रजाशाही कानून का ही पालन हो रहा था, किन्तु युद्ध ने बहुत सी बंधी हुई मुश्कों को खोल दिया था। २०-२० बरस तक जेल मे सड़ के अनेक देश-भक्त बाहर निकल आये थे। सोवियत की सेनायें पास मे मौजूद थीं, जिनमे मजूरो और बुद्धिजीवियों का साहस बढ गया था। उनका

संगठन तूदे (जनता) बहुत मजबूत होता जा रहा था। बुद्धिजीवियों पर उसका काफी प्रभाव था—आज तूदा अवैध संस्था है। साम्यवादी असर को बढ़ते देखकर भी ऐंगलो-अमेरिकन साम्राज्यवादी युद्ध के वक्त उसे दबाने के लिये कुछ नहीं कर सके। युद्ध के बाद उन्होंने ईरान को अपने लिये सर्वथा सुरक्षित बनाना चाहा, लेकिन सोवियत के कारण उन्हें साहस नहीं हो रहा था। ईरानी आजुर्बायजान—काकेशश पर्वतमाला तथा कास्पियन समुद्र के बीच में अवस्थित विशाल आजुर्बायजान का ही एक अंश है। इसका उत्तरी भाग अर्थात् सोवियत आजुरबायजान एक स्वतन्त्र प्रजातन्त्र के तौर पर सामूहिक खेती और उद्योग-धंधों से सम्पन्न सुशिक्षित राष्ट्र हो गया है, जब कि ईरानी आजुरबायजान सब तरह से पिछड़ा हुआ प्रदेश था। युद्ध के समय सोवियत के नागरिकों के साथ साक्षात् सम्पर्क हुआ। उन्होंने देखा कि सोवियत सेना में किस तरह आजुरबायजानी, तुर्कमान, उजबेक, काजार, रूसी या उकरैनी सभी एक समान पूर्णबन्धुता के साथ रहते हैं। इसका असर इन पर पड़ना जरूरी था। ईरानी आजुरबायजान ने स्वतन्त्रता की माग नहीं की, बल्कि अपना स्वायत्त शासन स्थापित कर लिया, जिसे अमेरिका की मदद से ईरानी सरकार ने बड़ी बुरी तरह से दबा दिया। जब देख लिया, कि सोवियत राष्ट्र युद्ध को आगे बढ़ाने का कारण नहीं बन सकता, तो अमेरिका की शह में पड़ कर ईरानी सरकार ने सभी तरह के वामपक्षी संगठनों को नष्ट करने का निश्चय कर लिया। आज जिन संगठनों को लुक-छिप कर ही काम करने का मौका मिलता है, उस समय उन में जान थी।

मित्र-शक्तियों के सैनिकों के सम्बन्ध में ईरानियों की क्या राय थी, इसके बारे में मैं एक ईरानी भद्र महिला की बात सुनाता हूँ। उनके पिता भारत में कई साल से रह रहे थे, और शायद अब भी यहीं हैं। अपनी शिक्षा-दीक्षा से उक्त महिला को अर्ध-भारतीय कहा जा सकता है। वह कह रही थीं; जिस फुट-पाथ पर मैं चल रही हूँ, अगर उसी पर सामने से अमेरिकन या ब्रिटिश सैनिक आता देखूंगी, तो मैं पहिले ही उसे छोड़ कर दूसरी ओर के फुटपाथ से चलने

: अकारण बन्धु :

८ नवम्बर १९४४ की शाम को करीब करीब खाली हाथ मैं ईरान की राजधानी तेहरान में बड़ा आशावान पहुँचा था। सोचा था जल्दी ही सोवियत बीजा मिल जायेगा और मैं लेनिनग्राद पहुँच जाऊंगा। उस वक्त कहा मालूम था, कि ३ जून १९४५ को प्राय सात महीने बाद मैं तेहरान से आगे बढ सकूँगा। तेहरान में जो प्रथम भारतीय मित्र मिले थे, उनका असल नाम तो था अभयचरण, किन्तु वह बने थे अब्दुल्लाह या शुकरुल्लाह अब्बासी। उस गाढ के समय हाथ में बचे कुछ तुमानो मे से भी कितने ही को बात बनाकर ऐंठ लेने से उनके बारे मे कोई निर्णय कर बैठना भारी गलती होगी। उनमें परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का अद्‌भुत सम्मिश्रण था। कभी वह सोलह-कलापूर्ण देवता बन जाते थे और कभी उनका रूप कुटिल शैतान जैसा मालूम होता था। उनके बारे में आगे कहूँगा। पहिली यात्रा के परिचित वृद्ध आगा अमीरअली दीमियाद हमारे उस घर से नज़दीक ही थे, जिसमें कि अब्बासी ने मुझे ले जाकर टिकाया था और जिसके बारे में आगे मालूम हुआ, कि महीनों का बाकी किराया अब मुझे चुकाना पड़ेगा। ९ तारीख को ही दौड़ धूप करने से पता लग गया, कि वीज़ा इतनी जल्दी मिलने वाला नहीं है। उसी दिन दीमियाद साहब से मिल आया था। १० नवम्बर को ४८ घंटा तेहरान में रहने के बाद अब अपनी आर्थिक कठिनाइयां सामने नंगी खडी मालूम हो रही थीं। घबराने से कोई लाभ नहीं था, किन्तु कहीं से भी आशा की किरण दिखलाई नहीं पड़ती थी। मैं १० नवम्बर को सवेरे दीमियाद साहब के घर गया था। वहां एक हसमुख प्रौढ गोरे चहरे वाले पुरुष से मुलाकात हुई। उसकी काली आखों मे एक तरह की विशेष चमक दिखलाई

पड़ती थी, जिससे स्नेह और बुद्धि दोनों का आभास मिलता था। दांगियाट साहब, उनकी लड़की ताहिरा और उक्त सज्जन (मिर्जा महमूद अस्पहानी) से दो घन्टे तक बातचीत करते मैं अपनी सारी चिन्तायें भूल गया था। उन्हीं के साथ में सैयद मुहम्मद अली "दाइउल-इस्लाम" के घर गया। दाइउल-इस्लाम कई सालों से हैदराबाद में रहते थे, जहां रहकर उन्होंने "फरहगे-निजाम" नामक एक फारसी कोश लिखा था। उनकी तीन लड़कियां यद्यपि ईरान के पक्षपात के कारण अपने पितृदेश में आ गई थीं, किन्तु उनमें हिन्दुस्तानियत की बू इतनी अधिक थी, कि वह ईरानी बन जाने के लिये तैयार नहीं थीं। दो बड़ी लड़कियों में एक एम० ए० और दूसरी एम० एस्० सी० थी। छोटी जुनियर कैम्ब्रीज पास थी। पिता का मकान हैदराबाद में भी था, किन्तु वह चाहते थे, अपनी लड़कियों का व्याह ईरानियों से करना। मिर्जा महमूद ईरानी-हिन्दुस्तानी थे, इसलिये वह दामाद बनने के योग्य थे। उनकी हिन्दुस्तानी बीबी मर गई थीं, इसलिए वह शादी करना चाहते थे, किन्तु बडी लड़की से नहीं, जिसे की दोस्त लोग पूरी गो कहते थे। वह सदा नमाज-रोजे रखने वाली भोलीभाली तथा रूप में भी कुछ कम लडकी महमूद को क्यों पसन्द आने लगी? बाकी दोनों में से किसी के साथ विवाह करने को वह तैयार थे, किन्तु पिता अपनी जेठी कन्या को कुमारी रख कर दूसरी का विवाह करने के लिए तैयार नहीं थे। अन्त में उन्हें मझली लड़की का विवाह पहिले करना पडा, और महमूद को भी इच्छा या अनिच्छा से अपनी सौतेली मा की छोटी बहन के साथ निकाह कराना पडा।

उस दिन हम दोनों आठ-दस घन्टे साथ-साथ रहे। आठ-दस घन्टा आदमी के पहिचानने के लिए काफी नहीं है, लेकिन जान पडता है खुलकर बातें करते सुनते एक दूसरे के ऊपर विश्वास करने की भूमिका तैयार हो गई थी। महमूद के पिता बड़े व्यापारी थे। कलकत्ते के अस्पहानी ब्रादर्स के पिता और वह दोनों सगे भाई थे। दोनो का कारबार भी बहुत दिनों तक साझे में था। उनका कारबार विलायत तक था। रुपया कमाने और उड़ाने दोनों में वह बडे बहादुर थे। मदिरा, मदिरेक्षणा के अनन्य साधक थे, जिसके लिये अत्यन्त उपयुक्त स्थान

समझकर बुढापे मे उन्होंने तेहरान का निवास स्वीकार किया था। उडाते-पडाते भी उन्होंने चार-पाच लाख की जायदाद तेहरान नगर मे अपने मरने के समय (१९४३ ई०) छोड़ी थी। लडाई के समय चीनी का भाव बहुत बढ गया, खास कर ईरान में तो वह सोने के मोल बिक रही थी। बूढे सौदागर को इसका आभास पहले ही मिल गया था, और उन्होंने दसियों हजार बोरा चीनी हिन्दुस्तान से मगाली, जिसमें तेरह चौदह लाख रुपये का नफा हो गया। चीनी के बोरे हिन्दुस्तान की सीमा (नोककुडी) में आकर अटके हुए थे, जहा से निकाल लाने के लिये पिता ने कलकत्ते से महमूद को बुलाया। महमूद ने चीनी पार कराई। कह रहे थे, यदि वह चीनी आज रही होती, तो नफा एक करोड का होता। महमूद के तेहरान पहुँचने के पाच मास बाद पिता मर गये। अब उनकी जायदाद को बेचने और उसमें से अपना हिस्सा लेने की समस्या महमूद के सामने थी। उनके सौतेले भाइयों और बहनों की सख्या काफी थी, जिनमें से कुछ भारत मे और कुछ ईरान में थे।

१७ नवम्बर तक हम दोनों का परिचय घनिष्ट मित्रता में परिणत हो गया था। महमूद खुले दिल के आदमी थे, जिसका यह अर्थ नहीं, कि समझ में कसर रखते थे। मेरे भीतर भी उन्होंने कुछ समानता देखी और यह जानने में भी दिक्कत नहीं हुई, कि मैं किस कठिनाई में पड़ा हूँ। मेरे पास दो-तीन तोले सोने, तथा एकाध और चीजें थी, जिनके बेचने की मैं सोच रहा था। इसी समय महमूद ने कहा—चलो फकीरों की झोंपड़ी में, सकोच मत करो। उनके फक्कड स्वभाव से भी मैं परिचित हो चुका था। तेहरान विश्वविद्यालय के समीप ही तिमहले पर दो कोठरिया उन्होंने ले रखी थीं। बहुत मामूली सामान था। एक नौकरानी (रुकैया) थी जो खाना बना दिया करती थी। महमूद नौ बजे दफ्तर चले जाते थे, उन्होंने एक ईरानी सौदागर के साथ कुछ कारबार शुरु किया था। मैं या तो वीजा के लिए कोशिश करने ब्रिटिश तथा सोवियत-दूतावास का चक्कर लगाता, या कहीं से कुछ पुस्तकें पैदा करके पढता। महमूद के आने पर कभी हम दीमियाद साहब के यहा जाते और कभी टाइउल

इस्लाम के यहां। उनकी सौतेली मां और पिता के घर भी जाते थे। उस समय युद्ध के कारण तेहरान में भारतीय सेना भी काफी सख्या में मौजूद थी, इसलिये कभी कभी भारतीयों से भी मिलने चले जाते। तेहरान मे अमेरिकन, अंग्रेजी, फ्रेंच और रूसी ही नहीं कुछ हिन्दी फिल्म भी दिखाये जाते थे। हिन्दी फिल्मों मे "पिस्तौलवाली" जैसे बहुत नीचे दर्जे के फिल्म ही अधिक थे।

एक दो सप्ताह तो मुझे यह बहुत बुरा मालूम होता था,– कि मैं क्यों अपने दोस्त पर अपना भार डाल रहा हूँ, किन्तु पीछे उनके स्वभाव से अधिक परिचित होने के बाद वह संकोच जाता रहा। दाइउल्-इस्लाम की ज्येष्ठ कन्या जाहिरा ने एक दिन उस्मानिया विश्वविद्यालय के एम० ए० के अपने निबन्ध को सुनाया। मुलन्टों या पुराने पंडितों जैसी खोज थी—अशोक एकेश्वरवादी था। वह ईरान के अखामनी (दारा) खानदान मे पैदा हुआ था। उसने परसेपोलिस के कारीगरों को बुलाकर भारतवर्ष मे इमारते बनवाई थीं। अशोक का दादा चन्द्रगुप्त ईरान के नगर मूरु से भाग कर आया था, जो कि परसेपोलिस (तख्तेजम्शीद) का ही दूसरा नाम था। अशोक बौद्ध नहीं था। अजन्ता की गुफाये बौद्ध विहार नहीं थे, बल्कि पुलकेशी और दूसरे दक्खिनी राजाओं की चित्रशालायें हैं, जिनमें उनकी वास्तविक जीवनी और इतिहास लिखा हुआ है। उनका बुद्ध और बौद्ध भिक्षुओं से कोई सम्बन्ध नहीं, बुद्ध ने तो चित्र और मूर्तिया बनानी मना कर दी थीं, फिर बौद्ध भिक्षु इन्हें कैसे बना सकते थे? यह शृंगारी मूर्तिया और चित्र बौद्ध भिक्षुओं के बनाये कभी नहीं हो सकते। मैंने बड़े धैर्य से जाहिरा खानम् के निबन्ध को सुना। मुझे आश्चर्य होता था, उसमानिया विश्वविद्यालय के उस प्रोफेसर के ऊपर, जिसकी देखरेख में यह निबन्ध लिखा गया।

दाइउल् इस्लाम साहेब अरबी-फारसी ही नहीं, संस्कृत भी काफी जानते थे। वह तेहरान विश्वविद्यालय में संस्कृत पढा सकते थे, किन्तु "धोबी बस के का करे, दीगम्बर के गाव" वाली कहावत थी। उनके पास भी काफी समय था, मेरे पास भी कोई काम नहीं था और महमूद को भी थोड़ा ही काम था।

इसलिये हर दूसरे-तीसरे हम लोग दाइउल्-इस्लाम के यहा पहुँच जाते थे। अभी भी लोग महमूद से निराश नहीं थे। महमूद की बीवी मर चुकी थीं, किन्तु उनके बच्चे कलकत्ते में थे, जिनसे पिता का काफी प्रेम था। वह विवाह करने के लिये पहिले एक परी की आँखों के शिकार हुये। उसने भी कई महीने उन्हे अपने प्रेम-पाश में बाँध रखा, किन्तु उसके मा-बाप राजी नहीं हुये। लाचार हो उसे उनकी आज्ञा के सामने झुकना पडा। अब महमूद के सामने पाँच लड़कियाँ थीं। ताहिरा को वह ज्यादा पसंद करते, किन्तु मेरे आने पर वह समझने लगे, कि वह स्वतत्र प्रकृति की नारी है, उससे नहीं निभेगी। जाहिरा को वह कहते थे—यह काठ का कुन्दा है, जिसे नमाज पढने से ही फुर्सत नहीं। हमारी उसके साथ सवेदना थी क्योंकि वह पैंतीस साल की हो चुकी थी। उसका एक ईरानी चचेरा भाई, जो बढई का काम करता था, विवाह करने के लिए तैयार था, किन्तु जाहिरा ने उसे इन्कार कर दिया। मझली सिद्दीका (एम. एस सी.) शुद्ध ईरानी श्वेत रक्त को चाहती थी, और पिता तो "वडी लड़की की शादी हुए बिना उसकी शादी कैसे करें" का बहाना कर देते थे। सौतेली मां की छोटी बहन पढी-लिखी नहीं थी, किन्तु अठारह वर्षीया सुन्दरी गोरी थी। महमूद का ख्याल उस पर नहीं जाता था। क्योंकि सौतेली मा के परिवार पर उनका विश्वास नहीं था, बयालीस तथा अठारह बरस के अंतर का भी ख्याल आता था। मैं बाज वक्त कह देता था– कि आदर्श पत्नी तो जाहिरा ही हो सकती है। किन्तु जब तक दूसरी नवतरुणिया हैं, तब तक इस शुष्क चिरतरुणी को कौन पूछेगा ? दाइउल्-इस्लाम के पडोस में एक और सुशिक्षित सस्कृत महिला थी जिसे मधुश्राविणी काव्यमयी सुन्दरी कहा जा सकता था, किन्तु उनका सम्बन्ध हुआ था ऐसे आदमी के साथ जिसे देखकर महमूद आश्चर्य करते थे। मैंने कहा—अल्लामिया अपने गदहों के सामने अंगूर फेंकता है, इसमें हमारा तुम्हारा क्या ?

मेरे आने के महीने भर बाद महमूद की सौतेली मां से सुलह हो गई। यद्यपि वह चाहते थे, कि भाइयो की सहायता करें, किन्तु वह जायदाद के

सम्बन्ध में चाल चल रहे थे। फिर उनको क्या पडी थी, खामख्वाह परदेश में आकर झगडा मोल लेते? सुलह का मतलब था– अब शादी इज्जत से होगी। वह मानते थे– कि वह सुन्दर तरुणी है, शिक्षित न होने पर भी और गुण उसमें हो सकते हैं, किन्तु वह शीराज के उसके खानदान पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं थे। लेकिन उनके पिता आगा हाशिम अस्पहानी भी तो उसी खानदान में शादी कर चुके थे।

दिसम्बर के अन्त तक मैं आर्थिक तौर से अब निश्चिन्त हो चुका था। मेरे मित्र सरदार पृथ्वीसिंह ने बम्बई से हजार रुपये भेज दिये थे, उधर प्रकाशक से भी ५०० रुपये आ गये थे। जरूरत पडने पर और भी रुपये आ सकते थे। जब सुलह हो चुकी, और छोटी बहन के साथ ब्याह की भी बात तै सी हो चुकी, तो सौतेली मा जोर देने लगी– कि यहीं चले आओ, क्यों अलग रह कर अपना खर्च बढाते हो। १९ दिसम्बर को चारों ओर बरफ फैली हुई थी। आठ-नौ बजे तक हिमवर्षा जारी थी। उसी दिन ग्यारह बजे सामान घोडागाडी पर लदवा कर हम नाजिमुत्तुज्जार आगा हाशिम अली अस्पहानी के घर पर चले आये। अब से पांच महीने के लिये इस्मत खानम् का यह मकान मेरा भी निवासस्थान बन गया। महमूद अकेले रहते थे, तब तो उनके स्वभाव से परिचित हो जाने के कारण संकोच का कारण नहीं था, किन्तु यहा मेरे सामने फिर समस्या आई—अनिश्चित काल के लिये कैसे मेहमान बनूं। मेरे पास अब पैसा भी था, किन्तु भारतीय शिष्टाचार की तरह पैसा देने वाला मेहमान रखना वहा भी शान के खिलाफ समझा जाता है। भवितव्यता के सामने सिर झुकाना पडा। मैं इस्मत खानम् की मेहमानी का प्रतिशोध रुपये पैसे मे नहीं कर सकता था। वस्तुत वह घर थोडे ही दिनों बाद मेरा घर हो गया। घर के सभी लोगो के बारे मे तो नही कहा जा सकता, किन्तु गृहस्वामिनी का बर्ताव बहुत ही गम्भीर और मधुर था। इन पाच महीनों में एक ईरानी मध्यमवर्गीय परिवार में चौबीसों घन्टे रहकर मैंने उन्हें बहुत नजदीक से देखा। इस्मत खानम् सितार बहुत सुन्दर बजाती थीं, जिसमे

प्राय. रोज ही रात के भोजन के बाद हमारा मनोरंजन हुआ करता था। महमूद जब इज्जत के साथ विवाह करने को तैयार हो गये, तो फिर उनकी बडी बहन ने सौदा करना शुरु किया। यह कोई बुरी बात नहीं कही जा सकती। जिस देश में पुरुष किसी भी वक्त स्त्री को तलाक़ दे सकता है, वहा यदि आर्थिक सुरक्षा की चिन्ता की जाये, तो क्या आश्चर्य है? दिसंबर के अन्त में मोहर्रम का पवित्र महीना आ गया। ईरान शीया देश है। वहां इमाम हुसैन की शहादत (वीरगति) का बहुत मातम मनाया जाता है। २५ दिसम्बर को उस साल इमाम हुसैन का "रोजेक़त्ल" और ईसा का भी जन्म-दिन था। नवीन ईरान मे अब मोहर्रम के लिये स्त्रियों का "गिरिया" (रोदन) और पुरुषों की 'सीनाज़नी" (छाती पीटना) अब बन्द कर दिया गया है। खानम् के घर में एक दिन एक मुल्ला १५ मिनट के लिए आया। उसने कुछ मर्सिया गाये और खानम् ने कपडे मे मुंह छिपा कर रोदन किया।

अब मेरी दिनचर्या थी। सबेरे सात-साढ़े-सात बजे उठ कर हाथ मुँह धोना, हजामत से निबट, फिर परिवार के साथ पनीर-मक्खन-रोटी और तीन गिलास बिना दूध की मीठी चाय पीना। आठ-नौ बजे के करीब में उस कमरे में पहुंच जाता था, जहा "कुर्सी" के नीचे परिवार के लोग बैठे रहते थे। सरदी के कारण मकान को गरम करने की आवश्यक्ता होती है, किन्तु मध्य-एसिया, अफ़गानिस्तान और ईरान में लकडी दुर्लभ है, इसलिये लोगों ने "कुर्सी" का तरीका निकाला। गज भर लम्बी गज भर चौडी हाथ भर ऊँची चौकी "कुर्सी" है, जिसके ऊपर चौकी से दो दो हाथ बाहर निकली मोटी रजाई रख दी जाती है। चौकी के नीचे अंगीठी में कोयले की आग रहती है, जिससे कुर्सी गरम हो जाती है। लोग उसी चौकी के चारों ओर मसनद के सहारे बैठकर छाती तक शरीर को रजाई के नीचे डुबा देते हैं। बहुत कम खर्च मे गरम रखने का यह सुन्दर तरीका है। कुर्सी के नीचे बैठे बैठे पढना या गप्पे मारना यही काम था। मेरे लिये तो इन गप्पो से भी बहुत लाभ था, क्योंकि वहा केवल फ़ारसी में ही बात हो सकती थी। एक बजे रसोईदारिन भोजन तैयार करके

खाती थी, जिसमें तंदूर की मोटी रोटियाँ, चावल या पुलाव, गोश्त या भाजी, कुछ हरी पत्तियाँ, सिरका या सिरकावाली प्याज मुख्य तौर से रहते थे। यदि बाहर जाना नहीं होता, तो मध्यान्ह भोजन के बाद, फिर वहीं पढना लेखना या बाते करना; तीन-चार बजे फिर दो-तीन गिलास मीठी चाय पीने को मिलती। शाम को सात-आठ बजे रात्रि-भोजन होता था, जिसमें चावल, मास, सबजी, सिरका, रोटी, कलवासा (सौसेज) मुख्य होता। भोजन के बाद पोर्तगाल (मुसंबी) या कोई दूसरा फल भी रहता। फिर ग्यारह बारह बजे रात तक संगीत या गप छिडी रहती। महमूद के साथ मेरा और मेरे साथ महमूद का दिल बहलाव ही नहीं होता था, बल्कि हम एक दूसरे की चिन्ता में सहायक होते थे। ब्याह का सौदा कभी कभी कड़ा रुख ले लेता, उस वक्त महमूद बहुत घबडा उठते।

जनवरी के अन्त में अभी भी सरदी काफी थी। ईरानी बच्चे सूर्य देवी से प्रार्थना करते थे—

खुर्शीदख़ानम् आफ़ताब कुन्। यक्सेर बिरंज तूये-आब कुन्।
(सूर्य देवी धूप कर। एक सेर चावल पानी में डाल)
मा बच्चहाये-गुर्ग एम्। अज- सरमाय मी-मुरेम।
(हम बच्चे भेडिया के हैं। सरदी से मर रहे हैं)

लेकिन खुर्शीद खानम् में अभी इतनी शक्ति नहीं थी, कि बच्चों को आफ़ताब (धूप) दे सके। २५ मार्च को भी चिनार, सफेदे, अंगूर आदि में कहीं पत्तों का चिन्ह नहीं था। ६ अप्रैल को सफेदे के वृक्षों में अभी पत्ते कलियों की शक्ल में फूट रहे थे। हा कुछ दूसरे वृक्षों में हरे पत्ते निकल आये थे।

एक दिन इस्मत खानम् महमूद के नमाज न पढने की शिकायत कर रही थीं—"गुनाह अस्त, बराय हर मुसलमान नमाज लाजिम अस्त" (पाप है, हर एक मुसलमान के लिए नमाज पढना कर्त्तव्य है)। मेरे मुह से निकल गया:— "हर कसे कि शराब न मीख़ुरद, बराय उन नमाज माफ अस्त।"

(जो कोई शराब नहीं पीता, उसके लिये नमाज माफ है) । मुझे नहीं मालूम था कि मैंने खानम् के किसी मर्म-स्थान पर चोट पहुँचाई । उन्होंने बड़े उत्तेजित स्वर में कहा—"तू पैगम्बर हस्ती," (तुम पैगम्बर हो?) उस वक्त ३४-३५ वर्षीया सुन्दरी का तमतमाता चेहरा देखने लायक था । अभी सवेरे की चाय का वक्त था, ओठो पर अधर राग नहीं चढा था, न गालों पर पौडर और रुज ने अपना रग जमाया था । गरम लोहे मे घु घराले किये बालों में कघी नहीं फिरी थी और न मोती की दुलडी तथा हीरे की गुच्छेदार सेफटीपिन सीने पर रखी गई थी । चेहरा फीका होना ही था, क्योंकि उसे चमकाने के लिये अपेक्षित बनाव-शृगार चाय पीने के बाद की चीज थी । खानम् की जलाप्लुत बडी बडी आखों में सुर्खी उतर आई थी । उनके उत्तेजित स्वर मे कुछ क्रोध का भी भास हो रहा था । उनको कहना चाहिये था, "शुमा (आप)" । और मैं खुदा नहीं था, क्योंकि नमाज माफ करने का काम खुदा का ही है । फिर वह संभल कर नरमी से कहने लगी—"दुनिया मे इस्लाम सबसे अच्छा और अन्तिम मजहब है ।" फिर क्या क्या खुदा और इस्लाम पर उपदेश देने लगी । महमूद और आगा दीमियाद जानते थे, कि मैं वज्र नास्तिक हूं, किन्तु खानम् को यह बात मालूम नहीं थी । वह जानती थी, कि मैं शराब नहीं पीता, बुद्ध मजहब का मानने वाला हूं । बुद्ध मजहब क्या है, इसका भी उन्हें पता नहीं था । मुझे तो अपनी असावधानी पर अफसोस हो रहा था । छैलछबीली इस्मतखानम् शराब की बहुत शौकीन थीं, किन्तु नमाज प्राय. रोज एक-दो बार पढ लेती थीं । नमाज पढने वाले के लिये शराब पीना माफ है, यदि यह कहता तो वह पसन्द करतीं । वैसे वह बड़े कोमल हृदय की महिला थीं । इमाम हुसैन के सम्बन्ध मे मर्सिया सुनते बहुत रोया करती थीं । जब मैंने अन्त मे किसी दूसरी ही जगह जाकर रहने का निश्चय कर लिया—पाच महीने रहने के बाद भी अभी बीजा का कहीं ठौर-ठिकाना नहीं था— तो वह बडी चिन्तित हो गई और जरासा ज्वर आजाने पर अपनी नौकरानी को सेवा के लिये भेजा ।

———

: दो दोस्त :

दो दोस्त से मतलब यह नहीं कि वह आपस में दोस्त थे। शायद मेरे मिलने से पहले दोनों ने एक दूसरे को देखा भी नहीं था। दोनो का जन्म बंगाल में हुआ था, एक का कलकत्ता में और दूसरे की तीन-चार पीढियों की कब्रें हुगली में कहीं पर हैं। सोलह-सत्रह साल से फोटो कैमरा मेरा अभिन्न सहचर हो गया था, किन्तु १९४४ के अक्तूबर में जब हिन्दुस्तान की सीमा पार करने लगा, तो कैमरे को क्वेटा में ही छोड़ जाना पड़ा। इस प्रकार मैं तीसरी बार ईरान में अबके बिना कैमरे ही के दाखिल हुआ था। और अपने इन दोनों दोस्तों का चित्र नहीं ले सका।

(१) दीमियाद—दोनों में एक सत्तर के करीब पहुंच रहा था, और दूसरा तीस साल से कुछ ही ऊपर। बूढे आगा अमीरअली दीमियाद सौजन्य और सरलता की साक्षात् मूर्ति थे, किन्तु साथ ही कुछ आदर्शवादी टाइप के आदमी थे, जिसके कारण बुढ़ापे में हिन्दुस्तान को छोड़ कर उन्हें ईरान जाना पड़ा। माना कि वह मूलतः ईरानी थे, यही नहीं अपने ईरानीपन को जागृत रखने की उनके खानदान में कोशिश की गई थी। कह नहीं सकता, उनके घर में हिन्दुस्तान में भी फारसी बोली जाती थी या नहीं। स्वयं दीमियाद साहेब तो फारसी ऐसे बोलते थे, जैसे कि वह उनकी मातृभाषा हो। उनकी पत्नी बेगम दीमियाद उम्र में उनसे बीस-बाईस बरस कम मालूम होती थीं। हो सकता है दोनों की आयु में इतना अन्तर न हो, और अपनी काठी के कारण खानम् दीमियाद कम उम्र की लगती हों। वह भी हिन्दुस्तान ही में पैदा हुई थीं। मैं अब उनके यहा जाता, तो वह कोशिश करतीं कि कोई

हिन्दुस्तानी खाना खिलाये। एक दिन हँसी हँसी मे कह रही थीं—मेरा तो अवध के एक ताल्लुकदार से विवाह होने वाला था। तरुणाई में निश्चय ही वह सुन्दरी होंगी। दीमियाद-दम्पती की संतानें एक लडका और एक लड़की थीं, जिनकी नसों में माता-पिता से अधिक ईरानी खून जोश मार रहा था। जब उन्होंने सुना और पढा कि रजाशाह पहलवी नवीन ईरान का निर्माण कर रहा है, सासानियों और अखामनियों का ईरान फिर से प्रकट हो रहा है, तो उन्हें भारत में रहना पसन्द नहीं आया। संतान के आग्रह के कारण दीमियाद साहेब अपनी संपत्ति को बेच-बाच कर तेहरान चले गये। वह व्यवहार-कुशल थे, इस पर मेरा कम विश्वास है, किन्तु उन्होंने यह अच्छा ही किया, जो तेहरान में अपने लिये एक घर बनवा लिया। अपनी पहिली ईरान-यात्रा (१९३५) में जब मैं उनसे मिला, तो अभी घर पूरा नहीं बन सका था। उस समय घर के आसपास उजाड़ भूमि पड़ी हुई थी। लेकिन नौ बरस बाद अब तेहरान बहुत बढ चुका था और यहा एक अच्छा खासा मोहल्ला आबाद हो गया था। अब इस दुनिया में आगा दीमियाद के होने की आशा नहीं है, और यदि उनका खुदा ठीक है, तो वह उसके बहिश्त मे कहीं अच्छे घर मे होगे, जो उनके तेहरान वाले घर से बुरा तो नहीं होगा। मेरा उनके साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था। आश्चर्य तो यह, कि हम दोनों के विचारो मे जमीन-आसमान का अन्तर था। उन्हें कट्टर मुसलमान तो नही कहना चाहिये, क्योंकि उनमें असहिष्णुता छू नहीं गई थी, लेकिन पक्के खुदा के बन्दे थे। बुढापे मे उनके लिये चलना फिरना आसान काम नहीं था, तो भी शायद ही कभी नमाज नागा होती हो। उधर मै खुदा को सीधे फटकारता था। वह जानते थे कि यदि खुदा मुझे मिल जाता, तो मैं उसके मुँह पर भी चार सुनाये बिना नहीं रहता। तब भी वह मुझे अपना सगा सा समझते थे। जब सात महीने की प्रतीक्षा के बाद मैं रूस जाने लगा था, तो उन्होंने एक लिफाफा मेरे हाथ मे चुपके मे रख दिया, उसमे अंग्रेजी मे लिखी एक कविता थी, जिसे दीमियाद साहेब ने स्वयं रचा था, उसमें मेरे बारे में कसीदाख्वानी की गई थी।

दीमियाद साहेब सुपठित और सुसंस्कृत पुरुष थे। उनके पिता एक अच्छे डाक्टर थे, अच्छी सरकारी नौकरी में थे। पुत्र को विलायत भेजा था कि वहां से बैरिस्टर होकर आयेंगे, लेकिन पिता की मृत्यु के बाद लडके को पढाई बीच ही में छोड़ कर चला आना पडा। अधिकतर उनका सम्बन्ध कलकत्ता से था, किन्तु अन्त में वह लखनऊ में चले आये थे। फारसी तो उनके घर की भाषा थी। लखनऊ शिया कालेज में रहते ख्याल आया, कि उर्दू मे एम ए. कर लें। लखनऊ या आगरा युनिवर्सिटी से एम० ए० करना मुश्किल था। दीमियाद साहेब कह रहे थे—मैंने सोचा कि कलकत्ता अच्छा रहेगा। पढा तो था तेरह-बाईस ही, लेकिन परीक्षार्थी कम थे, अध्यापक को उनका उत्साह बढाना था, अन्यथा परीक्षार्थियों के अभाव मे कहीं उनके अपने सिर पर आफत न आवे। खैर, दीमियाद साहेब पास हो गये और कॉलेज छोडने के शायद बीस बरस बाद। एक दिन कह रहे थे—कमबख्त ट्रेन ने धोखा दे दिया, नही तो बैरिस्टर न सही, पी० एच्० डी० तो बन ही जाता। जर्मनी या हालैंड के किसी शहर का नाम बतला रहे थे, जहा पी० एच्० डी० की डिग्री डाकखाने के टिकट की तरह सुलभ थी।

नौ साल पहले मिलने पर दीमियाद साहेब मे अभी पूरी क्रिया-शक्ति थी। उस वक्त मैं उनके घर से दो मील पर ठहरा हुआ था, और वह वहा मेरे पास सस्कृत पढने आते थे। बगला बहुत अच्छी बोलते थे, सस्कृत भी कभी स्कूल में थोड़ी सी सीखी थी। तेहरान विश्वविद्यालय को ख्याल हुआ था, कि संस्कृत को भी पाठ्य विषय बनाया जाय, उसी सिलसिले मे दीमियाद साहेब को शौक हुआ कि सस्कृत थोड़ी-सी सीख लें। लेकिन अब वह अशक्त हो गये थे। आखों पर भी बुढापे का असर था, स्मृति भी जवाब देती जा रही थी, इन्द्रिया शिथिल थीं, यहा तक कि लघुशका का रोकना भी अपने हाथ में नहीं था। तेहरान युद्ध के दिनों में दुनिया के बहुत महगे स्थानो मे था। वहां वह किस तरह गुजर कर रहे थे, यह समझना भी मुश्किल था। बेटे का विवाह हो गया था। अग्रेजी पढने के कारण उसे एंग्लो-ईरानियन पेट्रोल

कम्पनी में नौकरी मिल गई थी, जिससे वह मुश्किल से अपना गुजारा कर पाता था, और पिता से दूर कहीं रहता था। लड़की ताहिरा ने लखनऊ विश्वविद्यालय से बी० ए० कर लिया था, किन्तु तेहरान में जाकर, उसे फिर से पढ़ना पड़ा, क्योंकि यहां सब कुछ फारसी में पढ़ा जाता था। पिता ने यदि नास्तिक राहुल के लिये कविता की थी, तो पुत्री ने अपने बचपन की सुपरिचिता "रूदगोमती" (गोमती नदी) पर फ़ारसी मे एक कविता की थी, जिसे मैंने वहा के एक ईरानी पत्र में पढ़ा था। पिता को खींच कर ईरान पहुँचाने में बेटा-बेटी का बहुत हाथ था। खैर, बेटा तो अब वहीं विवाह करके ईरान का बन गया था, किन्तु ताहिरा ईरान में दस बरस के करीब रह कर इसी निश्चय पर पहुँची थीं—मैं ईरान में शादी नहीं करूँगी। मेरे रहते समय ही हैदराबाद के एक केप्टेन से उनकी शादी हो गई। रह रह कर मेरा ध्यान आगा दीमियाद की ओर जाता था। उनका जीवन बचपन से प्रौढावस्था तक कितना सुखमय रहा, यद्यपि उसका यह अर्थ नहीं, कि वह विलासमय भी था। आज जीवन की संध्या में वह अपने को निस्सहाय पा रहे थे। पत्नी को उपेक्षा करने का दोष नहीं दिया जा सकना, किन्तु जब अमीरी जीवन मे पली एक महिला को पीर-बावर्ची भिश्ती-खर सबका काम करना पड़े, तो कुछ नीरसता तो आ ही जाती है। दीमियाद साहेब के कपड़े कुछ अच्छे नहीं थे, वह जीवन भर बड़े आत्मसम्मान वाले व्यक्ति थे, इस वक्त अब वह ऐसे ही मित्रो मे मिलना चाहते थे, जो कपड़ों को नहीं बल्कि हृदय को देखे।

(२) अब्बासी—वह हमारे दूसरे दोस्त थे, जिनका परिचय तेहरान पहुँचने के दूसरे ही दिन (६ नवम्बर १६४४) हो गया था। अंग्रेजी दूतावास मे रिजवी महाशय ने अब्बासी का परिचय कराया। वहां से हम दोनों साथ बाहर निकले। न उनको कोई काम था, न मुझे, इसलिये बात करते कुछ दूर गये और इतने ही में अब्बासी मेरे गहरे दोस्त हो गये। मेरे पूछने पर उन्होंने कहा, कि पत्नी अपनी मा के साथ रहती है, और आजकल मै भी वहीं रहता हूँ। यह कमरा खाली पड़ा हुआ है। जिसका किराया तीस रुपया

मासिक है। होटल वाले को रात भर रहने के लिए १३) रु० (उस समय ईरानी तुमान और रुपया एक ही भाव था) किराया दे टेक्सी पर सामान रख स्वायावान फरिश्ता के उस मकान में चला आया। कमरा बुरा नहीं कहा जा सक्ता। मैंने इतमीनान की सास ली। तीसरे दिन से मैंने अपना खर्च घटा दिया, और सूखी रोटी पनीर और थोडे से मक्खन से काम चलाना चाहा, लेकिन उसी दिन बैंक से भुनाकर आये १२८ तुमान मे से ५० तुमान उधार और १५ तुमान अपना कर्ज ले लिया। मेरे पास रह गये ६३ तुमान। उस वक्त यह नहीं जानता था, कि जेब में ६३ तुमान और सामने ७ महीने खडे हैं। एक ही दो दिन बाद मालूम हुआ, अब्बासी ने किराया भी बाकी रखा हैं। मुझे हँसी भी आने लगी और साथ ही मीठी मीठी टीस भी—रोजा बख्शवाने गये और नमाज गले पडी। अब्बासी पर कुछ झुंझलाया, लेकिन कुछ ही, क्योंकि यदि अब्बासी ने ५० तुमान नहीं भी लिया होता, तब भी सामने का अंधेरा उजाला नहीं हो जाता।

अब्बासी का यह रूप उस समय कुछ अच्छा तो नहीं लगा।

अब्बासी को कभी आदमी ईमानदारी से पूरा शैतान कह सकता था। क्योंकि वह अधेरे मे छलांग मारने वाला तरुण था। जिस वक्त छलाग मारने की धुन में रहता, उस वक्त उसको परवाह नहीं होती, कि उसके धक्के से कोई दूसरा भी अंधेरी खदक में ढकेला जा रहा है। अभी उसकी आयु २०—२२ से अधिक नहीं होगी, किन्तु इतने ही दिनो की अपनी जीवनी को अगर वह लिख डाले, तो वह बहुत रोमाचक होगी। हां, अब्बासी की बातों मे से कितनी सच्ची हैं, कितनी झूठी, इसका पता लगाना किसी आदमी के लिये मुश्किल था, तो भी यदि ६—७ महीने तक सपर्क रहा हो, तो झूठ सच की परख आदमी कर सकता था। उसका शैतान होना तस्वीर का एक ही पहलू था, दूसरे पहलू मे वह पूरा देवता भी था। पैसे-कौडी का लोभ उसे छू नहीं गया था। यदि वह "परद्रव्येषु लोष्ठवत्" था, तो अपने धन को भी ढले से बढकर नहीं समझता था। और तक्लीफ या बीमारी मे पडे अपने परिचित या मित्र की सेवा मे

वह एक पैर पर खड़ा रह सकता था। अब्बासी यह उसका अपना नाम नहीं था। वह घोस (बगाली) था। फौज में भरती होकर अस्पताली सेना के साथ जमादार हो तेहरान चला गया। उस समय लड़ाई के जमाने में माया बही जा रही थी, बस हाथ डालकर बटोरने की युक्ति आनी चाहिये थी। अस्पताली दवायें चोर बाजार मे सोने के मोल बिक रही थीं, चीजों के खरीदने मे बनियों से मोटी रकम मिल सकती थी। अब्बासी ने इस प्रथा को चलाया हो, यह बात नहीं थी। वह तो उस सारी मशीन में व्याप्त हो गई थी, जिसका कि वह पुर्जा था। अब्बासी ने कुछ हजार पैदा किये। उसकी बात पर विश्वास करे, तो वह रकम लाख मे कुछ ही कम होगी। किन्तु १०-२० हजार तो जरूर ही उसने पैदा किये और उसको उसी तरह उदारतापूर्वक तेहरान मे खर्च किया। उसी समय तेहरान की किसी तरुणी से उसका प्रेम हो गया। अब्बासी ने उसके नाम एक मकान भी खरीदवा दिया, कुछ और रुपये भी दे दिये। लेकिन इस तरह ज्यादा दिन तक चल न सका। खैरियत यही हुई, कि पल्टन से उसका नाम काट दिया गया, और वह खुशी खुशी कलकत्ता चला आया। कलकत्ता बैठे बैठे फिर सिरदर्द पैदा हुआ, क्योंकि उसको एक लड़की हुई थी, और पत्नी भी प्रेम की सौगन्ध खाती थी। अब्बासी ने ईरान जाकर पत्नी और पुत्री को लाने का निश्चय किया, लेकिन बोस रहते वह अपने विवाह को वैध मनवा नहीं सकता था। कलकत्ता मे वह मुसलमान बना, मुसलमान होने की सूचना गजेट में छपवाई। नाम पड़ा अब्बासी। इसी नाम से उसने फिर पासपोर्ट बनवाया और पाच-सात सौ रुपये, कुछ कपड़े-लत्ते और दूसरे सामान के साथ तेहरान पहुँच गया। ईरानी पत्नी कभी जाने के लिये तैयार बतलाती, और कभी मुकर जाती। इसी धूप-छाह में उसके तीन-चार महीने गुजर गये थे। पास का पैसा खर्च हो चुका था। कपडे-लत्ते मे से बेच बेच कर किसी तरह काम चलाता था। बेचारा मकान का किराया कहा से देता! यह समय था, जब मैं भी किस्मत का मारा तेहरान में आ फँसा।

अब अब्बासी के जीवन को जरा और पीछे देखिये। जैसा कि मैंने

कहा, अब्बासी की बातों में से झूठ से सच को अलग करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था, इसलिये यह नहीं कह सकता, कि सत्य समझ कर जिसे मैंने लिखा, उसमें झूठ का कुछ भी अंश नहीं होगा। बोस मैट्रिक पास कर कलकत्ता के किसी कालेज मे पढ रहा था, लेकिन उसकी सैलानी तबियत ने पुस्तकों मे मन नही लगने दिया। खाते-पीते घर का लडका था। घर से कुछ रुपये उडाये और सिंगापुर जा पहुँचा। शारीरिक परिश्रम के काम के लिये तो अब्बासी उतना तैयार नहीं था, किन्तु कोई काम कर लेना उसके लिये कठिन नहीं था। अब्बासी को चुप्पा नहीं कह सकते, किन्तु वह बहुत बातूनी भी नही था। उसके चेहरे पर एक सहज भोलापन छाया रहता। उदारता के विराट प्रदर्शन में उसके लिये यदि कोई रुकावट हो सकती थी, तो हाथ का खाली होना। सिंगापुर में कुछ महीने रहने के बाद उसने आगे का रास्ता लिया और सिंदबाद जहाजी की तरह दक्षिण-पूर्वी एसिया में चक्कर मारने लगा। जावा भी गया, फिलिपाइन भी, हांगकांग भी गया शांघै भी और शायद हिंदूचीन और स्याम भी। कभी किसी दूकान में सेल्समेन रहा, कभी फेरीवाला बना, कभी कहीं क्लर्की कर ली। जब हाथ खुला हो और अच्छे-बुरे दोस्तों की सख्या काफी हो, तो खर्च करने के लिये वैध तरीके से ही पैसा कमाने से कैसे काम चल सकता था? सेल्समेन रहते वक्त उसने दो जगह गहरी रकम उड़ाई और कुछ दिनों मे उसे खर्च भी कर डाला। लडाई से पहिले के पाच-सात सालों मे जब वह सिंदबाद जहाजी बना हुआ था, कितनी ही बार हजारों उसके हाथ में आये और खर्च होते रहे। दुनिया का कड़वा-मीठा काफी अनुभव उसको हो गया था। लडाई शुरु होते प्राय खाली हाथ वह कलकत्ता लौटा। लेकिन वह एक जगह कहा ठहरने वाला था? फौज मे आदमियों की बडी माग थी। वह भरती होकर लखनऊ चला आया, जहा कुछ दिनों तक कवायद-परेड सीखने के बाद तेहरान भेज दिया गया।

मैंने जब अब्बासी का किस्सा सुना, तो सोचने लगा—इस मजनू की लैला कोई साधारण नारी नही होगी, वह अवश्य कोई कोहकाफ़ की परी होगी।

लेकिन अब्बासी से परिचय के हफ्ते के भीतर ही एक दिन खानम् अब्बासी सडक पर मिली। अब्बासी ने परिचय कराया। मैं दग रह गया—ऐसी वदसूरत औरत पर भी मरने वाले मजनू मिल सकते हैं और ऐसा मजनू जो पचीसों घाट का पानी पी चुका है। खानम् का मुँह शरीर की अपेक्षा अधिक वडा और कुप्पे की तरह फूला हुआ था, ऊपर से चेचक के दाग ने उसे सिल-वट्टा वना दिया था। रग गोरा था, इसमें कोई सदेह नहीं।

किराया वाकी रहने की वात सुनकर अब्बासी की कृपा द्वारा मिले घर को छोडने के लिए मैं उतावला हो गया और सौभाग्य समझिये, जो दो-तीन दिन ही वाद में अपने नये मिले अकारण बन्धु महमूद के यहा चला गया। अब्बासी से मुझे शिकायत नहीं हुई, वह वरावर जव तव मिलते रहते थे, मुझे यह समझने में कठिनाई होती थी, कि मेरे तेहरान छोड़ने के समय सात महीने वाद भी वह उसी अनिश्चित अवस्था मे कैसे गुजारा कर रहे थे? अब भी उनको आशा थी, कि शायद पत्नी चलने के लिए तैयार हो जाय, लेकिन मुझे विश्वास नहीं था। अब्बासी कलमपेशा वंगाली परिवार के पुत्र थे, इसलिये खरीद-वेच का काम उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं था, नहीं तो तेहरान में भूखे मरने की आवश्यकता नहीं थी। तेहरान-प्रवास के अन्तिम सप्ताहों में मैं अपने मित्र की ससुराल के पास एक होटल में जाकर रहने लगा—अव भारत से मेरे पास पैसा आ चुका था। वहा कुछ ज्वर आ गया। देखभाल का इन्तिजाम न होने से अब्बासी मुझे अपनी ससुराल मे ले गये। एक कमरा था, जिसमें ही उनकी वीवी, सास और एक साली रहती थी। मेरे नहीं नहीं कहने पर भी वह मुझे वहा ले ही गये और उस वक्त रोगी सुश्रषा करने में उनका रूप देखने लायक था। मुझे भी एक अत्यन्त गरीव निम्न मध्यमवर्गीय परिवार को नजदीक से देखने का मौका मिला। उनकी एक साली की शादी कुछ ही हफ्ते पहिले हुई थी, जिसमें मै भी निमन्त्रित हुआ था। अब्बासी ने अपनी सास को वहुत मना किया था, कि ऐसे अफीमची से विवाह मत करो। लेकिन सास वेचारी भी क्या करती? कम से कम एक लडकी का वोझ तो सिर से उतर

रहा था। मेहरी खानम् (अब्बासी की साली) का विवाह हुए दो महीने भी नहीं हुये थे, कि अफीमची पति ने गाली मार शुरु कर दी। २ जून १९४५ को, जब मैंने तेहरान छोड़ा, मेहरी खानम् को तलाक देने की नौबत आ चुकी थी। अब्बासी ने ५० तुमान जिस समय मेरी फाकामस्ती की हालत में लिये थे, उस समय तो कुछ अच्छा नहीं लगा था, लेकिन मैं मानता हूँ, अब्बासी का सौहार्द और सेवा भाव उससे कहीं अधिक मूल्य रखता था।

: ईरानी-ब्याह :

१९४४-४५ के जाड़ों में मुझे सात महीने ईरान की राजधानी तेहरान मे रहना पड़ा। वहा अपने देशभाई किन्तु ईरानजातीय मिर्जा महमूद अकारणबन्धु मे मिल गये, जिनके उपकार को किसी तरह मैं चुका नहीं सकता। इस सारे समय में अधिकतर मैं एक ईरानी मध्यवित्त परिवार मे रहता था, जिसकी स्वामिनी महमूद की सौतेली मां थीं, जिनकी बहन महमूद की भावी पत्नी होने जा रही थी। महमूद के सम्बन्ध से उस परिवार का भी मैं एक व्यक्ति सा बन गया। खानम् तरुणाई में तेहरान की सुन्दरियों मे रही होगी। चालीस बरस के पास पहुँचते हुये भी अभी उनका सौंदर्य बहुत धूमिल नहीं हुआ था। उनकी बडी इच्छा थी कि छोटी बहन इज़्ज़त का व्याह महमूद से हो जाये। शर्तें बडी कडी थीं, कभी व्याह बिल्कुल निश्चित हो जाता और फिर कोई शर्त रास्ते मे आकर सारे निश्चय को तोड़ देती। ९ मार्च (१९४५) को व्याह निश्चित हो गया, निमन्त्रण-पत्र भी छपा कर भेज दिये गये, लेकिन ४ बजे शाम को जब मैं घूम कर लौटा, तो

गाई जाती थी। एक गाने की पहिली कड़ी थी—

खानम् अरूसे। मग ना मीदूनीं की ए?

(श्रीमती दुल्हन, मैं नहीं जानती कौन है?)

आगे की पंक्तियां थीं—

जूजा खरूसे।	मग ना मिदूनीं की ए?	(मुर्गी की बच्ची०)
आगा दामादे।	,,	(श्रीमान वर०)
शाखे शमशादे।	,,	(शमशाद की शाखा)
आगा सरहंगे।	,,	(श्रीमान मेजर०)
रईसे हंगे।	,,	(युद्ध के सरदार०)
आगा सरगुर्दे।	,,	(श्रीमान् कर्नल०)
दिले-मा बुर्दे।	,,	(मेरा मन चुरा ले गये०।

सरहंग दुल्हन के बहनोई और सरगुर्द भी सम्बन्धी थे। कहने की आवश्यकता नहीं, कि इसी तरह वरवधू के जितने भी सगे-सम्बन्धी थे, उनको सबको जोड-जोड कर गीत बढती जाती थी। थोडी देर गीत होकर, फिर केवल साज बजता और दस-बारह बरस की लडकियां अपना नाच दिखाती थीं, जिसमें वर की छोटी बहन शमशी का नाच काफी अच्छा होता था। गाना समाप्त करते वक्त मुँह पर हाथ मारते स्त्रियां तिली-ली-ली की आवाज करती थीं। बंगाल में भी व्याह के वक्त उलू ध्वनि की जाती है। इस ध्वनि का प्रयोजन है शुभअवसर पर भूत-प्रेतों को घर के पास आने न देना।

विवाह के दिन का मुख्य कार्यकलाप स्नान से होता है। दुल्हन के लिये स्नानागार (हम्माम) मे विशेष तैयारी हुई थी। ईरानी आमतौर से अधिक गोरे होते हैं, जिसमें १८ वर्षीया दुल्हन का रंग तो सचमुच ही गुलाबी था, जो सद्य स्नाता का और भी खिल गया था। विवाह के कमरे में ले जाने के लिये आज भी उसे सजाया गया था, किन्तु शय्यागार मे ले जाकर सजाने का काम अगले दिन के लिये रख छोड़ा गया था, जब कि बड़ी दावत और विवाह-महोत्सव मनाया जाने वाला था। आज विवाह के समय दुल्हन (अरूस)

ने सफेद रेशमी लम्बा चोगा पहिना था, और सिर पर सफेद फूलों का अर्ध-चन्द्राकार ताज। दामाद (वर) काले सूट में थे, सिर नगा रखने के कारण राजेपन को ढाकने का कोई उपाय नहीं था। दोनों को कुर्सी पर लाकर बैठाने के पहिले अस्पन्द (धूप) को वधू के सिर पर नौछावर कर आग मे डाल दिया गया। यह भी भूत-प्रेत भगाने के लिये आवश्यक था। दोनों के कुर्सी पर बैठ जाने पर लडकियों ने नाचना गाना शुरु किया, और औरतें ताली बजाती रहीं। "आगा दामाद" वाले गीत का कई बार दोहराना तो मामूली बात थी। आज कुछ और भी जनगीत सुनने को मिले—

चिरा तु तर्के—आशनाई करदी ? बंमन बगो चिरा जुदाई करदी ?
(क्यों तू ने मित्रता छोड दी ? मुझे बता क्यों जुदाई करदी ?)
नमूदी ख्वारे तु ऐ दिल्दारम्। बरो कि तर्क तू सितमगर करदम्।
(तूने बरबाद किया, मेरे प्रिय। चला जा तुझ जालिम को मैंने छोड़ दिया)
बरो कि फिक्रे—यारे-दीगर करदम्। बिया कनारम् तु ऐ दिल्दारम्।
(चला जा, मैंने दूसरे मित्र का ख्याल कर लिया। आ गोद में ऐ मेरे दिलदार)
चि रोजहा कि मन ब-याद-तू बूदम्। अनीसे मन बूदी न तन्हा बूदम्।
(कैसे दिनों तक मैं तेरे याद में रही। तू मेरा मित्र था, मैं अकेली नहीं थी)
अजीजत दारम् तु ऐ दिल्दारम्। बदामें-इश्क-तू आचिनां दरबंदम्।
(मेरे प्रेमी, तुझे प्रिय मानती हूँ। तेरे प्रेम के फांसने कितना बाधा है)
वले अजीं शिकंजे मन् खुर्सन्दम्। नमूदी खार अम् तु ऐ दिल्दारम्।
(लेकिन इस बन्धन से मैं खुश हूं। तूने तबाह कर दिया, किन्तु मैं प्रेम करती हूँ)
बादा बादा बादा। इन्शा अल्ला मुबारकबादा।
(होवे होवे होवे। भगवान चाहे मगल होवे)

बिया बेरवीम् अर्जों वलायत मन् व तू। तु दस्ते मरा बगीर व मन् दामने तू।
(आ, इस देश से मैं और तुम चलें। तू मेरा हाथ पकड़ और मैं तेरा अंचल)
बिया बखुरीम् शराबे-अंगूरे-सियाह। ऐ यार मुबारकबादा। बादा इंशा ..
(आ, काले अंगूरों की शराब पियें। हे मित्र, मगल होवे, होवे भगवान् चाहे...)
इन् हयातो उन हयात्। बे पाचीम् तुक्लो नबात्।
(यह जीवन और वह जीवन। आनन्द लें.)
बरसरे अरुसो दूमाद। ऐ यार...
(दुल्हा-दुल्हन के सिर पर, ऐ मित्र मंगल हो.)
गुल दर्आमद अज् हमाम। सुबुल दर्आमद अज हमूम।
(फूल स्नानागार से आया। सुंबुल उन सबसे आया)
शाहे दामादरा बेबीं अरुसदर आमद अज हमाम। ऐ यार ..
(दुल्हा राजा को देख, दुल्हन हमाम से आई। ऐ मित्र, मगल हो)
अरुसेमा बच्चा-साले सरेशब ख्वाबश मियायद। ऐ यार
(मेरी दुल्हन अल्पवयस्का है, रात को उसे नींद आती है। ऐ मित्र मगल हो)
गानों में एक था—
दुख्तरे शीराजी जानम्, जानम्, शीराजी। अब्रू तू बमा बेनुमा ताशवम् राजी।
(शीराज की लड़की, मेरी प्यारी शीराजी, अपने भौंहों को दिखला, कि मै खुश होऊँ)
अब्रूम् मीख्वाही, चि कुनी बेहया पिसर। कमा दर्बाजार न दीदी।
(मेरी भौंहों को क्यों चाहता है, निर्लज्ज लड़के? धनुष बाजार में नहीं देखा क्या?)

इन्हम् मिश्ल-उं ऐ; वलेकिन् निर्खेश गिरान् ऐ।

(यह भी वैसा ही है, लेकिन इसका मूल्य अधिक है)

शव् बया नेस्तम् खाना रोज़ बया तूय-बालाखाना।

(रात आवे, मैं घर में नहीं, दिन में आवे अटारी पर)

दुख्तरे शीराज़ी जानम् जानम् शीराजी। चश्मत् बमा बेनुमा ताशवम् राज़ी।

(शीराज़ की लड़की मेरी प्यारी शीराजी, अपनी आखों को दिखला, कि मैं खुश होऊँ)

चश्मम् मीख्वाही, चि कुनी बेहया पिसर। नर्गिस दरबाजार न दीदी।

(मेरी आंखों को क्यों चाहता है, निर्लज्ज लड़के? नर्गिस को बाजार में नहीं देखा क्या?)

इसी तरह इस दोगाने में आगे वाक्य जोडे गये हैं—

दुख्तर शीराजी ० मूरतत् बमा बेनुमा ० मखमल दरबाजार ०।

० मूयत्, बमा बेनूमा ०। हल्का दरबाजार ०,

० दमत् ०। क्लम दर्बाजार ०।

० लबत् ०। गुंचा दर्बाजार ०। (ओठ तेरा ०, बाजार में कली ०)

० दनदानत् ०। सदफ़ दरबाजार ०। (दात तेरे ०, मोती बाजार में ०)

आगे सारा नखशिख इसी तरह उपमा देकर गाया गया है।

ब्याह-विधि—साढे चार बजे सायंकाल पुरोहित (अखुन) अपने सहायक के साथ पधारे। यद्यपि ईरान के नर-नारी अब यूरोपीय पोशाक पहनते हैं, किन्तु मुल्ला-पुरोहित पुरानी पोशाक को कायम रखे हुये हैं। अखुन के शरीर पर काला चोगा और काली पगड़ी थी। दाढी मुंडी तो नहीं थी, किन्तु तराश कर काफी छोटी कर दी गई थी। कुर्सी पर बैठते ही उन्होंने पहिले वरवधू के पासपोर्ट (जावाज़) को देखा, फिर छपे हुये दो ब्याह रजिस्टरों मे लिखना शुरु किया। अखुन ने विवाह की शर्तों को पढा—"एक सौ

चालीस हजार रियाल मेहर हैं, जिसमें तीस हजार रियाल (तीन हजार रुपया) का गर्दन-बन्द (हार) और दस हजार रियाल शीशे के शमादान का दाम और पचास रियाल कलाम्मजीद (कुरान को पुस्तक) का है। ईरान से बाहर बराबर रहना वधू की मर्जी से हो सकेगा।" जिया इमामी, तकी एजदी और सरहग अली अकबर जहांगीरी गवाह बने। वर की स्वीकृति हो जाने पर पुरोहित ने दरवाजे से बाहर रहते ही तीन बार वधू से पूछा—"अरुसखानम्, कबूल दारी" (दुल्हन देवी, कबूल करती है) वधू ने धीमे से "बाले" (हां) कह दिया। हाफिज की जन्म भूमि शीराज में यदि ब्याह हुआ होता, तो मुल्ला पूछता—"अरुसखानम्, कबूल केरी" (दुल्हनदेवी, कबूल करती हो)

मुल्ला अपनी दक्षिणा ले मुँह मीठा करके चला गया, और स्त्रियों ने फिर ढोल और डफ लेकर "मुबारकबादा" और "मगनामिदूर्नी" गाना शुरु किया। कुर्सी पर वरवधू बैठे। लालपीले कागज की कटो गोल-गोल पत्तियों की वर्षा वरवधू पर की गई। वरवधू दोनों ने एक दूसरे को मिठाई खिलाई, इस प्रकार विवाहविधि समाप्त हुई।

फिर एक कमरे में महफिल गरम हुई। दो बूढिया—वधू की मां खानम्-बुजुर्ग (बडी महिला) और खानम् जमशेदी का हुक्का चलने लगा। तीनों जमशेदी कुमारिया फैशन में बिल्कुल अपटूडेट थीं, और साथ ही गाने नाचने में भी। उनके कारण महफिल चमक उठी। तेहरान के प्रसिद्ध गायक अलीरजा का गाना और तारची शाहबाजी का सितार छिड़ गया। उस्तादी संगीत में आलाप का होना अनिवार्य है। एक तो ईरानी कर्कश आलाप और उस पर से पुरुष कंठ से निकला, मेरे लिये तो वह असह्य मालूम होता था। लेकिन हाफिज और खैय्याम के गीत बडी अच्छी तरह गाये जा रहे थे। कमरे में जितने आदमी बैठ सकते थे, उससे तिगुने बैठे थे, ऊपर से अस्पंद की धूप बराबर दी जा रही थी, जिससे दम घुटने लगा था। गाने के बाद वहीं खानपान हुआ और अब की नाच में वरवधू भी शामिल हुये।

आज ईरानी वर्ष का अन्तिम बुधवार था। शाम के वक्त लड़के

प्राचीन ईरान की होली मना रहे थे। आग जला कर उस पर से फादते हुये बच्चे कह रहे थे—

"ज़र्दिये मन् अज तू। सुर्ख़िये तू अज़मन्। (मेरी पीतिमा तुझसे। तेरी लालिमा मुझसे)

विवाह की अन्तिम रस्म थी "दस्त-बदस्त" (पाणिग्रहण)। रात को सोहाग-कक्ष में ले जाकर सरहंग साहू ने वरवधू का हाथ एक दूसरे के हाथ मे दे दिया। हमारे देश की तरह ईरान में भी नई रोशनी वालों ने बहुत से रीति-रवाजों को छोड़ दिया। पहिले हनाबन्दी (मेहंदी) आदि कितनी ही और भी रस्मे अदा की जाती थीं।

अगले दिन (१४ मार्च) बड़ी दावत हुई। काजार-राजवंश का पुराना बगीचा, जिसे वर के पिता हाशिम अस्पहानी ने खरीद लिया था, और जिसने कितनी ही रंगीन महफिलें देखी थीं, बरसों की उदासी के बाद आज फिर जगमगा उठा था। चित्रों, फूलों के गमले, बिजली के झाड़फानूस और सुन्दर ईरानी कालीन से सजावट की गई थी। आज साज-संगीत का विशेष प्रबन्ध था। तेहरान रेडियो की मशहूर गायिका रूहंगीज विशेष तौर से बुलाई गई थी। एक प्रसिद्ध नर्तकी भी मौजूद थी। निमन्त्रित सौ मेहमान स्त्री-पुरुष दावत में शामिल हुये थे। यद्यपि तीन बजे से मजलिस शुरू हो गई, किन्तु वरवधू को सिंगारहाट से लौटने मे साढे छ बज गये। खाना-पीना और नाच-रंग सात बजे तक रहा। वधू (इज्जत खानम्) सभी स्त्रियों में अधिक खूबसूरत मालूम होती थीं, जिसमें सजावट का भी काफी हाथ था। वधू का नाचना लोगों ने बहुत पसन्द किया। वरवधू को भेंट सौगात देकर लोग अपने अपने घरों को जाने लगे। इन पंक्तियों का लेखक तो वर का नर्म-सचिव था, जिसकी सम्मति की कदर दोनों घरों मे थी।

३—रूस में प्रवेश

तीसरी बार रूस जाने का निश्चय मैंने १९४३ में ही कर लिया था, किन्तु अंग्रेज सरकार ने पासपोर्ट देने में हीला-हवाला करके एक साल बिता दिया। उसके बाद फिर ईरान के बीजा मिलने में कई महीने लगे। अन्त में किसी तरह भारत छोडकर ८ नवम्बर १९४४ को मैं ईरान की राजधानी तेहरान पहुँचा था। तेहरान पहुँचते पहुँचते पास का पैसा करीब करीब खतम हो चुका था। युद्ध के समय में चीजों का दाम ऐसे ही बहुत मँहगा था और मैं ईरान की राजधानी मे एक तरह खाली हाथ पहुँचा, यह बतला चुका हूँ। लेकिन मानवता हर जगह आदमी को सहायता देने के लिये तैयार देखी जाती है। मिर्जा महमूद अस्पहानी से वहाँ परिचय होगया और फिर मुझे कोई तकलीफ नहीं रही। कुछ ही समय बाद भारत से पैसे भी आगये, लेकिन तो भी जो अकारण बन्धुता मिर्जा महमूद ने दिखलायी और जिस तरह का सद्व्यवहार उनकी सौतेली माँ खानम इस्मत नाजिमी ने किया, वह सदा स्मरणीय रहेगा। एक घुमक्कड अपने उपर किये गये उपकार का प्रतिशोध कैसे कर सकता है? किन्तु कृतज्ञता की मधुर स्मृति तो जीवन भर रख सकता हैं। ८ नवम्बर

१९४४ से ३ जून १९४५ ई० तक सात महीने मुझे जिस स्थिति में रहकर काटने पड़े, उसे असह्य प्रतीक्षा ही कह सकते हैं। कभी कभी भारत लौट आने का मन करता था, तो हमारे भारतीय मित्र अपनी चिट्ठियों में और ठहरने को कहते। और वहाँ सोवियत-दूतावास की चौखठ अगोरते अगोरते मन उकता गया था। यह भी पता नहीं लगता था, कि बीजा मिलेगा भी। लड़ाई के दिनों में चिट्ठियों का यह हालत थी कि मेरे मित्र सरदार पृथ्वीसिंह की २२ फरवरी १९४५ की चिट्ठी मुझे २४ मई को मिली अर्थात—बम्बई से तेहरान ३ महीने के रास्ते पर था। हा, तार आसानी से मिल जाते थे, लेकिन तार में अधिक बातें नहीं लिखी जा सकती थीं।

३ मई (१९४५) को हिटलर और गोयबल्स की आत्महत्या की भी खबर आगई। ८ मई को जर्मनी ने बिना शर्त हथियार डालने के कागज पर हस्ताक्षर भी कर दिया, किन्तु मैं अभी अनिश्चित अवस्था मे ही था। हा, इसके बाद दूतावास के लोगों के कहने के अनुसार आशा कुछ ज्यादा बलवती हुई। तेहरान में भी रहना आसान नहीं था। खर्च के अलावा वहा सरकार से अनुमति लेते रहना पड़ता था। २६ मई को सोवियत कोंसलत में गया। पता लगा बीजा आगया। आज ही मेरे पासपोर्ट पर मुहर भी लग गई। इन्तूरिस्त (सोवियत यात्रा एजन्सी) से पूछा तो उसने बताया कि मास्को तक हवाई जहाज का किराया ६६० तुमान (१ रु०= १ तुमान था) लगेगा और १६ किलोग्राम (२० सेर) के बाद हर किलोग्राम पर ६ तुमान सामान का लगेगा। अन्दाज से मालूम हुआ कि नौ सौ तुमान खर्च आयेगा। हम तो अब समझते थे, कि मैदान मार लिया। अब २९ मई को ईरानी दफ़तर में निर्यात का बीज़ा लेने गये, तो कहा गया—माल-विभाग का प्रमाण-पत्र लाइये कि आपने यहा इतने दिनों रह कर जो कुछ कमाया, उसका टैक्स अदा कर दिया। माल-विभाग मे जाने पर कहा गया—दरख्वास्त दीजिये, जाच की जायेगी। मैं तो सोवियत यात्रा एजन्सी (इतूरिस्त) से टिकट भी खरीद चुका था, ३१ मई को यहा से जाने के लिये तैयार था। वैसे सब जगह नौकरशाही की मशीन बहुत धीमी गति से चलती

है, जिसमे ईरानी मशीन तो अपना सानी नहीं रखती। उधर मेर रहने के वीज़े की मियाद केवल तेरह दिन और रह गई थी। यदि उसके बाद रहना पड़ा तो, फिर वीजा लेने की दिक्कत उठानी पड्ती। ब्रिटिश दूतावास में जाने पर रिजवी साहब ने कोन्सल की ओर से प्रमाण पत्र दे दिया, कि मैंने यहा कोई कारबार नहीं किया। लेकिन, अभी तो उसे फारसी में तर्जुमा कर के देना था। अगले दिन अनुवाद लेकर फिर ईरानी दफतर में गया। बहुत दौड़ धूप करनी पडी और अकेले ही। सात महीने तेहरान में रहने से भाषा की दिक्कत खतम हो गई थी। तीन-तीन ऑफिसों में चक्कर लगाना पड़ा और जब १ बजे दिन को सही-सलामत कागज पर हस्ताक्षर हो गये, तो ऑफिस वालो ने कहा— "कोन्सल की मुहर काफी नहीं है। इस पर हस्ताक्षर भी करवा लाइये।" खैर, उस दिन चार बजे तक सभी आफतों से छुट्टी पा जाने पर बडा सतोष हुआ। किराये से बचे हुए पैसे को रूस ले जाना बेकार था। रूस मे खर्च करने के लिये सौ पौंड का चैक अलग था ही, इसलिये बाकी बचे रुपयों में चमडे का ओवरकोट और दूसरी चीजें खरीदीं। अगले दिन (३१ मई) फिर कुछ और भी दफ़तरों की खाक छाननी पडी, जिनका काम दोपहर तक खतम हो गया।

हवाई जहाज अतवार (३ जून) को आनेवाला था, लेकिन सामान तुलवाना और दूसरे कामों को दो दिन पहले (१ जून को) ही खतम करवाना था। १६ किलोग्राम छोड्कर ५१ किलोग्राम सामान और मेरे पास था, जिसका ३२१ तुमान देना पड़ा। सामान मे आधी ऐसी चीजें थीं, जिनको यदि मैं जानता होता, तो साथ न लिये होता। विमान दो जून को ही जाने वाला था, लेकिन पहली जून को चार बजे बतलाया गया कि मौसम खराब होने से कल विमान नहां जा सकेगा। पचास-पचपन तुमान अब पास में रह गये थे, और एक दिन रहने का मतलब था उसमें से और खर्च करना, लेकिन मैंने तो घटा देख कर घडा फोड लिया था। २ तारीख को पूछने पर मालूम हुआ कि कल का जाना नक्की (पक्का) है। भारतोय सगीत के परिचय के लिये मैं अपने साथ कुछ

रिकार्ड लेकर चला था, लेकिन उसे क्वेटा में रोक दिया गया। तेहरान में युद्ध के समय बहुत से भारतीय थे, जिनमे कुछ का मुझ से परिचय हो गया था, इसलिये दो रिकार्ड भी मिल गये।

प्रयाण— ३ जून का भिनसार आया। अभी अंधेरा ही था कि पौने-चार बजे इंतूरिस्त की मोटर मेरे पास आयी। घरसे सामान उठा कर अब्बासी महाशय ने मोटर तक पहुँचाया। अब्बासी से सात महीने का परिचय था, और बोस उपनाम अब्वासी नामक साहसी तरुण के गुण और अवगुण सभी मुझे मालूम हो गये थे। मुझे अवगुणों से अधिक उनमें गुण दिखायी पडे, इसलिये बिछुडते वक्त दोनों को अफसोस हुआ। वैमानिक अड्डा शहर से दूर था, जहा हम चार-साढे चार बजे पहुँचे। एजेन्सी की ओर से चाय पीने को मिली। फिर सामान विमान पर रखा गया। वह यात्रा का विमान नहीं था। फौजी विमान ऐसे बनाये जाते हैं, जिसमें वह आदमी और सामान दोनों को आसानी से ढो सकें। यह मेरी पहली विमान-यात्रा थी, जिसके बारे में बहुतसी अच्छी बुरी बातें सुन रखी थीं। विमान मे दोनों ओर दीवार के सहारे लकडी के बेंच रखे हुए थे, जिन पर हम पन्द्रह मुसाफिर जा बैठे। घरघराहट की क्या बात है? कान फटा जा रहा था। हमारी बगल में शीशे लगी खिडकी थी, जिससे भूतल को देखा जा सकता था। यद्यपि विमान में तीस आदमियों की जगह थी, लेकिन जब यात्री को इतनी तपस्या के बाद बीजा मिले, तो जगह कैसे भरती? अधिकतर मुसाफिर मास्को के विदेशी दूतावासो के कर्मचारी थे। उनके पास सामान भी काफी था, इसलिये मैं समझता हूँ विमान ने अपना पूरा बोझा ले लिया था। गोलाकार छत बीच में मेरे सिर से एक हाथ ऊँची थी। मुझे तो विमान सोवियत की सादगी का प्रतीक मालूम हुआ, सीटों और पैरों के नीचे बिछी कालीन भी न होती तो कोई बात नहीं। लेकिन जो विदेशी यात्री चल रहे थे, वह इस बेसरोसामानी पर नाक भौं सिकोड रहे थे। चढाने से पहले इतूरिस्त के आदमी ने हमारा पासपोर्ट देख लिया—कहीं कोई उसे भूल न आया हो। सबेरे पाच बज कर दस मिनट पर विमान अपने तीनो पहियो पर खिसकने

रोटी के खाने को मिले।

दस बज कर पाच मिनट पर हम फिर जहाज से उडे। बाकू के घरोंदों और तेलकूप की भाडियो को पीछे छोडा। पहिले कितनी ही दूर तक कास्पियन के पश्चिमी किनारे पर ही उड़ते रहे, फिर वोल्गा के दाहिने तट पर आगये। यहा भी भूमि बहुत जगह गैर-आबाद थी। यह वही भूमि थी, जिसने जर्मन सेनाओं की विनाश-लीला को थोडे ही समय पहिले देखा था। अब कहीं कहीं हरे हरे पंचायती खेत और उनके सुविशाल चक दिखायी पड़ने लगे। ढाई बजे हम स्तालिनग्राद पहुँचे।

स्तालिनग्राद— स्तालिनग्राद सारे विश्व के लिये एक पुनीत ऐतिहासिक स्थान है। सारे विश्व पर जर्मन जाति के विजयी झडे के साथ दासता के झडे को भी गाड़ने के लिये आगे बढे अपराजेय समझे जाने वाले जर्मन फासिस्तों को यहीं पर सब से पहिले करारी हार खानी पड़ी थी। ऐसी जबर्दस्त हार कि उसके बाद फिर जो वह पीछे की ओर भागने लगे, तो कहीं भी सुस्ताने के लिये उन्हें मौका नहीं मिला। स्तालिनग्राद में देखने को क्या था? उसकी तो ईंट से ईंट बज गयी थी। जर्मनों को पराजित हुए एक महीना भी नहीं बीता था। अभी वस्तुत. नगर के आवाद करने का काम नहीं हो रहा था, हाँ, नगर-निर्माताओं के आबाद करने को तैयारी हो चुकी थी। अधिकाश घर धराशायी थे, किसी किसी के कंकाल कुछ कुछ दिखाई पड़ते थे। दूर तक हजारों ध्वस्त मोटरों और विमानों का ढेर लगा हुआ था। प्राय सभी जर्मन विमान थे। एक विमान की दुम कट कर अलग पड़ी हुई थी, जिसे देख कर वह दृश्य सामने आ खड़ा हुआ, जब कि यह विमान अपने और बहुत से साथियों के साथ स्तालिनग्राद पर मृत्यु वर्षा कर रहा था। उसी वक्त किसी साहसी सोवियत वैमानिक ने उनमें से एक की दुम तराश कर उसे नीचे गिरने के लिये मजबूर किया। स्तालिनग्राद में भी हमारे विमान के उतरने की भूमि कच्ची थी। आस पास खूब घास की हरियाली अतः भूमि सरस थी, यह उसका वानस्पतिक वैभव बतला रहा था। यहा कहीं पर्वत नहीं थे। कहीं कहीं एकाध कारखाने आहत

ओर सुप्त से पड़े थे, उनकी चिमनिया मृत थीं। केवल एक बडी फैक्टरी की चिमनी धुवा दे रही थी, जो आशिक तौर से चालू हो गई थी। पास मे दूसरा वडा कारखाना निष्क्रिय पडा था। नगर वसाने वालों ने छोटे घरो मे थोडीसी मरम्मत कर के आश्रय ग्रहण किया था। हम यात्रियों ने भोजन किया, कुछ इधर-उधर घूम-फिर कर देख भी आये। अभी सैलानियों के सैर करने का वाकायदा इति-जाम कहां हो सकता था ? लेकिन स्तालिनग्राद की अजेय भूमि पर पैर रख के यह कैसे हो सकता था, कि मैं कल्पना जगत में न चला जाऊँ। सोवियतभूमि एक ऐसी भूमि है, जिसके वारे में दुनिया में दो ही पक्ष हैं—या तो उसके समर्थक या प्रशंसक होवें, या उसके कट्टर शत्रु। मध्यका रास्ता कोई अत्यन्त मूढ ही पकड सकता है। मैं सदा सोवियत का प्रशसक रहा हूँ, बल्कि कह सकता हूँ, कि जिस वक्त घोर निद्रा के बाद अभी मुझे जरा ही जरा अपनी राजनैतिक आंख खोलने का अवसर मिला, उसी समय मुझे विरोधियों के घनघोर प्रचार के भीतर से रूसी क्रान्ति की खबरें सुनायी पडी, जिन्होंने मेरे दिल में नये प्रकाश को देकर इस भूमि के प्रति इतना आकर्षण पैदा कर दिया, या कहिये दिल को इतना छीन लिया, कि मुझे इस जबर्दस्ती का कभी अफसोस नहीं हुआ। मैं वर्षों उस भूमि में रहा हूँ, वहाँ के लोगों और सरकार को वहुत नजदीक से देखा है। कडवे-मीठे सभी तरह के अनुभव लिये हैं। गुणों को जानता हूँ, साथ साय उनके दोषो से भी अपरिचित नहीं हूँ। लेकिन मैंने उन दोषों का पाया कभी इतना भारी नही पाया। सोवियतभूमि के प्रति जो अनुराग या आशायें मानवता के लिये मैंने वाधी, उसमें किसी तरह की वाधा नहीं हुई। इतिहास मानता है और सदा माना जायगा, कि मानवता की प्रगति में एक सब से वडी बाधक शक्ति हिटलरी फासिज्म के रूप में पैदा हुई थी, उसको नष्ट करने का सब से अधिक श्रेय सोवियत की जनता को है। आज (१९५१) छ वर्ष वाद भी मानवता की प्रगति के रास्ते में फिर जबर्दस्त बाधायें डाली जारही हैं, लेकिन साथ ही मानवता बहुत आगे बढ चुकी है, बहुत सबल हो चुकी है। उस समय जर्मन पराजय के बाद स्तालिनग्राद में घूमते हुए मेरे मन में तरह

तरह की कल्पनायें आई थीं। इस महान् विजय के बाद साम्यवाद के क्षेत्र के बढने की पूरी संभावना थी। आज हम स्वतंत्र चीन का नवनिर्माण देख रहे हैं। और उसकी प्रगति के वेग को देख कर दातों तले उगली दबानी पड़ती है। लेकिन क्या स्तालिनग्राद ने अगर अपने कृतित्व को न दिखलाया होता, तो ऐसा हो सकता था ?

मास्को को— पन्द्रह बज कर बीस मिनट पर हम फिर उडे। कास्पियन के किनारे से यहा तक प्राय वोल्गा को हम अपना मार्ग प्रदर्शक बना कर आये थे, लेकिन अब हमारा पुष्पक विमान बायीं ओर मुड़ा। नीचे गावों के विशाल खेत शतरज जैसे फैले हुये थे। कहीं कही रास्ते में बादल आजाते, तो विमान उसके ऊपर से होकर चलने की कोशिश करता और कुछ समय के लिये भूमि का सुन्दर दृश्य आंखों से ओझल हो जाता। पांच बजे के बाद अब हम ऐसी भूमि में आये, जहा देवदार के जंगल दिखायी पड़ते थे। मालूम होता था, धान के हरे हरे खेत हैं। काकेशश की बड़ी बडी पहाड़िया यदि छोटे मिंडों जैसी मालूम होती थीं, तो यहां की छोटी छोटी पहाड़ियों के बारे में तो कहना ही क्या है। गावों के घर अब लम्बे राजपथ के किनारे पाती से बसे दिखायी पड रहे थे। राजपथ काफी चौडे भी होंगे, किन्तु हमें ऊपर से सरल रेखा जैसे ही मालूम होते थे। बडे-बड़े जलाशय छोटे-छोटे डबरों जैसे दीख पड़ रहे थे। हाल ही में जुते और फसल वाले खेत रग से साफ मालूम होते थे। नदिया सर्पाकार दीख पड रही थीं। नीचे रेल की चलती ट्रेन मालूम होती थी, कोई बडा साप जारहा है। एक जगह कुछ दूर तक बादल में चलना पड़ा। हमारे विमान के पख पर कुछ छीटें भी पडी। जगह जगह बड़े-बड़े कस्बे आये। देवदार के जगल और घने हुए। सात बज कर पाच मिनट पर शाम के वक्त हम मास्को के विमान अड्डे पर पहुँच गये। शहर पार होते भी पाच-सात मिनट लगे थे। मास्को के विशाल प्रासाद भी पहिले घरोंदे जैसे ही मालूम हुए, किन्तु जैसे जैसे विमान नीचे उतरा वैसे वैसे उनकी सुन्दरता और विशालता बढती गई।

आज की उड़ान तेहरान से बाकू २-४० घंटे, बाकू से स्तालिनग्राद ४-५५ घंटे, स्तालिनग्राद से मास्को ३-४५ घंटे अर्थात कुल १०-५० घंटे हुई। विमान बाकू में २-१५ घंटा और स्तालिनग्राद में ५० मिनट ठहरा।

विमान के अड्डे पर उतरते वक्त आशा थी, कि तेहरान से इतूरिस्त ने लिख दिया होगा, इसलिये मास्को में उसका आदमी लेने के लिये आया रहेगा, किन्तु यहाँ किसी का कोई पता नही था। भाषा की दिक्कत थी, क्योंकि दूसरी यात्रा में जो कुछ सीखा था, वह भी करीब करीब भूला जा चुका था। तेहरान के निवास का उपयोग रूसी सीखने के लिये कर सकते थे, किन्तु वहा दुविधा मे पड़े थे। किसी तरह सामान विश्रामगृह मे पहुँचाया। इंतूरिस्त के पास फोन करना चाहा, तो किसी को उसका पता नहीं था। वस्तुत युद्ध के कारण सैलानियों के लिये यात्रा की व्यवस्था करने का काम रह नहीं गया था, इसलिये पिछली दो यात्राओं में इतूरिस्त के जिस चुस्त प्रबन्ध को हमने देखा था, उसको इस वक्त नही पाया। बहुत पूछ-ताछ करने पर वहा किसी आदमी की प्राइवेट कार मिल गई, जिसके ड्राइवर ने दो सौ रुबल (प्राय सवा सौ रुपये मे) होटल तक पहुँचा देने का जिम्मा लिया। दो एक जगह पूछ-ताछ करने पर अन्त मे इतूरिस्त के होटल में पहुँच गये। कमरा खाली नहीं है—अंग्रेजी दूतावास में चले जाइये—कहा गया। उस समय भारतीय दूतावास नही था, अंग्रेजी दूतावास मे किस परिचय के बल पर मैं जा सकता था। खैर, जरा ठहरने पर एक कमरा मिल गया। चीजें बहुत महगी थीं, किन्तु वही जो राशन में नहीं थीं। मैंने सोचा था, राजधानी के नर-नारियों पर युद्ध का बडा बुरा प्रभाव पडा होगा। लेकिन सड़कों पर भीड मे मैंने किसी के शरीर पर फटे कपडे नही देखे, और नहीं चेहरों पर चिन्ता की छाप थी। अपने बारे में सोचने लगा— सौ पौंड का चैक लेकर मैं आया हूँ, जिसमे आठ पौंड तो मोटर के ही निकल गये। चीजें जितनी महगी थीं, अगर अपने पौंडों के भरोसे रहना होता, तो उनका क्या बनता? रात को रहने के लिये जो कमरा मिला, वह बहुत साफ-सुथरा था। उसमें तीन बत्तिया थी, शीशेदार अलमारी, दो

चारपाइया, तीन कुर्सिया, दो मेज, नीचे अच्छी कालीन बिछी हुई थी। हा, एक लिहाफ कुछ पुराना जरूर था। दीवार पर एक सुन्दर तस्वीर भी टगी हुई थी। संक्षेप मे स्वच्छता और आराम की कोई कमी नहीं थी। मैं अगले दिन (४ जून) स्तॅला (शर) डाक से जाने का निश्चय कर के आराम से सो गया।

३—लेनिनग्राद में

मास्को से लेनिनग्राद की एक बहुत सीधी रेलवे है, जिसके ऊपर चलने वाली तेज डाकगाड़ी का नाम स्त्रेला है। यह ट्रेन ६५१ किलोमीतर की यात्रा १७ घंटे में पूरी करती है। ३०१ रूबल (प्राय २०० रु०) में दूसरे दरजे का टिकट मिला था। तार हमने लेनिनग्राद नहीं दिया, किन्तु इंतूरिस्त वालों ने विश्वास दिलाया, कि वह अपने आफिस को फोन कर देंगे। पिछली यात्रा में मैं जाडे के दिनों मे इस रास्ते से गुजरा था। उस समय सब जगह बरफ ही बरफ थी और केवल देवदारों के दरख्त हरे दिखाई पड़ते थे। अब हम गरमी में चल रहे थे, लेकिन इस गर्मी का हमारी गरमी से कोई वास्ता नही। यह गरमी हिमालय के बदरीनाथ केदारनाथ जैसे स्थानों की गरमी थी। बरफ कही नहीं थी। चारों ओर हरियाली ही हरियाली दिखाई पड़ती थी। बिना देखे विश्वास करना मुश्किल होता कि उत्तरी रूस इतना हरा-भरा देश है। ग्यारह बजे रात तक रात का कही पता नही था। लेनिनग्राद में तीन महीने वाली सफेद रात आजकल चल रही थी। मास्को पर जर्मनो ने बम वर्षा की थी, किन्तु वह उनके अधिकार में नही जा सका। मास्को से कुछ ही मील दूर चलने

पर युद्ध की ध्वंस लीला दिखाई पड़ने लगी। कालिनिन (त्वेर) नगर के मकान ध्वस्त और कारखाने पस्त पड़े हुए थे। उनके निर्माण का काम अभी तेजी से नहीं हो रहा था। त्वेर का नाम आते ही मुझे यहा का प्राचीन नागरिक निकितिन याद आगया, जो कि पहिला युरोपीय था, जिसने भारत को देखा, वहा छ साल (१४६६-६२ ई०) रहा और उस पर एक पुस्तक लिखी। सोवियत की रेल— विशेषकर दूर जाने वाली-ट्रेनें बड़े आराम की होती हैं। यहा की सभी रेलवे लाइनें बहुत चौड़ी हैं और डब्बे कुछ अधिक ऊँचे। श्रेणिया—प्रथम, द्वितीय, तृतीय नरम, तृतीय कड़ा। प्रथम श्रेणी में यात्रा करने वाले बहुत ही कम होते हैं। तृतीय श्रेणी का नरम हमारे यहां के ड्योढे की जगह है, किन्तु आराम देने मे वह हमारे यहा की द्वितीय श्रेणी से भी अच्छा है। वैसे तो कठोर तृतीय श्रेणी हमारे यहा के ड्योढे दर्जे से अच्छी है, उसमें गद्दा बाहर से मिलता है, रात के लिये तकिया और ओढना भी मिल जाता है। सब से बड़ी बात यह है, कि यात्री को लम्बी यात्रा में भीड़ के मारे परेशान होना नहीं पडता। हर कम्पार्टमेन्ट में दो नीचे और दो ऊपर सीटें होती हैं। एक सीट एक आदमी के लिये टिकट लेते ही रिजर्व हो जाती है, क्योंकि रेलवे टिकटो मे ट्रेन नम्बर, गाड़ी नम्बर, कम्पार्टमेन्ट नम्बर और सीट नबर दर्ज रहता है। आपने जिस सीट का टिकट ले लिया, उस पर कोई और नहीं आ सकता। हरेक डब्बे मे एक एक कडक्टर होता है, जो टिकट लेकर आपकी जगह ही नहीं बतला देता, बल्कि डब्बे की सफाई और चाय बनाकर भी पिला देता है। हमारे कम्पार्ट मे मुझे लेकर चार आदमी थे, जिसमे एक साइबेरिया की रूसी लडकी छुट्टियों मे अपनी सखी से मिलने लेनिनग्राद जा रही थी। वह मेडिकल कालेज की छात्रा थी। अभी भाषा के कुछ दर्जन शब्द ही मालूम थे, इसलिये साथियों से अधिक बात क्या कर सकता था? वैसे रूसी लोग बहुत मिलनसार होते हैं, वह अंग्रेजों की तरह अपरिचित के साथ मुँह फुला कर यात्रा नहीं करते। अभी बाजार-दर का भाव नही मालूम हुआ था, न यही पता था कि राशन-कार्ड और बिना कार्ड में मिलने वाली चीजों के भाव मे अन्तर है। एक लेमोनाद की बोतल के लिये जब

सोलह रूबल (दस रुपया) देना पडा, तो न जाने कैसा सा मालूम हुआ।

रात को सो गये। सबेरे चार बजे उठे, तो मालूम हुआ न जाने कब मे सबेरा हुआ है। अब लेनिनग्राद ६ घटे का रास्ता और रह गया था। युद्ध का भीषण दृश्य वर्षों बाद भी दिखाई पड रहा था। गाव उजड़े हुये थे। जहा तहा मोर्चेबंदिया अब भी खड़ी थीं। जहा कभी देवदार के जंगल रहे होंगे, वहा आज छिन्न-मस्तक कितने ही ठूठ दिखाई पड रहे थे। इन देवदार बनों को अपने स्वाभाविक रूप में आने मे वर्षों लगेंगे। ट्रेन लेनिनग्राद के उपनगर में पहुँची। युद्ध के पहिले लेनिनग्राद तीस लाख से अधिक आबादी का एक विशाल नगर था, उसका उपनगर दूर तक फैला हुआ था। लेनिनग्राद पर भीषण बम-वर्षा हुई थी। प्राय नौ सौ दिन तक जर्मन सेनाओं ने इस नगर को घेरे रक्खा और ऐसी बमबारी तथा नाकेबन्दी कर रखी थी, कि यदि दूसरा नगर होता, तो उसने कब का आत्मसमर्पण कर दिया होता। उपनगर में सचमुच ही ईंट से ईंट बज गई थी। दीवारें भी शायद ही कोई कुछ हाथ खडी थीं। अगर दीवारें कहीं दिखाई भी पडतीं, तो उन पर छतों का पता नहीं था। अधिकाश घर तो भूमिशात् हो गये थे। रेलवे लाइन के आस-पास उल्टी मालगाडिया, या उनके डब्बे पडे हुए थे। जगह-जगह कितने ही हथियारों के लाहे भी मौजूद थे।

आखिर दस बजे ट्रेन लेनिनग्राद नगर मे पहुँची। उस समय आसमान में बादल घिरा हुआ था, कुछ हलकी सी बूंदे भी पड रही थीं। मुझे डर लग रहा था, कि कहीं यहा भी इन्तूरिस्त का आदमी नहीं आया, तो परेशान होना पडेगा। किन्तु ट्रेन के प्लेटफार्म पर खडे होने के साथ ही इंतूरिस्त का आदमी हमारे डब्बे के पास मौजूद था। उसने अपनी टैक्सी में हमारा सामान रखवाया और सीधे अस्तोरिया होटल के ११० नं० वाले कमरे में पहुँचा दिया। जारशाही के जमाने मे यह बहुत ऊँचे दरजे का होटल था, जहा सामन्त और शाही मेहमान ठहरा करते थे। अब भी साज-सजावट का सामान काफी था। पिछली बार जब में लेनिनग्राद आया था, तो इन्तूरिस्त का दफ़तर युरोपा होटल

में था। शारीरिक और मानसिक श्रम की आमदनी को छोड कर और किसी भी आय को वैध नहीं मानने से यह कहने कि आवश्यकता नहीं, कि यहा की दूकानें ही नहीं होटल भी किसी व्यक्ति या व्यापारिक कम्पनी की संपत्ति नहीं है। इनूरिस्त एक बहुत मालदार सरकारी एजेन्सी है, जिसके पास शहरों मे बडे-बड़े होटल, सैकडों बसें और कारें तथा हजारों कर्मचारी मौजूद हैं। होटल में अपने कमरे में पहुँच कर अब अनिश्चित अवस्था से निश्चित अवस्था में तो मैं पहुँच गया था। लोला मौजूद थी। लेकिन मैंने इतनी भर खबर तेहरान से दी थी, कि मैं अब आसकता हूँ। तारीख जब निश्चित मालूम हुई, तो तार नही दे सका। होटल से लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के रेक्तर (चासलर) के पास अपने आने की सूचना फोन से दिलवा दी। फिर सोचा, प्रतीक्षा करने से अच्छा यही है, कि लोला के घर ही हो आयें। भोजनोपरान्त इनूरिस्त की कार ली और त्काचेई मुहल्ले में ढूँढते ढूँढते उस घर मे पहुँच गये। यह डर था कि मगल का दिन होने से लोला विश्वविद्यालय में काम करने गयी होगी। उसके गृह-नियंत्रण कार्यालय में पता लगाया। मालूम हुआ, ईगर बालोद्यान मे है। इनूरिस्त की दुभाषिया महिला ने पूछा—तुम ईगर को पहचानती हो? उसने हसते हुए मजाक के स्वर मे कहा—उसे कौन नहीं पहिचानेगा, ऐसा ही काला जैसा बाप। सचमुच ही हमारे भारत में जिनको गोरा कहते हैं, वे भी गोरों के समुद्र में जाकर काले मालूम होते हैं। हमने बालोद्यान देखने की जरूरत नहीं समझी और तीन बजे होटल लौट आये। तब तक लोला को पता लग गया था और वह होटल में आकर मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। हमने अपना सामान वहीं छोड़ दिया और त्राम्वाय पकड कर त्काचेई का रास्ता लिया। घंटे भर का रास्ता था। त्रामों के अलग अलग नवर रहते है, यदि अपनी त्राम न पकडते, तो कई जगह बदलना पड़ता। पहिले हम दोनो बालोद्यान गये। ईगर अपने समवयस्क लड़कों मे खेल रहा था। रूस मे लड़के हो या सयाने उनमें वर्ण-भेद की भावना नहीं पाई जाती। एक एग्लोइडियन महिला एक दिन बतला रही थीं— एक युरोपियन स्कूल मे शिक्षिका रहते समय उनको कैसे कटु अनुभव

हुए। लड़के काली औरत कह के मजाक करते थे। एक छोटा सा बच्चा समझ नहीं पाता था कि हमारी शिक्षिका जब हमारी तरह अंग्रेजी बोलती हैं, तो इनका रंग दूसरा कैसे है। वह उनके हाथ पर उंगली रगड़ कर देख रहा था, कि कहीं रंग ऊपर से पोता तो नहीं है। यही नहीं अंग्रेज बच्चे उसे काली कह कर आपस में परिहास करते थे। सोवियत में इस तरह की हीन भावना की गुंजाइश न बड़ों में है न छोटों में। ईगर के बालोधान के सौ-सवा-सौ लड़कों में वही एक था, जिसके बाल काले थे, जिसका रंग दूसरों के रंग से फरक रखता था। रोमनी (जिप्सी) लोग शताब्दियों पहिले भारत से गये, तो भी उनके बाल काले और रंग प्राय हमारे यहा के गोरे रंग के आदमियों जैसा होता है। लड़के ईगर को सिगान (रोमनी) कहते, तो वह इन्कार करते हुए अपने को " इंदुस " (हिन्दू) कहता। ईगर अपने समवयस्क लड़कों में सबसे अधिक लम्बा था, यद्यपि उतना मोटा-ताजा नहीं था। हम बात क्या कर सकते थे, अभी तो भाषा की पूंजी बहुत कम थी, किन्तु स्नेह प्रकट करने के लिये भाषा की आवश्यकता नहीं होती।

लोला अब वही लोला नहीं थी, जिसे सात बरस पहिले हमने देखा था। लेनिनग्राद के नौ सौ दिनों के घिराव का प्रभाव पुराने परिचित प्राय सभी चेहरों पर दिखायी पड़ता था। लोला बूढी मालूम होती थी। सौंदर्य और स्वास्थ में फूल की जैसी खिली दत्तभाई की बीवी ल्यूबा की भी यही हालत थी। नगर का दीर्घकाल-व्यापी घिरावा क्या होता है, इसका अनुमान दूसरा आदमी मुश्किल से कर सकता था। १९४१–४२ के जाड़ों में घिरावे ने बड़ा भीषण रूप लिया था, उस समय का राशनकार्ड चार्ट बतला रहा था, कि सितम्बर मे प्रति व्यक्ति ३०० सौ ग्राम रोटी मिली, अक्तूबर में २०० ग्राम, नवम्बर में १५० और फिर १२५ ग्राम। जहा आदमी के लिये और अन्नों के साथ हजार बारह सौ ग्राम रोटी की आवश्यक्ता होती है, वहाँ सवा सौ ग्राम में कैसे गुजारा हो सकता है? लेकिन किसी तरह जीवन-रक्षा करनी थी। लोला बतला रही थी—राशन मे मिले रोटी के खड को लाकर मैंने मेज पर चाकू से काटा। बड़ा टुकड़ा ईगर को दिया और छोटा भी रख छोड़ा। काटते

था। डा० साहा दो सप्ताह के लिये रूस आये थे, और देखने के लिये इतना समय अपर्याप्त था। सोवियत साइंस अकदमी की २२० वीं जयन्ती थी, इसी महोत्सव के लिये साहा दुनिया के और बड़े-बड़े साइंस-वेत्ताओं की तरह सोवियत द्वारा निमन्त्रित होकर आये थे।

मेरे पास अभी रेडियो नहीं था, भारत की खबरों के पाने का कोई साधन नहीं था, रूसी पत्रों में शायद ही कभी दो चार पंक्तियां देखने में आतीं। वैसे चौबीस घंटे में २०–२१ घंटे बराबर बोलते रहने वाला रेडियो लेनिनग्राद के हजारों घरों की तरह हमारे घर में भी लगा था, लेकिन भारत की खबर जानने की उत्सुकता पूरी नहीं होती थी। डा० साहा ने बतलाया—"कि कांग्रेस नेता जेलों से छोड़ दिये गये हैं। जिस वक्त मैं भारत से चला, उस वक्त कांग्रेसी नेता शिमला में वाइसराय से बातचीत करने में व्यस्त थे।" अंग्रेजों ने जिस चाल के साथ समझौता करने के लिए बातचीत शुरू की थी, और जो शर्तें रक्खी थीं, उनको बतलाते हुए डा० साहा ने कहा—"पूंजीवादी ढांचे में इससे और अधिक क्या उम्मीद की जा सकती है।" भिन्न-भिन्न देशों के जो विद्वान् अकदमी की जुबली में शरीक होने के लिये आये थे, वह अपना संदेश लाये थे। डा० साहा को पहिले ख्याल नहीं आया। यहां आने पर जब उन्हें संदेश देने के लिये कहा गया, तो उन्होंने एक संदेश तैयार किया। भारत की उन खूसट खोपड़ियों में डा० मेघनाथ साहा नहीं हैं, जो दूसरे देशों में जाकर अंग्रेजी को सर्व-सर्वा मानने में जातीय अपमान का ख्याल नहीं करते। उन्होंने अपने संदेश की अंग्रेजी कापी मुझे देकर कहा—मैं नहीं चाहता, कि मेरा संदेश अंग्रेजी में जाय। इसे हमारी भारतीय भाषा में होना चाहिये—चाहे हिन्दी में हो या बंगला में, किन्तु मैं पसन्द करूंगा कि यह संस्कृत में हो। उन्होंने कहा, कि इसे संस्कृत में अनुवादित कर यहीं अच्छी तरह छपवा कर दे दें। मैंने अनुवाद तो कर दिया, किन्तु नागरी अक्षरों की उतनी सुन्दर छपाई का वहां प्रबन्ध नहीं हो सकता था, इसलिये उसे डाक्टर साहा के पास भेज दिया। उनका संदेश निम्न प्रकार था—

———

भारत का अभिनन्दन

"भारत की जनता, एक सौ इक्सठ बरस पहिले स्थापित बंगाल-रायल-एसियाटिक सोसायटी और भारतीय वैज्ञानिक परिषदों और सभाओं के संघ के रूप में स्थित राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान की ओर से सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की विज्ञान अकदमी का अपने अस्तित्व के दो सौ बीस बरस पूरा करने के उपलक्ष में अभिनन्दन करता है। क्रान्ति के पहिले भी विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में अकदमी ने जो सफलताएं प्राप्त की थीं, उन्हें विज्ञान के इतिहास में सुनहले अक्षरों में लिखा गया है। भारतीय विद्या के क्षेत्र में रूसी प्रतिभाओं की अद्वितीय देन, राथ और बोथलिंक के महान् वैदिक कोश को—जो कि लेनिनग्राद में करीब सत्तर बरस पहिले प्रकाशित हुआ—भारत बड़ी कृतज्ञता पूर्वक याद करता है। बौद्ध शास्त्र के महान् विद्वान् अकदमिक श्चेर्वात्स्की—जिन्होंने दो साल पूर्व निर्वाण प्राप्त किया—की गंभीर देनों को भी भारत बड़ी कृतज्ञता-पूर्वक याद करता है।

"क्रान्ति के बाद अकदमी को जो बल और उत्तरदायित्व प्रदान किया गया, उससे उसने रूस में महान् टेक्नोलाजिकल क्रान्ति लाने में बड़ा ही महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। पिछले पच्चीस बरसों में सोवियत रूस ने जो महत्वपूर्ण सफलतायें प्राप्त की हैं, वह भारत के लिये एक महती प्रेरणा का काम देती हैं। हमारे हृदयों में वह इस बात की नई आशा और प्रेरणा देती हैं, कि हम अपने त्रिविध शत्रुओं—दरिद्रता, रोग और निरन्तर खाद्याभाव के संयुक्त बल से लड़ें। भारत सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की गौरवशाली और सफलता-पूर्ण सिद्धियों तथा राजनीतिक, आर्थिक, टेक्नालोजिकल और धार्मिक इन चार प्रकार की क्रान्तियों में सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ की गौरव-शाली साधनाओं के लिये साधुवाद देने में दुनिया के दूसरे देशों के साथ है।"

अपने सात महीने की तपस्या के बाद लेनिनग्राद में पहुँच कर पुराने मित्रों कलियानोफ, विस्कोव्नी, सुलेकिन आदि से मिल कर खुशी होनी ही चाहिए थी, किन्तु इस बात का खेद होता था, कि अकदमिक श्चेर्वात्स्की

...घ और वह गंभीर संलाप अब प्राप्त नहीं होगा। अपनी सोवियत-... द्वितीय यात्रा मैंने उन्हीं के निमंत्रण पर की थी। उस समय मैं कुछ ही महीनों रह सका था, लेकिन उतने ही में हमारी घनिष्ठता इतनी बढ़ गई थी, कि मालूम होता था, हम युगों से एक दूसरे के साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध रखते आये थे। मेरे भारत लौटने के बाद भी उनका बार-बार आग्रह था, कि मैं अबकी दीर्घकाल के लिये लेनिनग्राद आऊँ। वह इसकी कोशिश भी कर रहे थे, कि इसी में महायुद्ध छिड़ गया। रूस पर भी हिटलर ने आक्रमण कर दिया। लेनिनग्राद घिर गया। उस समय सोवियत सरकार ने अपनी दूसरी बहुत सी कला तथा विद्या संबंधी निधियों के साथ डाक्टर श्चेर्वात्स्की जैसी प्रतिमा-निधियों को भी हवाई जहाज से दूर हटाया और साल ही भर बाद उत्तरी कजाकस्तान के रम्य स्थान बरोवा में उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

मैं युनिवर्सिटी का प्रोफेसर नियुक्त हो गया था। अब पहिली सितम्बर तक के समय को मुझे भाषा की तैयारी तथा दूसरे कामों में बिताना था। प्रोफेसर से आशा की जाती है, कि वह अपने अनुसंधान का काम भी करेगा, जिसके लिए उसको समय मिलना चाहिये, इसीलिये समय देने में इसका ख्याल रखा जाता है। मुझे हफ्ते में बारह घंटे पढ़ाना था। जिसको भी इस तरह से रखा गया था, कि तीन दिन ही युनिवर्सिटी जाने की जरूरत पड़े। रविवार का दिन तो साधारण छुट्टी का था ही।

डा० श्चेर्वात्स्की से मेरा जो संबंध था, उसके कारण डाक्टर बरान्निकोफ का भाव मेरे प्रति पहिले कुछ अच्छा नहीं था। उनकी और डा० श्चेर्वात्स्की की कुछ खटपट सी थी। उनको यह मालूम नहीं था, कि मैं उनके काम को बड़े महत्त्व की दृष्टि से देखता हूँ। बरान्निकोफ यद्यपि संस्कृत और पश्चिम की दूसरी पुरानी भाषाओं के भी अच्छे पंडित हैं, लेकिन उन्होंने अपने अनुसंधान का काम अधिकतर आधुनिक भारतीय भाषाओं—रोमनी, हिन्दी आदि के बारे में किया है। पश्चिमी देशों में संस्कृत जैसी प्राचीन और मृत भाषाओं के अनुसंधान को ही उच्चश्रेणी का समझा जाता है। इसलिये डा० बरान्निकोफ के अनुसंधानों को पुराने ढंग के विद्वान उतना महत्त्व नहीं

देते थे। किन्तु यह ठीक नही था, आजकल जीवित भाषाओ का भी भाषातत्व, इतिहास और समाजशास्त्र के अनुसंधानो मे बहुत महत्व है। मैं स्वय हिन्दी साहित्य का एक लेखक ठहरा, फिर कैसे हो सक्ता था, कि मै डा० वरान्निकोफ के काम को महत्व न देता। लेकिन वह समझते थे, कि डा० श्चेर्वात्स्की की तरह दोस्त, संस्कृत का पडित और संस्कृत-सबधी अनुसधान से सबध रखनेवाले तिब्बती और पाली साहित्य का विशेषज्ञ होने से मेरे भाव भी उनके काम के प्रति वैसे ही होंगे। डा० वरान्निकोफ बडे प्रतिभाशाली विद्वान् हैं और साथ ही बडे परिश्रमी भी। तरुणाई में जब उन्हें रोमनी भाषा के अध्ययन का शौक हुआ, तो कितने ही दिन रोमनियों के डेरों में बिताये। लेकिन वह बडे लज्जालू प्रकृति के हैं। बाज वक्त तो मालूम होता, कि उनके मुँह में जबान ही नहीं है। मैं पहिले भी उनकी कुछ कृतियों को पढ चुका था और अब की तो और पढने तथा साथ काम करने का मौका मिला था, इसलिये मैं उनका प्रशसक रहा।

पौने तीन महीने की इस छुट्टी में रूसी भाषा और दूसरी पुस्तकों के अध्ययन के अतिरिक्त कुछ इधर-उधर घूमना, लेनिनग्राद के भिन्न-भिन्न स्थानों को देखना तथा मित्रो से मिलना यही काम था। जुलाई-अगस्त में यद्यपि विश्वविद्यालय बन्द हो गया था, किन्तु अध्यापकों और विद्यार्थियों को पुस्तकों की आवश्यक्ता छुट्टी के दिनों मे भी हो सकती है, इसलिये युनिवर्सिटी के प्राच्य और दूसरे विभागों के पुस्तकालय बराबर खुले रहते थे। इससे पुस्तकों का बड़ा सुभीता था। युनिवर्सिटी का एक केन्द्रीय पुस्तकालय था, फिर उसके विभागों के अलग अलग पुस्तकालय भी थे। जिनमे से हमारे प्राच्य विभाग के पुस्तकालय मे चार लाख से भी ऊपर पुस्तकें थीं। तुलना कीजिये इससे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से, जिसमे पुस्तको की सख्या मुश्किल से आधे लाख है। पुस्तकों के सिलसिले में मैं अक्सर प्राच्य पुस्तकालय में जाता था। सारे विश्वविद्यालयें में स्त्री-राज्य था। जब छात्रो में लडको की संख्या पन्द्रह और बीस सैकडा हो, तो पुस्तकालय के बारे मे क्या कहना है— पुस्तकालय तो खास तौर से स्त्रियों का विभाग समझा जाता है। २० जुलाई

को मैं पुस्तकालय में था, वहा की महिलाये पत्र में छपी एक कहानी को बडे गौर से पढ रही थीं। उन्होंने आग्रह-पूर्वक लोला को भी उसे पढने को कहा। मै भी दो महीने में कुछ कुछ टो-टा कर पढने लगा था और कुछ दूसरो ने भी सहायता की, इसलिये कहानी का साराश मालूम हो गया। कहानी का नायक एक सैनिक अफसर युद्ध-क्षेत्र में था। वहा किसी तरुणी से उसका प्रेम होगया। लड़ाई के समय तक तो दोनों प्रेमी मिलते रहे। लडाई खतम हो गई, सैनिक घर लौटने लगे। अफसर घर आया। तरुणी आशा करती थी कि उसका प्रेमी अवश्य उसके पास आयेगा, किन्तु देर तक प्रतीक्षा करने पर भी जब नहीं आया, तो तरुणी अपने प्रेमी के घर पहुँची। देखती है, वहा एक ४५ वर्षीया प्रौढा अफसर की पत्नी मौजूद है। वह बहुत निराश हुई और अपने प्रेम का स्मरण दिलाते हुए अनुनय विनय करने लगी, मगर अफसर अपनी प्रौढा पत्नी को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। उसकी एक लडकी बच गयी थी, दो बच्चे लेनिनग्राद के घेरे के समय मर चुके थे। अफसर अपनी पत्नी को छोड़ कर उसे असहाय बनाने के लिये तैयार नहीं था। तरुणी को सावधान रहने की शिक्षा मिली और पुरुषों की निष्ठुरता के लिये गाली देते वह घर लौट गयी।

सारी महिलायें इतने चाव से उस कहानी को क्यों पढ रही थी? चार साल के खूनी युद्ध में स्त्री कहीं और पुरुष कहीं बिखर गये थे। बहुतसे सैनिकों के परिवार गाव छोड़ कर दूसरी जगह चले गये थे, जहा से भेंट-मुलाकात की तो बात ही क्या चिट्ठी-पत्री भी मुश्किल से आती थी। कितनी ही स्त्रियों ने समझ लिया, कि हमारा घरवाला अब जीवित नहीं होगा। उक्त कहानी जैसी घटनायें हर जगह पायी जाती थीं। वेर्था के सैनिक पति ने लाम पर जा दूसरी तरुणी से प्रेम कर लिया और बेचारी मुँह ताकती रह गई। जेनिया का पति भी नये प्रेम में फँसकर न जाने कहा चला गया। अन्ना का पति महीनों से पत्र नहीं भेज रहा था, इसलिये वह भी चिन्तित थी। इस कहानी में ऐसी अभागी पत्नियों के पक्ष का समर्थन किया गया था, इसीलिये कहानी इतने ध्यान से पढी जा रही थी।

अगस्त के पहिले हफ्ते में हमारे मकान के पीछे की क्यारियाँ बड़ी हरी

भरी थीं। यद्यपि खेतिहरों मे से कुछ ने परिश्रम ही नहीं अधिक किया था बल्कि अच्छी खाद के साथ दिमाग भी लगाया था। किन्तु लोला ने तो किसी तरह से फावड़े से जमीन को खुरोच कर उसी तरह आलू काट कर ढाक दिये थे, जैसे बाढ के हटने पर बढैया टाल (मुगेर-जिला) के किसान साल में एक ही बार हल बैल लेजा कर बीज डाल आते हैं और फिर काटने के ही समय उसका ध्यान रखते हैं। यद्यपि मकानो के सीमेन्ट के चूरन तथा दूसरी चीजें भी हमारी क्यारियों में पडी थीं, लेकिन जमीन स्वभावत उर्वर थी, इसलिये आलू अभी ही दो-दो तीन तीन तोले के हो गये थे।

८ अगस्त को शाम के वक्त ११ बजे रेडियो ने कहा—अभी हम मास्को से एक महत्वपूर्ण खबर देने वाले हैं। लोला ने पूछा—क्या महत्वपूर्ण खबर होगी? मैंने जरा भी बिलम्ब किये कह दिया—जापान के साथ युद्ध-घोषणा। दो मिनट बाद ही मास्को रेडियो को युद्ध-घोषणा करते सुन कर लोला को बहुत आश्चर्य हुआ। पूछा—कैसे तुमने बतलाया? मैंने कहा—"इदुस् (हिन्दू) होने का फायदा क्या, यदि मैं इतना भी न बतला सकू?"

—नहीं नहीं, सच बतावो।

मैंने कहा—यह कोई जोतिस का चमत्कार नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ऐसी ही है, बर्लिन में मित्र-शक्तियो के प्रतिनिधियो ने स्तालिन की मागों का समर्थन किया है। इगलैंड की अन्तर्राष्ट्रीय नीति मे भी परिवर्तन हुआ है। चीन के प्रधान मंत्री और विदेश-मत्री दो-दो बार मास्को पधार चुके हैं। मगोलिया के प्रधान-मत्री का अभी अभी मास्को में आगमन हुआ। हिटलर के पराजय के बाद जापान की पराजय निश्चय है। पूर्वी यूरप मे जिस तरह रूस ने अपना प्रभाव बढाया, यदि पूर्वी एसिया मे भी वह अपना प्रभाव उसी तरह बढाना चाहता है, तो चीन से भगाकर जापान से घुटना टिकवाने के लिये रूस को उसके विरुद्ध युद्ध-घोषणा करनी आवश्यक है।

बाहरी दुनियां की खबर जानने का साधन इस वक्त मेरे पास केवल स्थानीय रेडियो और रूसी दैनिक थे। भाषा की कठिनाई के कारण बहुत माथापच्ची करने पर भी पचास प्रतिशत से अधिक मै नहीं समझ पाता था।

४-नून-तेल-लकड़ी

नून-तेल-लकड़ी मानव की सबसे बड़ी समस्या है। देवता इसीलिये मनुष्य से बड़े हैं, कि उनको नून-तेल-लकड़ी की चिन्ता नहीं है। भारत मे तो आज (१९५१ के अन्त में) युद्ध के छ वर्षों बाद भी यह सबसे बड़ी समस्या है। राशन मे पर्याप्त चीजें नही मिलतीं, जान पड़ता है अब अतिथि सेवा धर्म इस देश से उठ जायेगा। चीजें सभी मिल सकती हैं, यदि आप दुगना-तिगुना दाम देने के लिये तैयार हो। खाने-पीने की चीजो मे शुद्धता का सवाल ही नहीं है। मैं अपनी दूसरी रूस यात्रा से लौटते समय अफगानिस्तान और रूस की सीमा पर अवस्थित वक्षु नदी के दाहिने किनारे पर अवस्थित तेरमिज नगर मे ठहरा हुआ था। व्यापार के सिलसिले मे कुछ अफगानी भी उसी सराय मे ठहरे थे। बेचारे हलाल-हराम का विचार कर के मास तथा बहुतसी खाने की चीजें अपने साथ लाये थे, क्योंकि वह जानते थे कि सोवियत मध्यएसिया मे यद्यपि अब भी अब्दुल्ला, रहीम और करीम जैसे ही नाम सुनने मे आते है, किन्तु वहा अब हलाल किये हुये जानवर का गोश्त मिलना मुश्किल है। लेकिन घर का लाया गोश्त कितने दिन ठहरता। जब वह खतम होगया, तो उन्हे चिन्ता प..।

वह ऐसे देशके रहनेवाले थे, जहां आदमी अभी पूरी तौरसे घासखोर नहीं बना है। सरायके चौकीदार से मिन्नत करने पर उसने बड़े तपाक से कहा— हो, हम कलखोज से ताजा गोश्त ल्या देते हैं। मैंने चौकीदार से हंसकर पूछा— दोस्त, तुम कलखोज से हलाल गोश्त ल्या दोगे?

उसने हसते हुए कहा— बेवकूफ हैं, जानवर को तक्लीफ दे देकर मार के जो गोश्त तैयार हो, उसको हलाल कहते हैं। अब ऐसे मारनेवाले हमारे देशमे शायद कोई मुलटा ही हो। इसी तरह हमारे यहां भी अभी शहरों के कुछ लोग शुद्ध-घी की बात करते हैं और शुद्ध घी के नामपर उनको मिलता है अशुद्ध वनस्पति। हिमालय के जौनसार और जौनपुर जैसे सीधे-सादे पहाड़ी भी जब टिन के टिन दलदा इस अभिप्राय से ढोये लिये जाते हैं, कि दूध मे इसे मिलाकर मक्खन निकाल के घी बना लेंगे और शुद्ध घी के नाम पर दुगुने दाम पर बाबू लोगों को बेच देंगे; तो हमारे नीचे के अधिक होशियार नागरिकों और ग्रामीणों की बात ही क्या करनी है। मैं तो मानता हूं— यदि दलदा ही खाना है, तो बेवकूफ बनकर घी के नाम से क्यों खाया जाय।

मैं रूसमें, जर्मनी की लड़ाई के समाप्त होने के थोड़ी ही देर बाद पहुचा था। रूस की अन्नदायिका भूमि का बहुत बड़ा भाग जर्मनों के हाथ मे चला गया था। अब उनके हाथ से मुक्त हो जाने के बाद भी वह युद्ध की ध्वसलीला के कारण अभी इस अवस्था में नहीं थी, कि पहिले का आधा भी अन्न दे। लेकिन रूसियों ने "अधिक अन्न उपजाओ" का मज़ाक करके प्रोपेगेंडा पर करोड़ों रुपया बेकार खर्च नहीं किया, बल्कि उन्होंने अन्न उपजाने के लिये नहरों के पानी और खादकी आवश्यक्ता होती है, इसे समझ कर, उस ओर पूरा ध्यान दिया। बाबर की जन्मभूमि फरग़ाना के इलाके के किसानों ने कहा—हम अपना जागर (शारीरिक परिश्रम) देने के लिये तैयार हैं, हमें इंजिनियर, और सिमेन्ट-लोहा आदि सामग्री सरकार दे, तो हम यहा एक बड़ी नहर खोद डालें। सरकार ने इंजिनियर और सीमेन्ट-लोहा-लकड़ी का ही इतजाम नहीं कर दिया, बल्कि देश के जन्म और मृत्यु के बीच में लटकते रहने के समय भी अपनी आखों के सामने से दिया और

कला के महत्व को हटने नहीं दिया। उन्होने कुछ इतिहासज्ञ और पुरातत्वज्ञ भी वहां भेज दिये, किसानो को समझने के लिये उनकी मातृभाषाओ मे छोटे छोटे पम्फ्लेट छापकर बाटे, जिसमें कहा गया था— साथियो, ध्यान रखना यह नहर उस भूमि पर से जा रही है, जहा से कि चीन से युरोप जानेवाला रेशम-पथ डेढ हजार वर्षों तक चलता रहा। उस समय यहां अच्छे अच्छे नगर थे, जो पीछे की लड़ाइयों में ध्वस्त हो गये। यहां पर ऐसी ऐतिहासिक पुरातात्विक महत्त्व की चीजें मिलेंगी, जिनसे हमारे इतिहास के ऊपर नया प्रकाश पड़ेगा, इसलिये खुदाई करते समय ध्यान रखना, जिसमें यहां से निकली कोई ईंट, मृत्पात्र, मूर्ति या और कोई चीज फावड़े कुदाल से टूटने न पाये। इतना ही नहीं बल्कि सरकार ने पुरातात्विक सामग्री इकट्ठा करने के लिये वहा बाईस लोरिया रखदीं, जो सामग्री को सुरक्षित स्थान पर पहुचाती थीं। फर्गाना जैसी और भी कितनी नहरें लड़ाई के समय में सोवियत राष्ट्र में बनाई गईं, जिनके कारण वहा अन्न की उपज बढाने में खूब सफलता मिली। राशन का प्रबन्ध इतना अच्छा था, कि आदमी के लिये आवश्यक चीजें सस्ते दामों मे मिल जाती थीं। जुलाई का जो राशनकार्ड हमे मिला था, उसमें महीने भर के लिये निम्न परिमाण में चीजें मिलती थीं—

चीनी ९०० ग्राम ५० (ग्राम के १८ टुकड़े)

क्रुपा (खिचड़ी के लिये गेहूं या चना) १९६० ग्राम

मास-मछली १८०० ग्राम

मक्खन ८०० ग्राम

रोटी (काली) १२४०० (४०० ग्राम के इकतीस टुकड़े)

रोटी (सफेद) ६२०० ग्राम।

यह हमारे जैसे वयस्कों के लिये थे। ईगर जैसे पांच-छ सालके बच्चों के लिये चीजें निम्न प्रकार मिलती थीं—

क्रुपा १२०० ग्राम

मक्खन ६०० ग्राम

रोटी (काली) ६२००
रोटी (सफेद) ६२००
चीनी ५०० ग्राम ।

बड़ो को प्रतिमास २२-१ किलोग्राम रोटी मिलती थी, और बच्चों को १४ किलोग्राम—किलोग्राम हजार ग्राम या प्राय सवा सेर के बराबर होता है ।

चोर बजारी का वहा नाम-निशान नहीं था, क्योंकि अपनी उपजाई चीजो के अतिरिक्त दूसरे की चीजों को खरीदकर अधिक नफे के साथ बेचनेवाला (बनिया) अपराधी समझा जाता था । राशन से चीजे सस्ती मिलती थीं, लेकिन यदि कोई राशन से अतिरिक्त खरीदना चाहता था, तो उसके लिये सरकार ने राशनवाली दूकानों के अतिरिक्त बहुत सी बिना राशन की दूकानें भी खोल रखी थीं, जहां आदमी दस-गुनी बीस-गुनी कीमत पर चाहे जितनी मात्रा में चीजों को ले सकता था । इसी तरह अगर कोई अपने राशन की चीज को बेचकर बदले मे दूसरी चीज खरीदना चाहता, तो उसमें कोई रुकावट नही थी । आप सिगरेट के शौकीन हैं और दूसरा चीनी का शौकीन है । आप अपनी सिगरेट को हाट में जाकर किसी आदमी को बीस गुने दाम पर दे दीजिये, और स्वय भी चीनी की इच्छा न रखनेवाले आदमी से बीस-पचीस गुने दाम पर चीनी खरीद लीजिये । चीजों में मिलावट करना वहां संभव नहीं था, क्योंकि जनता के खाद्य में मिलावट करना भारी अपराध समझा जाता था, जिसके दंड से आदमी अपने को किसी तरह भी बचा नही सकता था । राशन की दूकानों और हाट की (रीनक) अथवा कलखोज (पंचायती खेती) वाली चीजों के दामों में कितना अन्तर था यह मैं अपनी बीस जुलाई १९४५ की डायरी से देता हू— (दाम रूबल मे हैं)

चीज		राशन	रीनक या कलखोज
मास	१ किलो	१२	२५०
मछली	”	१२	..
मक्खन	”	२७	४००

पनीर (अमेरिकन)	”	३५	...
(देशी)	”	३१	...
चीनी	”	९	२००
अंडा (दर्जन)		६ ५०	६६
रोटी (सफेद)	१ किलो	२. १२	५०
रोटी (काली)	”	१ १०	२५
कुपा	”	२	
चावल	”	६. ५०	१००
आलू	”	२	६०
कपुस्ता (खट्टी गोभी)	”	१. ५०	३०
चवीन (सोया)	”	४. ६०	५०
मन्ना (जौ-चूर्ण)	”	४ ४०	८०

इसी प्रकार वस्त्र भी राशन और बेराशन का था—

स्त्री-पोशाक (रेशम)	३००	१०००
स्त्री-पोशाक (सूती)	६०	
गोलोस (बूट)	२५	१००
मोजा (रेशमी)	१०	१५०
मोजा (सूती)	५	५०

वहा कम से कम वेतन वाला ढाई-तीन सौ रूबल महीने मे पाता था, और प्रत्येक घरमे कम से कम दो कमानेवाले तथा साथ ही तीसरे या चौथी सतान के बाद का खर्च सरकार बर्दाश्त करती थी। लड़ाई के समय की असाधारण अवस्था मे राशन के कार्ड को देखने से मालूम होगा, कि मनुष्य की अत्यावश्यक खाने-कपड़े जैसी चीजों को बहुत सस्ता रक्खा गया था। वहां के शासक अच्छी तरह जानते थे, कि राशन में जो चीजें मिलती हैं, उतने ही से कितने ही लोग संतुष्ट नहीं हो सकते। जिनके पास अधिक पैसा है, वह और भी चीजें खरीदना चाहेंगे। यदि सरकार उनकी अतिरिक्त इच्छा और अतिरिक्त पैसे

का कोई ठीक प्रबन्ध नहीं करती है, तो चोर बाजारी का रास्ता खुल जायेगा, इसलिये सरकार ने अपनी बिना राशन की दूकानें भी खोल दी थीं। यदि आप अतिरिक्त पैसा खर्च करना चाहते हैं, तो आइये इन बिना राशन की दूकानों में दस-बीस गुना दाम चुकाइये और अपनी मनचाही चीज ले जाइये। शायद कुछ लोग इन बिना राशनवाली दूकानों की बात सुनकर झट कह उठेंगे— यह तो सरकार स्वयं चोर-बाजारी करने लगी। लेकिन सरकार न आपको पैसा खर्च करने के लिये मजबूर करती है और न दस-गुना बीस-गुना दाम किसी चोर बाजारी सेठ के पाकेट में जाता है। यह अरबों रुपया जमा हो कर सरकार की बडी बडी आर्थिक योजनाओं में खर्च होता है, जिससे सारे देशकी सम्पत्ति बढेगी, उपज की वृद्धि से चीजों का दाम घटेगा, और पूरा लाभ उठाने का आपको मौका मिलेगा।

भोजन का प्रबन्ध लोग अपने घर में करते हैं। विश्वविद्यालय की वाइस-चांसलर महिला को भी आप रोज अपने पाकशास्त्र का परिचय देते पायेंगे। तो भी ऐसा प्रबन्ध है, यदि आप किसी दिन या बराबर घरमें खाना न बनाना चाहें, तो आपको अपना कार्ड देकर सस्ता और पुष्टिकारक भोजन मिल सकता है। इसके-लिये हरेक मुहल्ले में सामूहिक भोजनालय हैं। कारखानों और विश्वविद्यालयों जैसी संस्थाओं में भी अपनी अपनी सामूहिक भोजनशालायें तथा बूफेत (उपाहारगृह) हैं। जून (१९४५) को हमने विश्वविद्यालय के भोजनालय के खटरस को चखने का विचार किया। सवा रूबल (बारह आना) मे सूप और कासा (मक्खन सहित चीना की खिचडी) तृप्त होनेभर के लिये मिली। जहा एक ओर हम राशन टिकट पर बारह आने में पेटभर भोजन कर सकते थे, वहा राशन बिना सवा सेर मास के लिए २५० रूबल, सवा सेर मक्खन के लिये ४०० रूबल, सवा सेर चरबी लिये ३०० रूबल, सवा सेर चीनी के लिये २०० रूबल देना पड़ता। इन दोनों तरह के भावों को देखकर मेरी भी अक्ल पहिले चकराई थी, लेकिन जब मैंने देखा कि राशनकार्ड पर आदमी ढाई रूबल में दो वक्त पेटभर खा सकता है अर्थात् ३८-४० रुपये में महीने भर भोजन कर सकता है,

तो सारा संदेह दूर हो गया। वहां कोई बेकार नहीं था, यही नहीं बल्कि काम के लिये जितने आदमियों की आवश्यकता थी, उतने मिलते नहीं थे।

१९४६ की बात है। पूरब पच्छिम दोनों तरफ की लड़ाइयां खतम हो चुकी थीं और सोवियत जनता अपने पुनर्निर्माण के कार्य मे बड़े जोर से लगी हुई थी। हिसाब लगाने से मालूम हुआ, कि कई लाख ऐसी स्त्रियां हैं, जो स्वयं काम न कर अपने पति या दूसरों की कमाई पर जीती हैं। यदि उन चालीस पचास लाख कामचोर औरतों को काम में लगाया जा सके, तो हलके कामों मे हटाकर चालीस पचास लाख पुरुषों को अधिक मेहनत के कामों पर लगाया जा सकता है। यह सोच सरकार ने नियम बना दिया कि अब से उन्हीं लोगों को राशन कार्ड मिलेगा, जो कि किसी राष्ट्रनिर्माण के कार्य में लगे हुए हैं, अथवा स्वास्थ्य, वार्धक्य आदि के कारण काम नहीं कर सकते। मेरे पड़ोस मे एक जारशाही युग के मध्यवित्त कुल की प्रौढा स्त्री थीं। पुराना सस्कार था, इसलिये काम करने की जगह सिंगार पटार करके उपन्यास पढना उन्हें अधिक पसंद था। इस नियम के लागू होते ही उन्हें काम करने के लिये मजबूर होना पड़ा, क्योंकि अब पति की कमाई से पन्द्रह बीस गुना दाम देकर रोटी-मक्खन खरीदना बस की बात नहीं थी। हजार गाली देते हुए बेचारी को काम करने के लिये जाना पड़ा। काम भी कोई भारी नहीं था। किसी दफतर मे लिखने-पढने अथवा किसी राशन या बेराशन की दूकान मे बेचने के लिये कुछ घंटे दे देना काफी था।

५—प्रोफेसरी

अबकी बार लेनिनग्राद विश्वविद्यालय मे मुझे संस्कृत पढाने के लिये निमंत्रित किया गया था। पहली बार मैं १९३५ मे जापान से लौटते वक्त योंही रूस की यात्रा खड़े खड़े कर आया था। उस समय मेरा वहां के विद्वानों मे कोई संपर्क नहीं हो पाया, क्योंकि मास्कों में एक-दो-दिन से अधिक मैं ठहर नहीं सका था। फ्रान्स में रहते समय (१९३२ में) प्रो० सेलवन लेवी ने डा० सर्ज ओल्दनबुर्ग के नाम एक परिचयपत्र दे दिया था, किन्तु मैं उस समय रूस नहीं जा सका। डा० श्चेर्वात्स्की की पुस्तकों से मैं परिचित था और मेरे ग्रन्थों तथा तिब्बत की खोजों से वह भी परिचित थे, इसलिये हम लोगों का पत्र-व्यवहार द्वारा परिचय ही नहीं घनिष्ठता स्थापित हो चुकी थी। जब १९३५ में मैं मास्को से लेनिनग्राद नहीं जा सका, तो उनको बहुत अफसोस हुआ था। उन्होंने १९३७ में विशेष आग्रह से अकदमी की ओर से निमंत्रित करके मुझे बुलवाया था, किन्तु कई कारणों से मैं वहां कुछ ही महीने ठहर सका। अब युद्ध के समय तीसरी बार फिर मेरा जाने का इरादा हुवा और डाक्टर श्चेर्वात्स्की के पूर्व प्रयत्नों के कारण लेनिनग्राद युनिवर्सिटी ने मुझे संस्कृत पढाने के लिये बुलाया था।

निर्भर करता है। हमारे यहा हाईस्कूल तक गरीबो के लडको का पहुचना मुश्किल है, आगे तो असंभव है, लेकिन वहा के छात्र को इसकी कोई चिन्ता ही नहीं है। युनिवर्सिटी या कालेज के छात्रों मे नब्बे प्रतिशत सरकारी छात्रवृत्ति से पढते हैं। दस प्रतिशत वही लडके हैं, जिनके मा-बाप अच्छा वेतन पाते हैं। इस प्रकार जिसकी इच्छा आगे पढने की है, उसके रास्ते मे कोई आर्थिक कठिनाई नही है। इसका परिणाम यह भी होता है, कि न चल सकनेवाले लडके भी आकर विश्वविद्यालय में दाखिल हो जाते हैं। मैंने पहिली सितम्बर (१९४६) को विश्वविद्यालय खुलते समय प्रथम वर्ष मे बाइस-तेईस लडके-लडकियो को देखा, तो बडी प्रसन्नता हुई। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद मालूम हुआ, कि उनमें से कितने ही व्यर्थ पढने आये हैं। उनकी सस्कृत जैसे रूखे विषय की तरफ कोई रुचि नहीं थी, न भाषा सीखने का कोई शौक था। पहिले की कोई तैयारी तो थी ही नहीं। मैं सोचता था— सरकार क्यो इतने पैसे इन छात्रो के ऊपर बर्बाद कर रही है। मैं अपने साथी अध्यापकों से बल्कि पूछता भी था। लेकिन, कुछ महीनो बाद मैंने देखा, कि कक्षा के सात-आठ छात्र वहा से छोडकर दूसरे विषय मे चले गये। यद्यपि कुछ रुपयों का अपव्यय जरूर होता है, लेकिन अनुभव द्वारा परीक्षा किये बिना, पता ही कैसे लगेगा, कि कौन छात्र भारतीय विद्या या भाषातत्व की ओर आगे बढ सकता है।

भिन्न-भिन्न विषयों के अनुसार रूसी विश्वविद्यालय मे भी अलग अलग विभाग (फाकुलतात, फेकल्टी) हैं। जिनमें एक फेकल्टी प्राच्य विद्याओं की है। इस फेकल्टी मे मिश्र से जापान तक की भाषाओ, उनके साहित्य, इतिहास आदि के पढने का प्रबन्ध है। रूसी विद्वान पहिले पहल तिब्बती साहित्य द्वारा भारत से परिचित हुए। सोलहवीं सदी में ही रूसी राज्य बढते हुए साइबेरिया के भीतर पहुंच गया था। सत्रहवी-अठारहवी शताब्दियों मे रूसियों का बौद्धधर्मी मगोलो से परिचय हुआ, जिनकी धार्मिक पुस्तकें प्राय तिब्बती भाषा मे होती हैं। इस प्रकार तिब्बती भाषा से रूसी विद्वानो का परिचय हुआ और पीछे उन्हें मालूम हुआ, कि तिब्बती भाषा के विशाल साहित्य का बहुत बड़ा भाग सस्कृत से

अनुवाद होकर आया है । फिर उनका ध्यान संस्कृत की तरफ गया । अठारहवीं शताब्दी के अन्त मे पश्चिमी यूरोप के विद्वानों को पता लगा, कि भारत की एक प्राचीन भाषा संस्कृत है, जो उसी वंशकी भाषा है, जिसके वंशज आजकल के यूरोपीय लोग हैं । बॉप और दूसरे भाषातत्व-वेत्ताओ ने अपनी खोजो से असंदिग्ध रूप मे इस बात का निश्चय करा दिया, कि संस्कृत और भारत की और भी संस्कृत-वंशी आधुनिक भाषाओ का मूल स्रोत वही है, जो कि ग्रीक, लातिन और आधुनि यूरोपीय भाषाओ का । इस आविष्कार के कारण यूरोप मे एक भारी हलचल सी मच गयी और वहा के विश्वविद्यालय अपने अपने यहा संस्कृत पढाने का प्रबन्ध करने लगे । यह बात जब रूसियो को मालूम हुई, तो उन्होंने भी अपने विश्वविद्यालयों मे संस्कृत के पठन-पाठन-का प्रबन्ध करना चाहा । उस समय लेनिनग्राद का नाम पितरबुर्ग था और यही रूस की राजधानी थी । तिब्बती और मंगोल भाषाओ का परिचय रूसियों को बहुत पहले से था और उन्हीं के साहित्यों द्वारा बौद्धधर्म से परिचय करके उन्होने बौद्धधर्म पर पुस्तके भी लिखीं । यह भी उन्हे मालूम हो चुका था, कि बौद्धधर्म भारत से आया है और वहा का पुराना साहित्य संस्कृत में है । पहिले पहिल त्वेर (आधुनिक कलिनिन) नगर निवासी अथानिउस निकितिन ईरान हो समुद्री मार्ग से दिव (काठियावाड) मे उतर कर १४६६ ई० मे बिंदर (बहमनी राजधानी) मे पहुँचा और वहा छ साल तक रहा । निकितिन ने यद्यपि अपनी यात्रा के सबंध मे एक पुस्तक भी लिखी, किन्तु वह कोई भाषा-तत्वज्ञ नहीं था, इसलिये उसने भाषा के बारे मे अधिक परिचय कराने में सफलता नहीं पाई । लेकिन गेरासीम लेबेदोफ नामक एक रूसी गायक अठारहवीं सदी के अन्त में लंदन के रूसी दूतावास में नौकर होकर गया था । उसे अंग्रेजों से पता लगा कि हिन्दुस्तान मे पगोदा का वृक्ष होता है, जिसको जरा सा हिला देनेपर सोने की अशर्फिया झर पडती हैं । कितने ही और अंग्रेज तरुणों की तरह गेरासीम भी ईस्ट इंडिया कंपनी का क्लर्क बन १७८५ ई० मे फोर्ट विलियम (कलकत्ता) पहुँचा । पगोडा वृक्ष उसे कहा मिलता, लेकिन उसने अपनी जीविका के लिये कलकत्ता में एक नाट्यशाला

दिया गया । विद्यार्थियों को एक उप-विभाग मे दाखिल होकर केवल भाषा ही पढ़ना नहीं पड़ता, बल्कि साथ ही उस देशकी पूरी जानकारी के लिए और भी आवश्यक विषयो का अच्छा परिचय प्राप्त करना पड़ता है । उदाहरणार्थ हमारे उपविभाग के छात्रों को जहा पाच वर्षों तक संस्कृत हिन्दी पढना अनिवार्य था, वहा साथ ही तथा भिन्न-भिन्न वर्षों में एक-दो भारत की प्रादेशिक भाषाओ को भी पढना पड़ता है। भारतीय इतिहास, भारतीय साहित्य, भारतीय धर्मो का ही नहीं बल्कि भारतीय नृतत्व एवं भारतीय अर्थशास्त्र भी अनिवार्य था । विश्वविद्यालय के यही स्नातक सोवियत रूस और भारत के बीच राजनीतिक, सामाजिक सास्कृतिक, व्यापारिक आदि संबध स्थापित करने में मुख्य तौरमे भाग लेंगे, इसलिये उनकेलिये भारत और भारतीयों का पूरा ज्ञान आवश्यक समझ कर वैसी ही शिक्षा दी जाती है।

प्रोफेसर होने के कारण मुझे हफ्ते मे बारह घटे पढाना पड़ता । मैं मंगल, वृहस्पति और शनैश्चर को पढाने जाता । पहिले साल मुझे संस्कृत और हिन्दी पढाना पडता था, दूसरे साल तिव्वती भी । हमारे विभाग मे १९४७ के आरम्भ में चालीस के करीब छात्र-छात्राये थे और अध्यापिकाओ की संख्या सात-आठ। अकदमिक वराचिकोफ् उपविभाग के अध्यक्ष और मै प्रोफेसर, वाकी लेक्चरर (दोत्सेन्त) थे— श्री कलियानोफ सस्कृत के, श्री विस्कोवनी और श्रीमती दीना गोल्दमान हिन्दी के अध्यापक थे । इनके अतिरिक्त वगला भाषा के भी अध्यापक थे। श्री सुलेकिन राजनीति और अर्थशास्त्र पढाते थे ।

सितम्बर-अक्तूबर तक कुछ नयापन अवश्य मालूम हुआ, उसके वाद तो जीवन सरल रहा । मेरी उच्च कक्षा (चतुर्थ वर्ष) में दो लड़कियां थीं, जिनमे से एक (वेर्था) साधारण शिक्षिता मध्यम-वर्ग की यहूदी लड़की थी और दूसरी (तान्या) पुराने सामान्त कुल की । छात्र-छात्राओं से निस्संकोच वातचीत करने और मिलने-जुलने से रूसके नागरिक जीवन की वहुतसी वाते मालूम होती थीं । उस वक्त लडाई के कारण वहुत से मकान गिर गये थे । यद्यपि मकानो के पुनर्निर्माण मे वडी तत्परता थी, लेकिन लेनिनग्राद मे तो मकान

खड़े नहीं हो सकते थे । लोगों को मकानों का कष्ट अवश्य था । कष्ट इस अर्थ में, कि सबको यथेच्छ कमरे नहा मिल सकते थे । मैं प्रोफेसर था । मुझे कमसे-कम तीन कमरे तो मिलने ही चाहिये थे, लेकिन मेरे पास केवल दो थे । रेक्तर और दूसरे कोशिश कर रहे थे, लेकिन वह कठिनाई इतनी जल्दी दूर थोड़े ही हो सकती थी । मैं तो दो में भी सतुष्ट था । एकदिन मकानों की कठिनाई के बारे में बातचीत होने लगी । मैंने कहा— एक कमरा दो व्यक्तियों के परिवार के लिये काफी है । साधारण वर्ग की लडकी ने भी इसमें कोई आपत्ति नहीं की, लेकिन दूसरी तरुणी कहने लगी— मुझे तो पांच कमरे चाहिये । मैंने कहा— पाच कमरे लेकर तो उनको साफ-सुथरा रखने में ही तुम मर जाओगी । उसने कहा— इसकी परवाह नहीं, मैं साफ कर लूगी ।

रूस साम्यवादी देश है । साम्यवादी अर्थनीति पर वहा चलना पड़ता है, और बरताव में भी समानता दिखलाना शिष्टाचार माना जाता है । जाडों में युनिवर्सिटी के कमरों को गरम करने के लिये आग जलाना पडता था । युनिवर्सिटी के हमारे विभाग की इमारत आजसे सौ-डेढ-सौ वर्ष पहले बनी थी । उस वक्त केन्द्रीय तापन का आविष्कार नहीं हुआ था, और लकड़ी जलाकर मकान गरम किया जाता था । हमारे कमरों को लकड़ी डालकर गरम करनेवाली स्त्री, हमारे देश की मजूरिन जैसी थी । किन्तु उसके साथ भी प्रोफेसर हो चाहे अकदमिक बराबिकोफ, बराबर का बर्ताव करते हुए उससे हाथ मिलाना, उसके सामने टोप हटाकर शिष्टाचार प्रदर्शित करना कर्त्तव्य मानते थे । यही नहीं मत्री के बराबर वेतन पानेवाले प्रोफेसर के लिये भी घरमें ईंधन के लिये लकडी फाड़ना, वर्तन मलना, झाड-बुहार कर घरको साफ करना, तथा कितने ही कपड़ों को भी धोना करणीय था । लकड़ी चीरने का काम तो मुझे नहीं करना पड़ा, उसमें लोला निष्णात थी, मुझे डर लगता था, कि कहीं कुल्हाटा पैर पर न चल जाय । लेकिन वर्तन मलना तो मेरी ड्यूटी थी । जाडों में इससे बहुत तकलीफ होती थी, जबकि चालीस पचास डिगरी (फार्न०) के तापमान के हाथ ठिठुरा देनेवाले पानी मे वर्तनो को धोना पडता । लोला गरम पानी करके रख देती थी, लेकिन मुझे नलके के बहते पानी मे वर्तन धोने मे

समय की बचत मालूम होती थी, इसलिये सुई की तरह चुभते पानी मे बर्तन धोना चाहता था। घरके लिये नौकर रख सकते थे, और नौकर मिल भी जाते, लेकिन जिनको दूसरी जगह तीन सौ रूबल मिलता, वह छ सौ मागता। पीछे हमने एक साल नौकर रखा भी, लेकिन राशन की चीजें पर्याप्त नहीं थीं, कि नौकर का भी गुजारा हो, और मेहमानों का भी, इसलिये उसे हटा देना पडा। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि वहा के नौकर और किसी भी पूंजीवादी देश के नौकर में बहुत अन्तर है। वैसे इंगलैंड मे भी घर के नौकर समय के अनुसार आते और काम करते हैं। हमारी नौकरानी मान्या समय के अनुसार आती थी। बडी भलीमानुस थी, आवश्यकता पडनेपर और समय भी दे देती थी। अतवार को नौकर को छुट्टी रहती और मालिक-मालकिन को घरका सारा काम अपने ही हाथों करना पड़ता। जहातक खाने-पीने उठने-बैठने का सवाल था, प्रोफेसर और उसके नौकर में कोई अन्तर नही था।

बर्तन, भाडे ही क्यो, राशन की दूकान से बीस-पच्चीस सेर सामान पीठपर ढो कर लाना भी प्रोफेसर के लिये कोई हतक-इज्जत नहीं थी। असल मे वहा बहुत कम ही घरों में नौकर थे। किसी आदमी से अगर अस्थायी तौरसे काम लें, तो मजूरी बहुत देनी पडती। डेढ-दो-मन लकडी चीर देने के लिये जब पच्चीस-तीस रुपया देना हो, तो आप अपने हाथसे लकड़ी चीरना पसद करेंगे। इसीतरह बोझा ढोनेवाले को अगर दो घटे के लिये पच्चीस-तीस रुपया देना पडे, तो आप शारीरिक मेहनत का मूल्य समझने लगेंगे और खुद काम करना पसद करेंगे।

इस यात्रा मे रूस के अपने देखे हुए जीवनों के बारे मे और भी बातें आगे आयेंगी। यहा यह कहकर समाप्त करना चाहता हू, कि रूसी विश्वविद्यालयों का वातावरण हमारे यहा के वातावरण से बिल्कुल दूसरा ही होता है। वहा प्रथम श्रेणी के दिमागों को अधिक वेतन के लालच से दूसरी सरकारी नौकरियों की ओर दौड़ना नहीं पड़ता। जहा प्रोफेसर और मिनिस्टर की तनख्वाह एक हो, प्रोफेसर मिनिस्टरी के बड़े बडे अफसरों से भी ज्यादा वेतन और सम्मान के भागी है



लेनिनग्राद युनिवर्सिटी के भारत-तत्व विभाग के अध्यापक और अध्यापिकाएं
बैठे—बायीं ओर से दूसरे और तीसरे : राहुल और बरान्निकोफ ।



अकदमिक आचार्य अलेक्सी पेत्रोविच् वरान्निकोफ़,
लेनिनग्राद

सक्ता हो, तो प्रतिभाशाली विद्वान् क्यों इधर उधर भटकेगा ?

मेरे निवास-स्थान से विश्वविद्यालय जाने आने में ट्रामपर तीन घंटे लगते थे। युनिवर्सिटीवाले मोटर देना चाहते थे, किन्तु लडाई के प्रभाव के कारण जीप ही मिल सक्ती थी। एक दो-दिन जीप लेने आयीं भी, किन्तु मैं समय पर क्लास मे पहुचना चाहता था और ड्राइवर को उसकी परवाह नहीं थी, इसलिये ट्राम द्वारा जाना ही मैंने पसद किया। कभी कभी मैं किताबों की खोजमें कबाडी दूकानों की धूल फाकता सारी यात्रा पैदल भी करता था। सोवियत में पुस्तकों का अकाल, तो जान पडता है, अभी सालों दूर नहीं होगा। सभी लोगों के शिक्षित तथा हाथ खाली न होने के कारण पुस्तकों के खरीददार वहां बहुत हैं। ५० हजार और १ लाख का सस्करण भी हाथोहाथ बिक जाता है। महत्वपूर्ण नयी पुस्तकों की सूचना पहिले ही निकल जाती है। लेनिनग्राद जैसे बडे बड़े शहरों में नाम रजिस्टर्ड कराने के आफिस हैं। यदि आपने नाम दर्ज करा लिया— जिसमें बहुत जल्दी करनी पडती है, नहीं तो सूची बन्द हो जाती है—तो पुस्तक मिल जायेगी, लेकिन बरस छ महीने बाद और उसमें मध्य-एसिया के इतिहास से सबध रखनेवाली पुस्तकों के मिलने की संभावना नहीं। लेनिनग्राद की सबसे बड़ी सड़क नेव्स्की के पथ पर आधी दर्जन ऐसी दूकानें थीं, जिनमें पुरानी पुस्तकें बिका करती थीं। यह दूकाने किसी कबाडी की नहीं, बल्कि सरकारी या अर्ध-सरकारी सस्थाओं की थीं। दो चार बार जानेपर जब काम की कुछ पुस्तकें मिल गयीं, तो उनके देखने का मुझे चस्का लग गया। "मध्य-एसिया का इतिहास" के लिये मैं अधिकाश पुस्तकें इन्हीं दूकानों से जमा कर मैं भारत लाया।

१८ सितम्बर को मैं पढाने के लिये युनिवर्सिटी गया। एक बजे से पाच बजे तक दो कक्षाओं को हिन्दी और उर्दू पढाना पडा। पहले दो घंटे द्वितीय वर्ष के एक छात्र और पांच छात्राओं के लिये देने पड़े। फिर दो घटे चतुर्थ वर्ष की दो छात्राओं बेर्था और तान्या के लिये। कायदा था— पचास मिनट पढाई फिर दस मिनट विश्राम, फिर (समय से) दस मिनट पहिले ही छुट्टी।

स्कूल की पढाई दस साल में खतम होती है, तब तक उम्र १७ साल या ऊपर हो जाती है। फिर पाच साल युनिवर्सिटी को ग्रेज्यूयेट होने के लिये देने पडते हैं। फिर तीन साल एस्पेरान्त (के लिये)। इन दोनों परीक्षाओं में प्रमाण-पत्र मिलता है, डिगरी नहीं। एस्पेरान्त के बाद तीन या अधिक वर्षों मे डाक्टर होने के लिए निबन्ध लिखना पड़ता है, तब डाक्टर की उपाधि (मिलती है)। २८ साल से पेहले (कोई) डाक्टर नही हो सकता। स्कूल की पढाई मे एक विदेशी भाषा जर्मन, फ्रेंच या अग्रेजी लेनी पडती हैं, जिसे बहुतेरे लड़के आगे भूल जाते हैं। . . युनिवर्सिटी में प्राच्य-विभाग की पढाई के विषय हैं— पहिला साल संस्कृत, हिन्दी-उर्दू, फिर आगे के वरसों में उनके साथ ही बंगला मराठी, फारसी आदि भी लेनी पड़ती है। मुझे भाषाओं की इतनी अधिक भरमार पसंद नहीं आती थी। लेकिन युनिवर्सिटी का पाठ्यक्रम वहुत वर्षों से ऐसा ही चला आया है। द्वितीय वर्ष के छात्रों को देखने से मुझे मालूम हुआ, कि सालभर में उन्होंने हिन्दी उर्दू का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया है।

२० सितम्बर (१९४५ ई०) को मैंने अपनी डायरी में लिखा— "आज ग्यारह से तीन बजे तक पढाई प्रथम और चतुर्थ वर्ष की रही। प्रथम वर्ष में (१९ लडकिया ३ लडके कुल २२) छात्र हैं, जिनमे सिर्फ ३ लडके हैं। अधिकतर छात्र लेनिनग्राद के हैं, किन्तु एक छात्र बाकू से और तीन छात्रायें अल्माअता, वोरोनेज और ररतोफ की हैं। सभी रूमी हैं। आज क-ख पढाया। सब रूसी भाषा में बोलना पडता। एक बजे से तीन बजे तक चतुर्थ वर्ष को "अभिज्ञानशाकुन्तल" पढाना पडा।"

उस दिन ६ से ८ बजे रात तक अध्यापकों की बैठक हुई, जिसमें विश्वविद्यालय के रेक्टर ने भाषण दिया। उस समय विश्वविद्यालय में ५ हजार छात्र थे। साढे तीन हजार अध्यापकों मे चालीस से ऊपर अकदमिक या उप-अकदमिक थे। पाच हजार छात्रो के लिये साढे तीन हजार अध्यापक अधिक हैं, इसमे शक नहीं, किन्तु छात्रों की संख्या लड़ाई के कारण घटी थी और अब वह सालों साल बढ़ रही थी। तो भी इसमे शक नहीं कि सात आठ हजार छात्रों पर

भी साढ़े तीन हजार अध्यापक बहुत होते हैं। लेकिन सोवियत की शिक्षा-प्रणाली मे इसबात का ध्यान रखा जाता है, कि अध्यापक छात्रों के अधिक संपर्क में आवें और उनकी वैयक्तिक जिज्ञासाओं को पूर्ण कर सकें। इस सेमीनार-प्रणाली मे अध्यापकों का अधिक होना आवश्यक है। शिक्षण-संस्थाओं के लिये बजट मे पैसे की कमी नहीं होती, हमारे यहा अभी सेमीनार-प्रथा को स्वीकार करना आसान नहीं है।

———

६—मध्यमवर्ग की मनोवृत्ति

पूँजीवादी पत्रों और लेखकों ने इतना जोरका प्रचार कर रखा है, कि कितने ही ईमानदार लोग भी बाज वक्त इस भ्रम मे पड़ जाते हैं, कि सोवियत रूस में सचमुच ही विचार-स्वातंत्र्य नहीं है। वह समझते हैं कि वहा के लोगों का गला घोट दिया गया है। विचार-स्वातंत्र्य का मतलब बोलने, लिखने की स्वतंत्रता मानी जाती है। इसमें सदेह नहीं कि पुराने स्वार्थों के प्रतिनिधियों के लिये समाचारपत्रों का दरवाजा वैसे ही खुला नहीं है, जैसे कि बिडला आदि के पत्रो मे हमारे जैसे स्वतत्र चेता लेखकों के लिये। इतना अन्तर जरूर है, कि जहा यहां के पत्रों को दस पांच करोड़पति-अरबपति अपने हाथ में करके स्वतत्र विचारों का गला घोंटे हुए हैं, वहा रूस में विरोधी प्रोपेगंडा के लिये यदि स्थान नहीं दिया जाता, तो किसी करोडपति मालिक के कारण नहीं। वहा के दैनिक, मासिक या साप्ताहिक पत्र, या तो "इज्वेस्तिया" की तरह सरकार के मुखपत्र हैं, या "प्राव्दा" की तरह कम्युनिस्त पार्टी के, अथवा वह किसी नगरपालिका, युनिवर्सिटी, मजदूर-संगठन, सैनिक-संगठन, छात्र-सगठन की ओर से निकलते हैं। पत्रों की तो इतनी भरमार है, कि कितने ही कल-खोज

(पंचायती खेती वाले गाव) भी चार पन्ने की शीट निकालते हैं। यह निश्चय ही है, कि जिन संगठनों ने यह पत्र निकाले हैं, वह अपने विरुद्ध प्रचार करने में सहायता नहीं दे सकते। यही बात भाषण-मंचों की भी है। सभी भाषण-मंच किसी न किसी, ऐसी संस्था से संबधित हैं, जो कि पूंजीवाद के विरोधी हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं, कि लोग अपने विचारों को यदि सैकड़ों और हजारों के बीच प्रकट नहीं कर सकते, तो दस-बीस तक भी उन्हें नहीं पहुँचा सकते। यह समझ लेना चाहिये, कि सोवियत-शासन को आर्थिक, और शिक्षा-संबधी क्षेत्रों में जो सफलताएं मिली हैं, वह केवल अभूतपूर्व ही नहीं हैं, बल्कि मात्रा में इतनी अधिक हैं, कि उनसे जनता के निन्यानबे फीसदी लोगों ने लाभ उठाया है। उन्होंने अपनी आंखों के सामने उन लाभों को दिन पर दिन बढते देखा है। द्वितीय विश्व-युद्ध में विजय प्राप्त करके सोवियत शासन ने लोगों के हृदयों में अपने गौरव को और भी अधिक बैठा दिया है। इसीलिये सोवियत जनता में ९९ फी सदी लोग सोवियत शासन के अंधभक्त हैं। स्तालिन तो उनके लिये सजीव भगवान् है, जिसके विरुद्ध वह एक शब्द भी सुनने के लिये तैयार नहीं हैं। ऐसी अवस्था में भाषण-मंच पर खडे होकर सोवियत-शासन या स्तालिन को गाली देने की हिम्मत ही किसको हो सकती है? लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि विरोधी भाव रखनेवाले लोग वहाँ नहीं हैं, और वह अपने मतभेदों को प्रकट नहीं करते। अपनी मित्र-मंडली में सभी अपने विचारों को खुलकर प्रकट करते हैं। मतभेद रखनेवाले भी सोवियत-विरोधी होने तक बहुत कम जाते हैं। बहुतेरे तो केवल असंतोष तक प्रकट कर देना चाहते हैं। इस तरह के असंतोष रखनेवाले नर-नारी पुराने उच्च या मध्यम वर्ग में मिलते हैं, जिनको स्वयं नहीं तो अपने माता-पिता के मुह से सुनकर बराबर याद आता रहता है—"ते हि नो दिवसा गता"। ऐसा उदाहरण मैं अपने अनुभव से देता हूं। एक पुराने मध्यमवर्गकी शिक्षिता महिला अपने लड़के को इसलिये बाहर किसी स्कूल में भेजने का विरोध करती थीं, कि उनके ख्याल में वहाँ सब गुण्डे लडके भरे हुए हैं। मैंने कहा—तब तो घर में ही रख-

करके शिक्षा देनी चाहिये। दबी जबान में उत्तर मिला "हाँ।" एक और महिला कह रही थीं— "कम्युनिस्ट झूठे और निम्न श्रेणी के मनुष्य होते हैं। सोवियत ने लोगों को भिखारी बना दिया। पहिले सभी मौज में रहते थे।" इसमें शक नहीं कि उक्त महिला का "सभी" शब्दका अर्थ था— अमीर और उच्च-वर्ग, नहीं तो सोवियत शासन में अन्न कहीं गरीब भिखारी देखने मे नहीं आता। उच्च और मध्यमवर्ग की महिलायें पहिले कोई भी काम करना पाप समझती थीं। अब उन्हें मशक्कत करके रोटी कमानी पड़ती है, फिर वह इस जीवन को कैसे पसन्द करेंगी।

शिक्षा के नये ढंग को वहाँ बड़े व्यापकरूप में अपनाया गया है। स्कूल भेजने से पहिले के सात वर्षों के लिये शिशुशाला और बालोद्यान इतने अधिक स्थापित हैं, कि उनमें राष्ट्र के सभी लड़के-लड़कियों को रक्खा जा सकता है। यह भी माना जाता है, कि बच्चों को शारीरिक दंड देना अच्छा नहीं है। २४ जून को मैं बाबुश्किन नामक विशाल उद्यान में गया था। लड़ाई के चार सालों में उपेक्षित रहने के कारण वहा कुछ उदासी जरूर थी, फिर भी बाग बहुत सुन्दर था और पूर्व अवस्था में लाने के लिये उसमें मरम्मत का काम भी लगा हुआ था। हमारे मुहल्ले से यह उद्यान बहुत दूर नहीं था, इसलिये हम अक्सर चले जाया करते थे। हम लौट रहे थे। रास्ते में देखा कि एक माँ अपने पाच वर्ष के लड़के को जोर-जोर से पीट रही है। आवाज जोर की आरही थी और लड़का भी चिल्ला रहा था, किन्तु चोट लगने का वहा कोई सवाल नहीं था, क्योंकि लड़के ने रूईदार कोट पहन रखा था और मा के हाथ में एक रास्ते से उखाड़ी नरम सी हरी टहनी थी। कसूर यह था कि लड़का अपनी तीन बरस की बहन को भी लेकर सैर-सपट्टे पर चल पड़ा था और मा खोजते-खोजते हैरान हो गई थी। वह जानती थी, कि यह जोड़ी साद-बाबुश्किन की ओर ही गयी होगी, तो भी ढूंढने में उसे काफी तकलीफ उठानी पड़ी। भाई का चेहरा बड़ा दयनीय मालूम होता था, किन्तु वह रोने को हो रहा था। दोनों के गुलाबी गाल स्वास्थ्य के परिचायक थे, हाँ वह कुछ मैले

जरूर थे। एक मध्यवर्गीय महिला ने झट टिप्पणी जड दी— बोल्शेविक ठोक पीटकर गधे को घोडा थोड़े ही बना सकते हैं। दोनों बच्चे और उनकी मा मजदूर वर्ग की थीं। उनकी पोशाक में भी भद्रवर्ग की सुरुचिका पता नहीं था, इसीलिये यह टिप्पणी जडी गयी।

घर में पाखाने का फ्लश बिगड गया था। बहुत कहने पर पाखानों की देख भाल करने वाली महिला अपनी सखी के साथ आयी। उसने गृहिणी से जवाब तलब किया— पाखाना ख़राब हो गया, तो उसे क्यों इस्तेमाल किया?

—इस्तेमाल नहीं करते, तो क्या सड़क पर जाते।

—खुद क्यों नहीं सुधार लिया?

—औजार कहाँ था, और फिर क्या तुम बारिन (भद्रजन) होकर बैठने के लिये हो, बेकाम ही रहना चाहती हो?

सुधारनेवाली ने बडे अभिमान के साथ जोर से कहा— मैं बारिन नहीं हूँ, मैं मजूर वर्गीय हूँ।

दोनों वर्गों की महिलाओं के मनोभाव को यह वार्तालाप अच्छी तरह प्रकट करता है। पुराना मध्यवर्ग या उच्चवर्ग यद्यपि अब उत्पीडित अपमानित नहीं है, किन्तु वह जानता है, कि रूस में अब सारी शक्ति मजदूरवर्ग के हाथ में केन्द्रित है, तब भी कभी कभी उसके भीतरी भाव प्रकट हो उठते हैं।

यह मनोभाव यद्यपि अब भी पाया जाता है, लेकिन वह मूर्खतापूर्ण पुरानी आदत के सिवा और कोई महत्व नहीं रखता। इस मनोभाव का दिग्दर्शन एक सोवियत नाटक "क्रेमलिन की घडी" में अच्छी तरह किया गया था, जिसे मैंने १५ जुलाई १९४५ ' मास्को के गोर्की कला थियेटर में देखा था। नाटक १९४२ में लिखा गया था; किन्तु उसमें १९२० के वर्गभेद का चित्र था। सारे दृश्य अत्यत स्वाभाविक थे। परदों का खुलकर इस्तेमाल किया गया था, लेकिन उनसे भी अधिक पहियों के ऊपर रखे बडे बडे प्राकृतिक तथा दूसरे दृश्योंवाले फलकों का उपयोग किया गया था, जिन्हें आसानी से हटाकर दृश्य-परिवर्तन किया जा सकता था। पहिले दृश्य में नागरिक स्त्री पुरुष अपनी

अपनी चीजें बेंच रहे थे, भिखमंगे भीख मांग रहे थे। इसी समय एक बेकार इंजिनियर किसी से कह रहा था— "क्रेमल की घडी बंद होगई।" जिसका अर्थ था— सोवियत-शासन की गाडी रुक गई, या सोवियत-शासन समाप्त होना ही चाहता है। उस समय के धनिक और शिक्षित वर्ग का नये शासन के प्रति यही भाव था। दूसरे सीन में एक नौ-सैनिक रिवाकोफ और उसकी प्रेमिका मशिनका का प्रेमाभिनय था। मशिनका इंजिनियर की पुत्री थी। नौ-सैनिक रिवाकोफ नये शासन का पक्षपाती था। मशिनका मध्यवर्गीय इंजिनियर की पुत्री दो नावों पर थी। अगले दृश्य में लेनिन को दिखलाया गया था, जिसके लिए बडी श्रद्धा से शिकारी पहरा दे रहे थे। लेनिन और उन शिकारियों की वेश-भूषा या मेल-जोल से उनमें कोई भेद नहीं मालूम होता था। लेनिन एक शिकारी के घरमें जाता है और लडकों से छेड़खानी करके उनसे बिल्कुल हिलमिल जाता है। लडकी गौर से लेनिन की ओर देखती है। लडका कुछ सयाना है। वह आगन्तुक शिकारी को एक फोटो से मिलाता है। तो भी संदेह में पडा रहता है। इस पर लेनिन अपने चंदुले सिरको नंगा कर देता है। लडके को विश्वास हो जाता है, कि उसके साथ खेलनेवाला शिकारी महान् लेनिन है।

एक दृश्य में दिखलाया गया था— इंजिनियर के घरमें ग्राफ (काउन्ट) अफीना और दूसरे उच्चवर्गीय भद्र पुरुष और महिलायें सोवियत-शासन पर कडी टिप्पणियां करते जा रहे हैं और साथ ही भयभीत भी हैं। इसी समय भतरोश (दामाद) रिवाकोफ नौ-सैनिक भेस में भीतर आता है। सभी भद्र-पुरुष और भद्र महिलायें आवभगत में होड करने लगती हैं। उनको डर होता है— यह सोवियत सरकार का सैनिक है, यदि नाराज हो गया तो हमारा सर्वनाश हो जायगा। यहां यह भी बतला दूं, कि इस नाटक में मशिनका का पार्ट जिस स्त्री ने लिया था, वह उसी होटल की परिचारिका थी, जिसमें मैं ठहरा हुआ था। इसी समय सरकार की ओर से इंजिनियर की बुलाहट आती है। इंजिनियर एक छोटी सी पोटली बाध कर जीवन से निराश हो घर से निकलता है। उसकी बीवी रोती है, समझती है—बोल्शेविक उसे जेल भेज रहे हैं, अब वह जीता नहीं

लौटने का।

इंजीनियर क्रेमलिन के भीतर पहुँचाया जाता है। लेनिन, स्तालिन और जैरजिन्स्की उससे बात करते हैं। इंजीनियर बोलशेविकों के सोशिलिज्म से घृणा प्रकट करता है। लेनिन उसे अनसुनी करके देश के विद्युतीकरण की बात आरम्भ करता है और उसके सामने योजना का एक नकशा रखता है। इंजिनियर अपनी सारी घृणा को भूल जाता है। एक बार स्वतः उसकी अंगुलिया नक्शे पर चली जाती हैं, लेकिन वह फिर उन्हें समेट लेता है। स्तालिन पूछता है— तुम्हें राजनीति से क्या मतलब ? तुम तो इंजिनियर हो, अपनी करामात दिखलाओ।

वृद्ध इंजिनियर की तरुणाई की उमंगे उमड आती हैं। वह भी बिजली का बड़ा इंजिनियर है। एकबार उसने बड़े बडे पन-बिजली कारखानों को बनाने का स्वप्न देखा था, लेकिन जार की सरकार मे उसकी बात को सुननेवाला कौन था ? उसकी सारी उच्चाकांक्षाएं मनमें ही दबी रह गयीं और अब बुढापे में राज्य का हर्त्ताकर्त्ता खुद उसे बुलाकर उस स्वप्न को जागृत कर रहा है। इंजीनियर को विचार करके जवाब देने के लिये छुट्टी मिलती है और उसे कार पर उसके घर पहुँचा दिया जाता है। परिवार इस तरह इजीनियर को देखकर हर्षाश्रु बहाता है। इंजीनियर की आखें खुल जाती हैं। वह लेनिन की तारीफ करता है। फिर निकाल कर तरुणाई में लिखी अपनी पुस्तक को दिखलाता है। वह मशिनका को ऊपरी मन से रोब दिखलाते हुए प्यार के शब्दों में कहता है— बेवकूफ लडकी, तूने किसी कप्तान से क्यों नहीं शादी की ?

मशिनका— जारशाही कप्तान से, तब तो तुम इसवक्त पेरिस में होते !

इसी तरह एक मशहूर घड़ीसाज भी क्रेमलिन पहुँचाया जाता है। जैरजिन्स्की का नाम सुनते ही वह डर के मारे कापने लगता है। जैरजिन्स्की क्रान्ति के दिनों में सोवियत के गृहरक्षा विभाग का मंत्री था। कोई भी सोवियत के विरुद्ध षड्यन्त्र करनेवाला उसकी पकड़ से बच नहीं पाता था। लेनिन ने बात करके घड़ीसाज का भी दिल खोल दिया, और उसके हुनर की प्रशंसा करने

फंठ-कानों में लटकता।

पुराने सामन्त और उच्च मध्यवर्ग की मनोवृत्ति मे पहिले का असर अब भी देखने मे आता है। जो १९१७ की क्रान्ति के समय होश सम्भाल चुके थे, उनकी तो बात ही क्या, जो क्रान्ति के बाद उस वर्ग में पैदा हुए, उनमें से भी कितने ही "ते हि नो दिवसा गता" कहते अफसोस करते हैं। एक जारशाही जनरल की लड़की ने सर्गियेवा (आधुनिक चेकोस्पकी) सड़क पर एक तिमजिला भव्य मकान दिखाकर कहा— हमारे पिता इसी में रहते थे, उनके लिये ११ कमरे थे। सर्गियेवा पहिले सामंतों और उच्च मध्यवर्ग का मुहल्ला था। इसकी सडक बहुत सुन्दर है, जिसके दोनों तरफ वृक्ष और हरियाली लगी हुई है। पहिले इस सारे मुहल्ले में देवताओं का वास था, और अब सब धान बाईस पसेरी। जनरलों, ग्राफों तथा राजकुमारों के महलों में अब धूल-धूसरित भद्दे ढंग से कपडे पहिने कितने ही मजदूर परिवार रहते हैं।

एक दिन (९ सितम्बर १९४५) हमारी परिचिता की बुआ की बहू अपने पुत्र के साथ घूमने आयी थीं। पुत्र १५ वर्ष का था, और था शरीर तथा मस्तिष्क दोनों से दुर्बल। माँ कम सुनती थीं। पुत्रको छात्रवृत्ति मिलती है, वह फोटोग्राफी सीख रहा था। माँ को भी काम मिला था, जिससे खाने-पीने की तकलीफ नहीं थी। ऐसी सुविधाजनक स्थिति देखकर आदमी को सतोष होना चाहिये। यदि उच्च मध्यवर्ग के किसी परिवार का दिवाला निकल गया होता, फजूल खर्ची से उसकी जायदाद बिक गई होती, तो उसके परिवार को यह सुविधा जारशाही युग में नहीं मिल सकती थी। लेकिन क्या उक्त महिला इसके लिये वर्तमान शासन के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये तैयार थीं? उनको तो याद आते थे, वह दिन जबकि उनके पिता के परिवार में आधे दर्जन नौकर हरेक काम को इशारा पाते ही करने के लिये तैयार थे और अब बेचारी को अपने आप सब काम करना पडता है, खाना बनाना पड़ता है, घर का वर्तन और झाड़ू अपने हाथ से करना होता है, पैसा बचाने के लिये कपड़ा धोना और राशन की दुकान से सामान भी उठा के लाना पडता है। उक्त महिला क्रान्ति के

समय सयानी थी, इसलिये अपने उन दिनोंको भूल नही सकती थीं।

इस पुरानी मनोवृत्ति का एक और उदाहरण दूँ। हमारे विद्यार्थियो में यद्यपि अधिकाश मजदूर और किसान वर्ग के थे, क्योंकि देश मे उनकी संख्या अधिक है, लेकिन पहिले के उच्चवर्ग की सतानें शिक्षण-सस्थाओं से कम लाभ नहीं उठातीं। किसी समय उनके प्रति भेद-भाव भले ही रखा जाता हो, लेकिन अब वह वर्षों की पुरानी बात हो गयी। पढने की इच्छा होनी चाहिये, सभी के लडके उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। हमारे द्वितीय वर्ष की कक्षा में ३ छात्र थे, जिनमे से एक मजदूर का पुत्र था। सोवियत के युद्धोपरान्त काल मे जो चीजो का अभाव था, उसके लिये कभी कभी लोग कुछ टिप्पणी कर बैठते, इस पर वह हरेक अभाव की व्याख्या करना चाहता था। वह कहता था— सोवियत सरकार बहुत कर रही है। लडाई से अभी अभी देश बाहर निकला है। इसलिये सब चीजें एक ही दिन नहीं तैयार हो सकतीं। वह समझदार लडका भली प्रकार जानता था, कि अगर सोवियत-शासन न होता, तो आज वह युनिवर्सिटी में पढने का अवसर न पाता। इसीलिये कुछ कमियों को देखकर वह दूसरे गुणों को भूलने के लिये तैयार नहीं था। हमारी एक क्लास मे २ छात्रायें थीं जो कि मजदूर या किसान वर्ग की नहीं थीं। उनमें से एक मध्यवर्ग की लडकी थी और दूसरी किसी सामन्त की। पहिली लडकी— जिसका पति भी विश्वविद्यालय का छात्र था— इस बात की शिकायत करती थी, कि उसके रहने के लिये सिर्फ एक कमरा मिला है, वह प्रयाप्त नहीं है। वह कह रही थी— मुझे दो कमरे चाहिये। उसकी माग अनुचित नहीं थीं, लेकिन लेनिनग्राद नगर के मकान बहुत भारी सख्या में ध्वस्त हो गये थे, उन्हें फिर से बनाया या मरम्मत किया जा रहा था। लोग दूसरी जगहों से अपने परिवारों को जल्दी जल्दी बुला रहे थे। ऐसी स्थिति में दो कमरे देना कहां संभव था? दूसरी लडकी को दो कमरे मिले थे। उसका पति एक सैनिक अफसर था। वह कह रही थी— मुझे तो पाच कमरे चाहिये। मैंने कहा— तब तो पांचों कमरों को साफ सुथरा रखने में तुम मर जाओगी।

—नौकर भी चाहिये।

७—मास्को में एक पखवारा

मुझे लेनिनग्राद आये अभी एक ही महीना हुआ था। इसी समय मास्को जाने का अवसर मिला। मैं आते वक्त जल्दी जल्दी में था, इसलिये मास्को को ठीक से देख नहीं सका था, इसलिये इस अवसर से फायदा उठाना चाहता था, और ४ जुलाई (१९४५) को पाँच बजे शाम की खेला ट्रेन द्वारा रवाना हुआ। जुलाई का आरम्भ था। अभी पढाने का काम दो महीने बाद शुरू होनेवाला था, और इस बीच में मुझे भाषा में कुछ और प्रगति करने की अवश्यकता थी। उसमें कोई बाधा नहीं हो सकती थी। भाषा सीखने का सबसे अच्छा अवसर तभी मिलता है, जब कि आदमी अपनी पूर्व परिचित भाषाओं में किसी का उपयोग न कर सके। यहाँ रूसी छोड दूसरी भाषा का प्रयोग नहीं होता था। होटलों में भी यदि इन्तूरिस्तका न हो, तो यह जरूरी नहीं है कि कोई अंग्रेजी या दूसरी यूरोपीय भाषा जाननेवाला मिल जाये।

लेनिनग्राद से रवाना होते समय बूंदाबादी थी, लेकिन नगर से आगे बढने पर मौसिम अच्छा हो गया। चारों ओर हरियाली थी। युद्ध की ध्वंसलीला के अवशेषो पर भी हरियाली छाई हुई थी। रात को अंधेरा रहा, जब कि हम

वोल्गा के सामने से गुजरे। वोल्गा का उद्गम यहीं आस-पास है, इसलिये वह यहाँ महानद नहीं दिखलाई पड़ती।

अगले दिन १० बजे हमारी ट्रेन मास्को पहुँची। मेरे साथ एक और भद्र जन भी थे, इसलिये कैसे जाना है, कहाँ ठहरना है, इसके लिये कोई कठिनाई नहीं हुई। रेलवे स्टेशन से उतर कर पास में ही भूगर्भी (मैत्रो) रेलवे का स्टेशन था, जहाँ गाड़ी पर सवार हो चौथे स्टेशन पर उतर गये। मास्को होटल लगा हुआ था। यह होटल केवल मास्को का ही नहीं बल्कि सारे सोवियत देश का सबसे बडा होटल है—तेरह मंजिला है, जिनमें सात मजिले तो सारे होटल मे हैं, और कुछ भाग में ६ मंजिलें और भी हैं। इमारत के निचले भाग मे लाल सगमरमर जैसा चमकीला पत्थर लगा हुआ है। सोवियत-समय की इमारत होने से और वह भी पंचवार्षिक योजनाओं की सफलता के वक्त बनने से मास्को होटल को बहुत ही सुन्दर, स्वच्छ और भव्य बनाया गया है। इसमे हजारों कमरें हैं। लेकिन कमरा पाने में हमें ढाई घटे की प्रतीक्षा करनी पड़ी। हमारे कमरे में दो मेजें, सात कुर्सिया, एक सोफा, एक टेलीफोन और एक रेडियो था। शयनकक्ष अलग था, जिसमें जोड़ी पलग, दो कुर्सिया, एक मेज और दो कपबोर्ड रक्खे हुए थे। एक शीशेवाली बडी अल्मारी के अतिरिक्त दीवारों में भी दो अलमारियां थीं। स्नानकोष्टक भी साथ में लगा हुआ था। कई लम्प थे। मास्को होटल के अधिकाश कमरे इसी ढग के थे। मेरा कमरा सातवें मजिल पर था, जिसके पीछे खुली विशाल छत थी। यही शाम के वक्त रेस्तोरा (भोजनशाला) लगती, जिसमे वाद्य भी रहता— खाते-पीते हुए नर-नारी एक बजे रात तक मन बहलाव करते। उस समय होटल बहुत खर्चीला था, यदि राशनकार्ड न हो तो, एक दिनके भोजन आदि पर १५० रूबल खर्च आता, अर्थात् प्राय ८० रुपये।

मित्रों के कहने से मालूम हुआ, कि मैं एक पखवारा यहा रह सकता हूँ और १७ जुलाई की ही शाम को मैं फिर लेनिनग्राद के लिये लौट सका। यहा रहते हुए मैंने मास्को के अधिक से अधिक दर्शनीय स्थानों, को देखना चाहा। भाषा की दिक्कत अभी दूर नहीं हुई थी, यद्यपि पिछले एक महीने मे मैंने रूसी सीखने

में कम प्रगति नहीं की। विदेशों से सांस्कृतिक संबंध कायम करनेवाली सोवियत संस्था-वोक्स ने एक पथ-प्रदर्शिका का इंतजाम कर दिया था, लेकिन वह कुछ समय के ही लिये साथ रहती थी, बाकी पर्यटन स्वावलम्बी होकर ही मुझे करना था।

९ जुलाई को मैं लेनिन-म्यूजियम देखने गया। लेनिन की जीवनी और व्यक्तित्व को समझने के लिये यहाँ सारे साधन एकत्रित किये हुए हैं। हर अवस्था के समय समय पर खींचे हुए फोटो तथा कलाकारों द्वारा बनाये चित्रों से लेनिन के जीवन को साकार रूप दिया गया है। लेनिन की पुस्तकों और भिन्न-भिन्न भाषाओं मे उनके अनुवादों का भी यहा सुन्दर संग्रह है। मैं ढूँढने लगा— देखूं भारतीय भाषा में लेनिन-संबंधी साहित्य की कौन कौन-सी पुस्तकें हैं। उर्दू और गुरुमुखी की कुछ छोटी छोटी किताबे रक्खी मिलीं, जो कि मास्को में छपी थीं। भारत का रूस से कूटनीतिक संबध टूट जाने के कारण हमारे यहां की चीजों के संग्रह करने में सोवियतवालों को दिक्कत रहीं तो भी कुछ और पुस्तकें भारत मे मिल सकतीं थीं। लेनिन का पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा और क्रान्तिकारी जीवन कैसे गुजरा, इसको चित्रों ही द्वारा नहीं बल्कि घरों और घरोंदों द्वारा भी अंकित किया गया था। जिस घरमें लेनिन का जन्म हुआ था, उसका नमूना, सामान के साथ यहाँ मौजूद था। कारागृह के जीवन को भी इसी तरह साकार दिखलाया गया था। फर्वरी क्रान्ति (१९१७) के बाद लेनिन पेत्रोग्राद पहुँचने में सफल हुए। बोल्शेविकों के बढते हुए प्रभाव को देखकर करेन्स्की की सरकार को डर लगने लगा। वह लेनिन की गुप्त हत्या, कराने के लिये तुली हुई थी। उस समय लेनिन को अज्ञातवास के लिये जंगल में भेज दिया गया। जगल में जैसी कुटिया में लेनिन रहते थे, उसका भी नमूना यहाँ मौजूद था। पूंजीवादी देशों ने लेनिन को अपने रास्ते का सबसे बड़ा रोडा समझा था। उन्हें मालूम होने लगा, कि यदि साम्यवादी क्रान्ति स्थिर हो गई, तो उनके देश में भी खैरियत नहीं। उन्होंने काप्लान नामक एक स्त्री को हत्या के लिये नियुक्त किया। आज स्तालिन के बराबर पर्दे मे रहने का आरोप पूंजीवादी देशों में सुना जाता है,

लेकिन क्या स्तालिन यदि इतनी सावधानी के साथ नहीं रक्खे जाते, तो उनके देशी और विदेशी शत्रु अभी तक उन्हें जिन्दा रहने देते ? कापूलान ने जिस पिस्तौल से लेनिन की छाती पर गोली चलाई थी, वह पिस्तौल भी यहा म्यूजियम मे रक्खी हुई है। गोली खाते वक्त जिस ओवर कोट को लेनिन पहिने हुए थे, जो कि उनके खून से सन गया था, वह भी यहा रखा हुआ है। लेनिन का व्यक्तित्व शोषित वर्ग के उत्थान और मानवता की प्रगति के लिये कितना महत्त्व रखता है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं । यह म्यूजियम लेनिन को समझने में बड़ा सहायक है। हरवक्त यहाँ लोगों की भीड लगी रहती है। लेनिन समाधि में दर्शन के निश्चित घंटे हैं, और काफी दिक्कत होती है, लेकिन लेनिन म्यूजियम में सब चीजें आसानी से देखी जा सकती हैं। वस्तुत दर्शक के लिये यह अच्छा है, कि पहिले वह लेनिन-म्यूजियम देखे, तब लेनिन-समाधि के भीतर जाकर उस महापुरुष के शवको देखे। लेनिन म्यूजियम के पास ही लाल मैदान है, जो आस पास की ऊंची इमारतों के कारण छोटा मालूम देता है, लेकिन महोत्सव के दिनों मे उसमें लाखों आदमी खडे हो सकते हैं। लेनिन-समाधि के पीछे क्रेमल (क्रेमलिन-दुर्ग) की दीवार है। अब वहा देवदार लगाये गये हैं, जो कुछ वर्षों बाद अपनी घनी छाया से इस मनुष्य-रचित वास्तु को अपना सौंदर्य प्रदान करेंगे। क्रेमलिन की दीवार में देश के सम्माननीय पुरुषों की अस्थियां छोटे-छोटे छिद्रों में रक्खी जाती हैं। यद्यपि कब्र का रवाज अभी हटा नहीं है, तो भी मुर्दों के जलाने का प्रचार काफी बढ चला है, इसलिये चितावशेष अस्थियों का कुछ भाग थोड़ी-सी जगह में रखा जा सकता है।

ताल्स्त्वा की अमरकृति "अन्ना करेनिना" को २५ बरस पहिले मैंने पढा था। ७ जुलाई को उसे रंगमंच पर देखने का मौका मिला। नाटक साढे सात से ग्यारह बजे रात तक होता रहा। वार्तालाप समझने भरकी शब्द-शक्ति नहीं थी, किन्तु हमने उसे वैसे मान लिया। अभिनय बड़ा सुन्दर था, विशेष कर अन्ना, करेनिन और अन्ना के प्रेमी का, पार्ट बड़े ही निर्दोष रूप में अदा किया गया था। दृश्य साधारण पर्दों द्वारा ही नहीं दिखलाये गये थे, वल्कि वहा सभी चीजों

को वास्तविक रूप मे दिखाने की कोशिश की गई थी। जब अन्ना रेल के नीचे दबकर आत्महत्या करने गयी, तो उस वक्त इंजिन, लालटेन, आवाज़ सभी चीजों से पता लगता था, कि एक रेलवे ट्रेन आ रही है। वोक्स की कृपा से नाटक का टिकट आसानी से मिल गया था, और रंगमंच से चौथी पंक्ति में बैठा रहने के कारण मैं सभी चीजो को अच्छी तरह देख-सुन सकता था। शाला में भीड तो नहीं कह सकते, क्योकि टिकट उतने ही काटे जाते हैं, जितनों की सीटें हैं। कोई जगह खाली रहने का सवाल ही नहीं था। सोवियत की नाट्यशालाओं के टिकट का बन्दोबस्त दो तीन हफ्ते पहिले यदि न करें, तो वह मिलते ही नहीं— विदेशी महमानों के लिये कुछ सीटें रख छोडी जातीं हैं। अभिनय के बीच-बीच मे विश्राम का समय था, जबकि दर्शक और दर्शिकायें बाहर के हाल में टहलने या नाट्यशाला की प्रदर्शनी देखने में लगे रहते थे। नाटक देखने के लिये नर-नारी अपने सबसे सुदर वेश-भूषा मे आते हैं। महिलायें उस दिन केश-सज्जा (कोयफुर) कराना नहीं भूलतीं। नाट्यागार की प्रदर्शनी में पुराने और नये नाट्यकारों और अभिनेताओं के सैंकड़ों फोटो रक्खें हुए थे।

दूसरी यात्रा में भाई प्रमथनाथ दत्त, (या दाऊदअली दत्त) लेनिनग्राद में ही रहते थे, अब वह लडाई के बाद मास्को चले आये थे। उनके साहसमय जीवन के बारे मे आगे लिखूगा। ८ जुलाई को साढे दस बजे मैं होटल से उनसे मिलने के लिये निकला। पता-ठिकाना, मोटर बस, और दूसरे यानों के बारे मे नोट कर लिया था। अपनी महीने भर की जमा की हुई रूसी पूंजी के साथ चल पडा। एक मैदान के कोने पर बस का पता लगा, मगर वहा जाने पर बस नहीं, २५ नम्बर की त्रामवाय मिली, जो रोस्तोकिन्स्की पोयेज्द की ओर जा रही थी। आध घंटा जाने के बाद पूछा, तो मालूम हुआ, अभी स्थान बहुत दूर है। घंटे भर की यात्रा के बाद उपनगर के उस स्थान मे पहुंचे, जहां किसान स्त्री और मजदूर पुरुष की दो संयुक्त विशाल मूर्तियां स्थापित हैं। पूछते-पाछते उपनगर से भी बाहर आलू के खेतों में चले गये। इधर से उधर भटकते, चढ़ाव उतार जमीन को लाघते, एक रेल की लाइन को पार करते

मील दो मील चले गये। जुलाई का महीना था। निरभ्र आकाश से मध्यान्ह के सूर्य की किरणें पड कर अपना प्रभाव डाल रही थीं। मैं प्यास के मारे बहुत परेशान था। खैर किसी तरह मास्को के प्राच्य-प्रतिष्ठान में पहुंचा। पाठकों को इससे यह तो मालूम होगा, कि रूसवाले हरेक विदेशी के पीछे अपना जासूस नहीं भेजते, अगर भेजते होते तो मुझे तो इस यात्रा में कृतज्ञ होना पडता। फाटक खोलते ही एक छोटा-सा लडका खडा मिला। उसके भूरे बाल, पतले-दुबले शरीर को देख कर यह कैसे पता लग सकता था, कि यह दत्त भाई का पुत्र है। मैंने तवारिश दत्ता के बारे में पूछा। ईगर ने साथ आने के लिये कहा, और मुझे तितल्ले पर दत्त भाई के पास ले गया। इस वक्त हिन्दुस्तानी कक्षा की परीक्षा हो रही थी। रूस में हिन्दी और उर्दू दोनों के लिये सम्मिलित शब्द "हिन्दुस्तानी" का प्रयोग किया जाता है, और विद्यार्थियों को दोनों भाषायें दोनों लिपियों मे पढाई जाती हैं। दत्त भाई अपनी हिन्दुस्तानी कक्षा की परीक्षा में लगे हुए थे। १५-१६ में दो तीन ही तरुण थे, बाकी सभी तरुणिया थीं। यहावालों को भी यह भ्रान्ति है, कि उर्दू ही भारत की बहु-प्रचलित भाषा है। द्वितीय यात्रा के मेरे परिचित और डा० श्चेर्बात्स्की के शिष्य संस्कृत प्रोफेसर सिरायेफ भी आज कल यहीं उर्दू पढाते थे। परीक्षा-स्थान में कुछ मिनट बैठने तथा विद्यार्थियों और अध्यापकों के साथ शिष्टाचार प्रदर्शन करने के बाद दत्तभाई मुझे अपने कमरे में ले गये। एक टाग बेकार होने से वह अपनी कॉख की लकडी के सहारे चल रहे थे। सात ही वर्ष पहिले मैंने भाभी दत्ता को तरुण सुन्दरी के रूप मे देखा था और अब वह बूढी मालूम हो रही थीं, चेहरे पर कुछ झुर्रियां भी आगयीं थीं। दत्तभाई बात में लगे और भाभी चाय तैयार करने में। वह भारत के बारे मे पूछते रहे, मैं अपने पूर्व-परिचितों के बारे में। उन्होने कहा—मास्को मे ही क्यों न चले आयें, यहा भी पढाने का काम मिल सकता है।

साढे सात बजे अभी शाम आने मे बहुत देर थी, लेकिन हमें तो न जाने कितने मील अपरिचित ट्राम के रास्तों मे होते अपने होटल में पहुँचना था। भ भी ट्राम के अड्डे तक पहुचाने आयीं। उन्होंने बतलाया कि यहा मे

४ नम्बर की ट्राम वहा जाती है। लेनिनग्राद या मास्को में त्रामवाय का टिकट १५ कोपेक (प्राय. पाच पैसा) है। टिकट लेकर बैठ जाइये, जहा तक वह गाडी जायगी, वहाँ तक उसी टिकट से काम चल जायेगा। पांच ठहरावों के बाद हम मेत्रो (भूगर्भी) स्टेशन पर पहुँचे। रास्ते में देवदारों के उपवनों और सरोवरों का वडा सुन्दर नजारा था। आजकल घास की हरियाली चारों ओर दिखलायी पड़ती थी। रविवार होने के कारण छुट्टी मनाने के लिये लोग वडी भारी संख्या में इन उपवनों और सरोवरों का आनद लेने आये थे। ट्राम से उतर कर स्कोल्नकी मैत्रो स्टेशन पर अखोत्निकीर्याद का टिकट लिया। मेत्रो यहीं से शुरू होती थी, इसलिये जगह मिलने में कोई दिक्कत नहीं हुई, लेकिन आगे बडी भीड़ थी— लोग सैर करके शाम को लौट रहे थे। ५ बड़े स्टेशनों को छोड़ते अखोत्निकीर्याद के छोटे स्टेशन पर उतरे, जो कि मास्को होटल के नीचे है। यह पहिले नहीं मालूम था, नहीं तो बहुत आराम से चला गया होता। अब रास्ता आसान मालूम होता था। होटल में पहुँचते समय मुझे आलू के खेतों में मिली बुढिया याद आ रही थी। उसके कपड़े बिलकुल मामूली थे। मैंने जब रास्ता पूछा तो वह फर-फर फ्रेंच बोलने लगी। कुलीनवर्ग की लडकी होगी, जिसके लिये जारशाही जमाने में सस्कृत-शिक्षित, और सम्भ्रान्त साबित करने के लिये फ्रेंच पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक था। इनकी संख्या शायद इतनी अधिक थी कि सबको विदेशी भाषा सिखाने का काम नहीं मिल सकता था।

९ जुलाई को सूर्यग्रहण था। आकाश में कहीं कहीं बादल थे, इसलिये सूर्य कितनी ही बार बादल मे छिप जाता था। हमारे यहा होता, तो पुराने ढंग के लोग स्नान की तैयारी में रहते, बनारस के लिये ट्रेनों पर ट्रेनें छूटतीं। आज से आठ शताब्दी पहिले रूसी लोगों के पूर्वज सूर्य-पूजक थे— सूर्य ही उनका सबसे बडा देवता था। ईसाई धर्म ने इन्हें उस देवता के पंजे से छुड़ाया। न मालूम उस समय सूर्यग्रहण के समय लोग क्या करते रहे होंगे। कोई धार्मिक अनुष्ठान तो जरूर करते होंगे। लेकिन आज के रूसी भी सूर्य-ग्रहण को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखते। चार बजे शामको हाथ मे काले किये शीशे या कोई और

देखने के साधन के सहारे सूर्य को देख रहे थे।

देश छोडे अब १० महीने हो रहे थे। ईरान में रहते अंग्रेजी पत्र मिल जाते, और कभी कभी सैनिकों या व्यापारियों के यहा से भारत के समाचार-पत्र भी देखने को मिलते, लेकिन यहा समाचार जानने का कोई साधन नहीं था। कुछ अंग्रेजी पत्र अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर विचार व्यक्त करने के लिये निकलते जरूर हैं, यद्यपि उनमें भारत के बारे में शायद ही कभी कुछ होता। पत्रों और पुस्तकों का मिलना उतना आसान नहीं था। "न्यू टाइम्स" के तीन अंक जब मिले, तो मुझे बडी प्रसन्नता हुई।

सूर्यग्रहण समाप्त होने के बाद उस दिन खूब वर्षा हुई। बिजली भी खूब कडकी। वर्षा का यह दृश्य देखते हुए मुझे भारत का वर्षाकाल याद आ रहा था—वहा का जुलाई अगस्त, घनघोर वर्षा का समय। जिस कमरे में मैंने आकर डेरा लगाया था, वह ऐसी जगह था, जहां धूप ज्यादा आती थी, जिससे वह गरम होजाया करता था, इसलिये आज मैंने ७२६ नं० के कमरे को ले लिया। यह कमरा अच्छा था। यहा नहाने का टब नहीं था, उसकी जगह "वर्षास्नान" का प्रबन्ध था। कमरा कुछ अधिक बडा, तथा सोफा आदि सब एक ही कमरे में थे। टेलीफोन काम कर रहा था, लेकिन रेडियो बिगडा हुआ था। उसकी मुझे जरूरत भी नहीं थी, क्योंकि अभी भाषा का ज्ञान अपर्याप्त था। मास्को के रेडियो से हिन्दी प्रोग्राम प्रसारित करनेवाले सज्जन भी आये। उनके पूछने पर मैंने बताया, कि हिन्दुस्तान में वह अच्छी तरह सुनाई नहीं देता, यद्यपि मास्को के और प्रोग्राम स्पष्ट सुनने में आते हैं। उन्होंने कहा—ताशकन्द से जोडने से शायद साफ हो जाय। फिर मैंने बतलाया कि जिस हिन्दी या हिन्दुस्तानी में मास्को से खबरें प्रसारित की जाती है, उसको भाषा बोलनेवाले नहीं बल्कि भाषा-तत्वज्ञ ही समझ सकते हैं। उन विचारों की एक दिक्कत यह भी थी, कि कोई हिन्दी या उर्दू भाषा भाषी वहा मौजूद नहीं था। दत्त भाई बडी अच्छी हिन्दी-उर्दू-बंगला बोल सकते थे, लेकिन शायद पैर से मजबूर होने के कारण उनसे वह काम नहीं लिया जाता था। बोलनेवाले रूसी होते थे, जिनका उच्चारण गलत

होता था और लिखनेवाले भी हिन्दुस्तानी भाषा के जानकार नहीं थे, जिससे उनकी भाषा कहीं कहीं तो डिक्शनरी से लेकर बनाई मालूम होती थी। आज कल १९५१ में भी मास्को के हिन्दुस्तानी प्रोग्राम की करीब करीब वही हालत है। हा, अब रूसी मुंह की जगह भारतीय (बंगाली) मुंह इस्तेमाल किये जाते हैं, जिनको कि बंगला के रूप में ही हिन्दुस्तानी बोलने का अभ्यास है। भाषा लिखनेवाले शायद कोई उसी देशके हैं, जिसके कारण वह बडी बेढंगी सी मालूम होती है। भाषा भी हिन्दी और उर्दूवालों के लिये एक ही इस्तेमाल की जाती है, जिसमे भ्रष्ट उच्चारण के साथ अरबी-फारसी की भरमार होती है। चाहे कोई समझे या न समझे, ब्राडकास्ट कर देना यही ध्येय मालूम होता है। (हाल में बिहार के एक बडे कर्मठ कम्युनिस्ट नेताने, मास्को के हिन्दुस्तानी ब्राडकास्ट की भाषा को सुनकर बडा असन्तोष प्रकट किया था)। मैंने उनसे कहा, कि भारत के श्रोताओं की दिलचस्पी ज्यादा होगी यदि आप मध्यएसिया के लोगों के जीवन के बारे मे अधिक बाते कहा करें।

विदेशी क्रान्तिकारियों को रूस में छिपकर रहने के समय नाम बदलना होता था, इसलिये बाज वक्त परिचित आदमी का भी पता लगाना मुश्किल हो जाता है। मास्को की एक तरुणी अपने भारतीय पिता के बारेमे जानने के लिये बहुत उत्सुक थीं, लेकिन वह जो नाम बता रही थीं वह मलाबारी था। पीछे मुझे मालूम हुआ कि वह हमारे परिचित चक्रवर्ती महाशय की कन्या थीं। मैं साथी चक्रवर्ती को अच्छी तरह जानता था, लेकिन नाम बदला होने के कारण मैं उनकी कन्या को कोई हर्षप्रद समाचार नही दे सका। इसी तरह एक जावा के क्रान्तिकारी बीसों वर्षों से नाम बदल सोवियत में रह रहे थे। उनसे मेरा परिचय तेहरान में हुआ था, जहा मैं उन्हें आदिलखा के नाम से जानता था। पीछे समऊन नाम मालूम हुआ, यद्यपि यह भी उनका जावाका नाम नहीं था। आदिलखा और मैं कुछ दिनों तेहरान मे एक ही होटल में रहे थे। मालूम है, कि मैं अधिकतर मिर्जा महमूद के साथ रहा। आदिलखा मे पहिले भी बराबर मुलाकात हो जाया करती थी, और जावा और भारत के बारे मे दिल खोलकर

बातें होती थीं। वह बड़े ही बहुज्ञ तथा दृढ क्रान्तिकारी पुरुष थे। वह छटपटाते थे, कि किसी तरह उनको जावा जाने दिया जाता। लेकिन कोई रास्ता हाथ नहीं आया और मेरे तेहरान से रवाना होने के कुछ समय पहिले ही वह मास्को लौट गये। उनकी एक चिट्ठी मिली थी, इसलिये १२ जुलाई को मैं सवा तीन बजे उनसे मिलने मास्को के पास के एक गाव उदेल्नया के लिये रवाना हो गया। यह गाव ३० मील से कम नहीं होगा। पहिले चार स्टेशन मेत्रो से गया, फिर कज़ान्स्की स्टेशन में बिजली-ट्रेन पकड़ी। पूरे एक घटे की यात्रा थी। मैं अकेला था, और टूटी-फूटी रूसी भाषा एक मात्र सहारा थी। यह यात्रा भी इस बात को झूठ बतलानेवाली थी, कि रूस में हरेक आदमी के पीछे खुफिया लगा दिया जाता है। ट्रेन मास्को से बिल्कुल बाहर चली आयी। अब यहा ग्रामीण दृश्य थे, लेकिन बस्तिया कस्बों जैसी थीं। यहा के ज्यादातर लोग मास्को में काम करते हैं। मैंने समझा था, रास्ते मे देवदार के घने जंगल आएंगे, किन्तु वह नाम मात्र के ही कहीं कहीं दिखलायी पडे। सडक की दोनो तरफ के खेतों मे आलू और सब्जी लगी हुई थी। मास्कों में इन चीजों की वडी खपत थी। कहीं कहीं जर्मन बमबारी के चिन्ह थे, लेकिन बहुत कम। आखिर उदेल्नया स्टेशन आ गया। छोटा सा स्टेशन बस्ती भी बहुत वडी नहीं, घर अलग अलग थे। मैं ढूंढते ढूंढते लकडी की कुटिया में पहुचा। मेरे काले रंग— हमारे यहा के साफ रगवाले भी उस सफेद-सागर में काले ही दिखाई पडते हैं-- को देखते ही एक स्त्री ने कहा— मैं जानती हू। आदिलखा जावी होने के कारण मगोली मुखमुद्रा रखते थे, किन्तु रग उनका भी मेरे ही जैसा था। स्त्री ने अपने घर तक ले जाकर फिर अपनी कन्या मेरे साथ कर दी। कुटिया तो मिल गयी, लेकिन आदिल-दम्पती में से कोई घरपर नहीं था। घर की एक महिला ने पूछने पर कहा— न मालूम कब तक लौटेंगे। गर्मियों के दिनों में मास्को के लोग अक्सर नगर के पास के गाव-खेडो मे चले जाते हैं। बिजली की रेल है ही, इसलिये आने जाने मे घटे-डेढ-घटे को कोई दिक्कत की बात नहीं समझा जाता। [illegible]

घर लौट पडा । यहा के मकान हाते की भीतर थे, जिनमें देवदार और दूसरे वृक्ष लगे हुये थे । इन्हीं उपवनों में काठ के एकतल्ले-दुतल्ले मकान बने हुए थे, जिनमें नागरिक लोग कुटीर का आनन्द लेने आते थे । घरों के दूर दूर बसने से उदेल्नया की बस्ती दूर तक बसी हुई थी । लौटकर स्टेशन आया, थोडी देर की प्रतीक्षा के बाद गाडी मिली और साढे सात बजे मास्को पहुच गया ।

मेरा कार्ड मिल गया था, इसलिये साथी आदिल मिलने आये । बडे प्रेम से बहुत देर तक बातचीत होती रही । वह भी चाहते थे, कि अगर मैं मास्को में रहता, तो अच्छा होता । मुझे कोई विशेषता नहीं मालूम होती थी ।

१४ जुलाई को मास्को के महान् बाग गोर्गी-सस्कृति-उद्यान को देखने गया । पहिली यात्राओं में भी दो-बार इसको देख चुका था, लेकिन इस समय तो यहा का एक और जबर्दस्त आकर्षण था युद्ध की सौगातों को प्रदर्शनी । जर्मनी से युद्धके समय जितने अस्त्र-शस्त्र मिले थे, उनके नमूने यहा रक्खे हुये थे । दूर तक नाना प्रकार की तोपें रखी हुई थीं । जिनमें कुछ दूर-मारक तोपे थीं, कुछ हल्की तोपें, मार्टर और फिर टक-विध्वसक तोपें । फ्रांस, बेल्जियम, चेकोस्लो-वाकिया, हुंगरी, रूमानिया, इताली सभी देशों की बनी तोपें जर्मनों ने काम में लायी थीं । तरह तरह के टक भी रक्खे हुए थे । दो इच मोटे पत्तरवाले "चीता" टक थे, व्याघ्र, और राजव्याघ्र टक भी रक्खे थे, जो पानी में भी चल सकते थे । दो इंच मोटे फौलाद के पत्तर को तोप के गोलेने ऐसे तोड़ दिया था, जैसे कि किसी ने गीली मिट्टी के बर्तन को लकडी से बींध दिया हो । सोवियत तोपों की ऐसी करामात थी । रूस ने हमेशा से तोपों में कीर्ति हासिल की थी, जिसे सोवियत शासन ने विलुप्त नहीं होने दिया । हैंकल, मैसर्सरिमथ, युन्कर, फोक्उल्फ जैसे नाना प्रकार के बम-वर्षकों को भी देखा । एक जगह नाना प्रकार के योधक विमानो की पाती थी । बडे बडे युद्ध-यन्त्र बाहर आसमान के नीचे रक्खे हुए थे । कितनी ही चीजें घरके भीतर भी सजाई हुई थीं । एक जगह तरह तरह की दवाइयों के नमूने थे । दूसरी जगह छोटे-छोटे हथियार थे । एक जगह प्रेषक-रेडियों का प्रदर्शन था । प्रदर्शनागारों मे तरह तरह की जर्मन

सैनिक पोशाकें भी थीं। एक जगह जर्मन तमगों का ढेर था। हिटलर ने समझा था, कि मास्को के विजय करने पर हज़ार नहीं लाखों की संख्या में तमगे जरूरी होंगे। तमगे हिटलर के सिपाहियों के भाग्य में नहीं बदे थे, क्योंकि विजय हिटलर को नहीं उसके प्रतिद्वन्द्वियों को मिली। कपडों की कमी के कारण जर्मनी ने नकली कपडे और दूसरी चीजें तैयार की थीं, जिन्हें जर्मन भाषा में "एर्सात्ज" कहते थे। यहा एर्सात्ज की पोशाक और एर्सात्ज़ के बूट बहुत तरह के मौजूद थे। रूस में इनकी आवश्यकता नहीं पडी, और न यहा की सर्दी में वह काम दे सकते थे। राइफलों, मशीनगनों, और सब मशीनों का भी बहुत अच्छा संग्रह था।

आज हमारे साथ वोकस की महिला पथ-प्रदर्शिका थीं। वहां से निकलते ही हम लोग पास ही में "दोम सुयूज" में मिश्रित सगीत देखने चले गये। वहा जन-नृत्य और जन-संगीत का सबसे अच्छा नमूना देखने में आया। मास्को से दक्षिण-पूर्व में अवस्थित रेज़ान जिले के दो जन-गीत गाये गये, जिन्हें लोगों ने आग्रह करके फिर-फिर सुना। मुझे आश्चर्य हो रहा था कि हमारे पूर्वी उत्तरप्रदेश के अहीरों का विरहा कैसे यहा मास्कों में आगया। भाषा रूसी अवश्य थी, लेकिन राग बिल्कुल विरहा जैसा। अहीर भी तो शकों का ही एक कबीला था, जिन्हीं शकों की औलाद आजके रूसी हैं, इसलिये रेज़ान के जन-संगीत में विरहा का आना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। लेकिन अहीरों को भारत गये दो हजार वर्ष हो गये। क्या जन-गीतों के सुर इतने चिरस्थायी होते हैं? अवश्य जन-गीतों का स्वर भाषा से अधिक चिरजीवी होता है। इस नाट्य मडली में सौ से कम कलाकर नहीं थे। सभी जनता की चीजें दिखलायी और सुनायी जा रही थीं। हाल खचाखच भरा था। बीच में पन्द्रह मिनट का विश्राम देकर ८ से १० बजे तक प्रोग्राम जारी रहा। मुझे जहा नृत्य और सगीत का आनन्द आ रहा था, वहा यह भी सोच रहा था, कि यह वहीं सभव है, जहापर काम करनेवालो के हाथ में राजशक्ति चली गयी हो। कलाकारों के सम्मान को देखकर ईर्ष्या होती थी। वह किसी वैज्ञानिक या प्रोफेसर से कम

समाप्त करके ट्रेनिंग एकेडमी से १९०६ के आस पास इन्होंने इंट्रेंस पास किया फिर वह जनरल एसम्बली में आई. ए में पढने लगे। बग-भग का जमाना था। बंगाल के दो टुकड़े करने के कारण बंगालियों में उग्र भावनाए जाग उठी थीं। प्रमथनाथ उससे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकते थे। फिर केवल असंतोष करके दिल मसोस लेने से तो काम नहीं चलता। देशको गुलाम बनाने वालों, और प्रदेश को दो टुकड़ों में बाटनेवालों को कुछ सबक भी तो सिखाना चाहिये था। बंगाल में क्रान्तिकारियों के उस समय अनुशीलन और युगान्तर दो दल थे। दोनों का ध्येय था शस्त्र-बल से अंग्रेजों को भगा देश को स्वतन्त्र करना। तरुण-प्रमथनाथ युगान्तर-दल में शामिल हो गये। आगे सिटी कालेज में वह आई. ए के द्वितीय वर्ष में पढते थे। तीन साल तक वह पार्टी मे रहे। इसी समय मिर्जा अब्बास (हैदराबादी) और एक दास-कानूनगो ने पेरिस में सीखकर पहिले पहल बम बनाया। प्रमथनाथ की भी इच्छा हुई कि बम बनायें और सैनिक शिक्षायें प्राप्त करें। देश में वैसा सुभीता न देख उन्होंने विदेश जानेका निश्चय किया। डा० कार्तिक बोस के भाई श्री चारुचन्द्र बोस ने रुपयों से सहायता की। उस समय अभी पासपोर्ट की दिक्कत नहीं थी—प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अंग्रेजों ने पासपोर्ट की कड़ाई करदी, अब कोई सरकार से पासपोर्ट लिये बिना भारत की सीमा से बाहर नहीं जा सकता था। १९०८ ई० मे प्रमथनाथ लंदन पहुँचे। उनकी उमर २० साल के आस पास रही होगी। प्रसिद्ध देश-भक्त श्याम जी कृष्ण वर्मा ने भारतीय क्रान्तिकारी तरुणों के लिये लंडन में "इंडिया हौस" खोल रखा था। प्रमथनाथ उसमें शामिल हो वहा से छात्रवृत्ति पाकर बैरिस्टरी पढने के लिये दाखिल हो गये। लेकिन यह तो लंदन में ठहरने का बहाना मात्र था। इस समय सावरकर मदनलाल धींगड़ा, गौरीशंकर (अजमेरी) आदि से उनकी मित्रता हुई। प्रमथ महीने से अधिक वहा टिक नहीं पाये। यह मालूम ही है, कि मदनलाल धींगड़ा ने एक साम्राज्यवादी अंग्रेज (कर्जन वायली) को गोली का निशाना 'बनाया था, जिससे सारे इंगलैंड में सनसनी फैल गयी थी। प्रमथनाथ लंदन से भाग कर न्यूयार्क पहुँचे। न्यूयार्क

में उनकी जान पहिचान बर्कतुल्ला और जोशी (बड़ौदा) जैसे क्रान्तिकारियों से हुई और उन्होंने मिलकर वहा हिन्दुस्तानी एशोसियेशन स्थापित किया। अब प्रमथनाथ किसी कारखाने में मजदूरी करते और आयरलैंड की स्वतन्त्रता की हामी आयरिश लीग के साथ मिलकर काम करते। अंग्रेजों से लड़े एक बोयर (दक्षिण अफ्रीकीय) ने उन्हें बम बनाना सिखलाया। उसी की सहायता से प्रमथनाथ का फ्रीमान से परिचय हुआ। फ्रीमान अपने पत्र "गैलिक अमेरिकन" में भारत की स्वतन्त्रता के बारे में भी लिखा करता था।

प्राय: सालभर रहकर प्रमथनाथ पैरिस चले आये। उनको अब बाका-यदा सेना में भरती होकर सैनिक शिक्षा प्राप्त करनी थी। बिना सैनिक शिक्षा के अंग्रेजों के साथ लड़ाई कैसे की जा सकती थी? फ्रान्स में वह फ्रेंच विदेशी सेना (फारेन लिजियन) में भरती हो गये। इस सेनामें जर्मन, अंग्रेज आदि सभी जातियों के लोग थे। मार्सेइ में छ महीना रखकर उन्हें सैनिक शिक्षा दी गई, फिर वह फ्रान्स के अधीन देश अल्जीयर के ओरान नगर में भेज दिये गये, जहा दो साल के करीब रहे। लेकिन भारत से दूर अफ्रीका में रहते हुए वह समय पड़ने पर देश में जल्दी कैसे पहुँच सकते थे, इसलिये भारत के नजदीक होने के लिये उनका ख्याल इंदो-चीनको ओर गया और लिजियन के एक छोटे अफसर बनकर हनोई चले आये। थोड़े ही दिनों बाद उन्हें फिर वापिस चला आना पड़ा, जब यह मालूम हुआ कि फ्रान्सीसियों के आधीन रहकर वह कोई काम नहीं कर सकते। फ्रान्स लौटकर वहा मदाम कामा के पत्र "वन्देमातरम्" में काम करते रहे। यहा उन्हें एक दूसरे भारतीय स्वतन्त्रता-प्रेमी राना के सम्पर्क में आने का मौका मिला। प्रथम विश्वयुद्ध के आनेके संकेत यूरोप मे प्रकट होने लगे थे। प्रमथ भाई को फिर ख्याल हुआ कि भारत के नजदीक कहीं चलें, इसलिये १९१३ ई० में वह तुर्की की राजधानी कुस्तुन्तुनिया में आये। नौजवान तुर्क दलने तुर्की में काफी सफलता प्राप्त की थी, उसके नेता अनवर पाशा अब सुल्तान के बागी नहीं बल्कि वईसुल्वज़रा (प्रधान-मन्त्री) थे। प्रमथनाथ ने सेना में भरती होने की इच्छा प्रकट की। उनके भारतीयपने को ढाक्ने के लिये नाम

दाऊदअली पड़ गया। किन्तु जब भर्ती करने का मौका आया, तो अंग्रेजों का जासूस होने के संदेह मे उन्हे भरती नहीं किया गया। हैदराबाद से अब्दुल कयूम बेग फैज (तुर्की) टोपी बनाने का काम सीखने गये हुए थे। हिन्दुस्तान में लम्बे फुंदने वाली लाल तुर्की टोपियों का काफी रवाज हो गया था। मूल स्थान फैज के नामपर उन्हें फैज कहा जाता था। दाऊदअली ने भी बेग के सम्पर्क में आकर फैज बनाना सीखना शुरू किया। अबूसईदका "जहाने इस्लाम" (इस्लाम संसार) अखबार निकलता था। दाउदअली उसके लिये अंग्रेजी से उर्दू में लेख अनुवाद कर देते थे। यह पत्र अरबी, फारसी और थोड़ा सा उर्दू में रहता था। इसी समय दाऊदअली मुहम्मद अली के "कामरेड" पत्र के विशेष संवाददाता थे।

१९१४ ई० में युद्ध आरम्भ होने के समय दाउदअली अभी कस्तुन्तुनिया में ही थे। अब नौजवान तुर्क उन पर विश्वास करने लगे थे। धीरे धीरे दाउदअली भारत की ओर खिसकने लगे। बगदाद में आकर छ मास रहे। फिर अफगानिस्तान की ओर बढने के ख्याल से ईरानिया के भीतर अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचार करने के लिये नौजवानतुर्कों ने उन्हें १९१६ मे ईरान भेजा। बुशहर और शीराज़ होते यज्द में पहुँचे। विदेशी भाषाओं में फ्रेंच और इंगलिश के बाद तुर्की का उनको अच्छा ज्ञान हो गया था और अब फारसी के क्षेत्र में चले आये थे। वहा खानखोजे और मुहम्मद कोकनी मिले। प्रसिद्ध देशभक्त सूफी अम्बा प्रसाद उस वक्त शीराज में डटे हुए थे। उन्होंने एक मदरसा खोल रखा था, जिसमे बृहत्तर-इस्लाम पर लेक्चर देते थे। जनतांत्रिक दल के प्रचारक लूला से भी प्रमथनाथ का परिचय हुआ। यह सारे भारतीय वहा इसलिये जमा हुए थे, कि ईरानियों को अंग्रेजों के विरुद्ध उभाडे और मौका पाते ही भारत में स्वतंत्रता का झण्डा गाडने के लिये पहुँच जायें। १९१७ के मध्य में अंग्रेज कूटनीतिज्ञ साइक्स वहा पहुँच गया। ईरान का वजीर-आजम कवामुस्सल्तनत (पिता) अंग्रेजों का पक्षपाती था। उसने हिन्दुस्तानियों को पकड़वाना शुरू किया। सूफी अम्बापसाद को डर लगा, कि अगर मुझे पकड़ के

अंग्रेजों के हाथ में दे दिया गया तो वह बुरी मौत मारेंगे, इसलिए उन्होंने जहर खाकर आत्महत्या करली। दाऊदअली, मुहम्मद अली, खानखोजे भाग कर कशकाई कबीले में शरणार्थी हुए। किसी ने कबीले के सरदार से इन लोगों का परिचय करा दिया था। वह लोग तंबू में रहते और नमाज पढते। सरदार ने कह दिया था—ये पक्के लोग हैं, संदेह न हो, इसके लिये तुम अपने को पक्का मुसल्मान दिखलाओ। साल भर के करीब वह कशकाइयों के पास रहे। युद्ध के बाद अंग्रेजी सेना १९१८ में हटी, तो दाऊदअली तेहरान पहुच गये। वहां दारुल्फनून नामक संस्था मे अंग्रेजी पढाने लगे। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, तुर्की, फारसी अच्छी तरह जानते थे। अब दाऊदअली से बदलकर वह अब्दुल रहमान हो गये थे।

१९०२ ई० में तार पाकर दाऊदअली मास्को पहुँचे। उस समय मास्को में भारतीय क्रांतिकारियों का अड्डा सा जमा हुआ था। चट्टोपाध्याय, आचार्या, अवनीमुकर्जी आदि कितने ही भारतीय क्रांतिकारी मौजूद थे। इनमें से कोई कम्युनिस्ट शिक्षा-दीक्षा से होकर नहीं निकला था, इसलिये सब की मनोवृति मध्यवर्ग की थी, और सभी अपने अपने नेतृत्व के लिए आपस में लड़ते रहते थे। भारत से हिजरत करके आये कितने ही लोग यहा मिले। पुराने परिचित बर्कतुल्ला भी अब यहीं थे। दाऊदअली की इच्छा हिन्दुस्तान के पास रहने के लिए इदोचीन जाने की थी, लेकिन दूसरे ईरान भेजना चाहते थे। इधर भारतीयों की भीतरी कलह को देखकर दाऊदअली को दु ख होने लगा था। इसी समय प्रसिद्ध इंदोलॉजिस्त डाक्टर ओलदेनबुर्ग से उनकी भेंट हुई। उन्होंने कहा— छोड़ो इस झगडे को, चलो शिक्षा का काम करो। ओलदेनबुर्ग ने १९२२ मे उन्हें लेनिग्राद बुला लिया और प्राच्य प्रतिष्ठान में फारसी और बगला पीछे उर्दू के भी पढाने का काम दिया। दो साल तक उनका शरीर स्वस्थ रहा। अब वे ३६ के करीब थे, इसी समय १९२४ मे गिर जाने से पैर मे कड़ी चोट आयी। डाक्टर ने बाध दिया, जिसके कारण उनका दाहिना पैर हमेशा के लिए बेकार हो गया। सेनीटोरियम मे रहने पर शायद कुछ फ़ायदा

हो, इसलिये १९२७–१९२८ में वह कालासागर के तट पर गये। वहीं उनका लुबोव अलेकसेन्द्रोवना से परिचय और प्रेम हुआ। दोनों की शादी हो गयी। जिस समय (अप्रैल १९४६) उनसे मैं बात चीत कर रहा था, उस समय उन्हें शिक्षक का काम करते हुए २३ बरस हो गये थे। १९४१ में युद्ध आरम्भ हुआ। कितने ही और महत्वपूर्ण आदमियों की तरह प्रमथनाथ दत्त को हवाई जहाज से कजान भेज दिया गया, जहा वह छ मास रहे। फिर अगस्त १९३३ में मध्यएसिया में फरगाना की उपत्यका में चले गये। वहां मलेरिया ने पकडा। अभी युद्ध समाप्त नहीं हुआ था, तभी नवम्बर १८४३ में वह मास्को प्राच्य क्रिया प्रतिष्ठान में पढ़ाने के लिये चले आये, और तब से यहीं रह रहे हैं।

८—पहिले तीन मास

जून जुलाई अगस्त रूस के गर्मी और बरसात के दिन हैं। इसे गरमी तो शिष्टाचार ही के लिए कह सकते हैं क्योंकि जहाँ तक लेनिनग्राद का संबन्ध है, इस समय कोई ही हफता ऐसा होता, जिसमें अहोरात्र में किसी न किसी समय तापमान हिमबिन्दु से नीचे न जाता हो। तो भी इस वक्त हरियाली देखने में आती है। मास्को में तो पसीने की भी नौबत आई थी, किन्तु लेनिनग्राद में वर्षा होते समय, हवा तेज होने पर सर्दी बढ जाती। हमारे पिछवाडे जर्मन हवाई आक्रमण के कारण गिर गये मकानों की जगह कई एकड खाली जमीन निकल आई थी, जिसको, जैसा कि मैंने पहिले कहा, लोगों ने क्यारी क्यारी में बांट लिया था। जुलाई के अन्तिम सप्ताह में वहा खूब हरियाली दिखाई पडती थी, आलू बढ गया था सलाद और प्याज को खाया जाने लगा था। हमारी दिनचर्या अगस्त के अन्त तक अधिकतर घर मे रहकर पुस्तकों को पढना, कभी कभी सिनेमा या नाटक देखने जाना। युनिवर्सिटी के प्राच्य-पुस्तकालय से काम की पुस्तकें यथेच्छ मिल जाती थीं। यहा आते ही यह निश्चय हो

गया था, कि सोवियत मध्यएसिया के बारे में एक ऐसा ग्रंथ लिखें, जिससे उसके अतीत और वर्तमान का अच्छी तरह परिज्ञान हो सके। वर्तमान के लिए बहुत दिक्कत नहीं थी, क्योंकि उसके सम्बन्ध की सामग्री सुलभ थी। भारत लौटने पर पहिले (१९४७) के अन्त मे ही मैंने सोवियत मध्यएसिया के नाम से उसे लिख भी डाला, किन्तु मध्यएसिया का इतिहास उतना आसान नहीं था। जब मैं उनके बारे मे पुस्तकें पढने लगा, तो मालूम हुआ कि युरोप की समुन्नत भाषाओं— इंगलिश, फ्रेंच, जर्मन और रूसी—मे भी कोई सुसंबद्ध इतिहास नहीं लिखा गया है।

डाक्टर बरान्निकोफ संस्कृत और भारतीय भाषाओं के ही पंडित नहीं है बल्कि रोमनी (सिगान) भाषा का भी उन्होंने विशेषतौर से अध्ययन किया है। मैंने उनकी पुस्तकें देखी तथा रोमनियों के उद्गम के बारे में उन से बातचीत की। इसमें तो संदेह नहीं, कि रोम वस्तुत- हमारे डोम शब्द का ही परिवर्तित रूप है। यह घुमन्तू डोम किसी समय भारत से पश्चिम की ओर चले गये। लोली के नाम से प्रसिद्ध यह लोग ईरान और मध्यएसिया में मिलते हैं, किन्तु युरोप में उन्होंने अब तक अपने पृथक् अस्तित्व को कायम रखा है। इनकी भाषा में भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, ब्रज और अवधी की विशेषतायें मिलती हैं। मेरा ख्याल था कि अधिकांश रोम (डोम) लोगों का सम्बन्ध मुसलिम सन की सातवीं या आठवीं शताब्दियो (ईसा की तेहरवीं-चौदहवीं सदी) मे भारत से विछिन्न हुआ। घुमन्तू होने से उनकी विचरण भूमि बहुत विस्तृत थी। वर्तमान काल में भारत में इतने निर्बन्ध होने के बाद भी हम पेशावर से रंगून और हरिद्वार से मद्रास तक इन्हे अपनी सिरकी लिये हुए घूमते देखते हैं। जब राजनीतिक निर्बंध उतना नहीं था, उस समय तो यह भारत से मध्यएसिया, ईरान तक का चक्कर काटते रहते होंगे। किसी समय राजनीतिक उथल-पुथल के कारण उनका भारत लौटने का रास्ता कट गया, जिसके कारण वह भारत से फिर सम्बन्ध जोड नहीं सके और पश्चिम से और पश्चिम की ओर बढते चले गये। बन्दर, भालू नचाना, हाथ देखना आदि के साथ पश्चिम मे जाकर उन्होंने घोडा पालने

बेचने का भी पेशा स्वीकार कर लिया। पश्चिम में वह भैंसों, गदहों या टट्टुओं पर घर लादे फिरने की जगह गाडियों का इस्तेमाल करने लगे।

स्वाध्याय और घरू काम के सँभालने में विरोध है, इसका २४ जुलाई (१९४५) को पता लगा। बिजली की केतली में पानी गरम करने के लिये रखकर मैं लिखने पढने के लिये चला गया। दो घंटे बाद होश आया, तो देखा पानी सारा सूख गया है, बर्तन का रांगा गल गया है, और तार भी जलने लगा है। केतली चौपट हुई, २०० सौ रूबल का चपत लगा।

लेनिनग्राद दो शताब्दियों तक रूस की राजधानी रहा— उस वक्त उसका नाम पितरबुर्ग था। इसलिए वहा राजधानी के अनुरूप बहुत सी संस्थायें कायम हुईं, जिन्हें मास्को के राजधानी बनने के बाद भी हटाया नहीं जा सका। लेकिन इधर कुछ संस्थायें तो लडाई के कारण इतनी उजड गईं, कि उनके फिर से जमने में देर लगेगी। २९ जुलाई को हम प्राणि-उद्यान (जूसद) देखने गये। किसी समय यहां पर हर तरह के जानवर रहे होंगे, लेकिन अब दो-तीन भालू, दो वानर, कुछ लोमडिया, उल्लू, बाज,गिद्ध,खरगोश, नीलगाय आदि रह गये हैं। जूसद के बहुत से मकान बम-वर्षा में नष्ट हो गये, लेकिन तब भी लडकों की भीड इतवार को जमा हो जाया करती है। वहा से हम पार्क-कुल्तूर (संस्कृति उद्यान) में गये। भीतर प्रवेश के लिये दो रूबल देना पडता है। यह बहुत विशाल उपवन है, जिसमें देवदार और दूसरे वृक्षों की हरियाली है। घास के मखमली फर्श के साथ साथ टेडी मेढी जलधाराओं में नौका-विहार का आनन्द मिलता है। उद्यान में जहा तहा सिनेमा, नाट्यगृह, नृत्यअखाड़े मौजूद हैं। एक जगह बहुत से नर-नारी नाच रहे थे। उद्यान का बैंड बज रहा था। नदी में नोका पर चार कुमारिया जोर से दौड लगा रही थीं। एक बडी नदी भी उद्यान के किनारे से जाती है, जिसके बालुकामय पुलिन पर तो लोगों का खासा मेला लगा हुआ था—तरुण तरुणी, बच्चे बूढे स्नान कर रहे थे। जुलाई के मध्यान्ह में पानी अब इतना सर्द नहीं रह गया था। मैं भी उतरा और चाहा कि नदी पार कर जाऊँ, लोला को डर लगा कि मैं कहीं बीच में ही न रह जाऊँ, तो भी

आधीसे अधिक नदी में तैर गया था, जहाँ से लौटने का मतलब था पूरी नदीपार कर जाना। खाने-पीने की चीजें जगह-जगह मिल रही थीं। यदि आप राशन-टिकट दे सकें, तो दो रुपये का माल आने डेढ आने में मिलता, नहीं तो बिना राशन के भाव लेना पडता। एक गुल्ला आइसक्रीम का दाम ६ रूबल (प्राय पोने चार रुपया) था। बिना राशन चीजें बहुत महँगी थीं। मशहूर नौ पीतर-पाल दुर्ग सामने दिखाइ पड रहा था, यहां के सैनिकों का बोलशेविक क्रांति में बहुत हाथ था। लौटते वक्त हम उद्यान के बाहर किन्तु पास में ही अवस्थित बौद्ध मंदिर होते गये। यह पत्थर की बहुत मजबूत और सुन्दर इमारत तिब्बती मदिरों के ढंग की बनी हुई है। अब कोई यहा पुजारी नहीं रह गया था, इसलिये मूल्यवान् मूर्तिया और चित्रपट किसी संग्रहालय में रख दिये गये हैं। मन्दिर की कोठरियों का इस्तेमाल यदि ध्वस्त नगर के नागरिक अपने रहने के लिये करते हैं, तो कोई बुरी बात नहीं। मेरे सामने ही मंगोलीय जन प्रजातंत्र के प्रधान मन्त्री छोय-बल्सान् कुछ और मन्त्रियों के साथ मास्को होते लेनिनग्राद भी आये थे और मंदिर को देखने गये थे। यह तो केवल पूंजीवादी देशों का प्रोपेगंडा है, कि कम्युनिस्टों ने धर्म को अपने यहां से उठा दिया। रूस में रविवार को गिरजे और धर्म-स्थान जितने भरे रहते हैं, उनके शतयांश भी भगत पश्चिमी यूरोप के गिरजों में नहीं देखे जाते। वस्तुतः संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र में किसी धर्म ने देश की जितनी सेवा की है, उसकी जड़ भी उस देश में उतनी ही मजबूत होती है। इसी कारण मंगोल लोग बौद्ध धर्म को वैसे ही अपना राष्ट्रीय धर्म समझते हैं, जैसे रूसी लोग ग्रीक चर्च को। मगोल प्रधान-मन्त्री ने इस मंदिर को देखकर इच्छा प्रकट की थी, कि फिर यहा कुछ भिक्षु रखकर इसे आबाद किया जाये।

३० जुलाई को बूंदा-बांदी होने लगी, जिसके कारण सर्दी भी बढ गयी लोग कह रहे थे, अब शरद (पतझड) शुरू हो गया, अब बराबर इसी तरह वर्षा-बूँदी और सर्दी रहेगी, और सूर्य के दर्शन कभी कभी हुआ करेंगे। सितम्बर मे वर्षा बन्द होती है, किन्तु साथ ही सर्दी बढ जाती है। लेनिनग्राद शहर

मे गैस लगाने की योजना काम में लाई जारही थी। पास के इलाके के पीट कोयले से बनाई गैस लाकर शहर में लगा देने पर ईंधन की बहुत बचत होती, इसलिये गैस योजना बनी थी। एक मध्यम-वर्गीय महिला कह रही थी—यह योजना दस वर्ष में पूरी होगी। लेकिन अपने रहते रहते ही मैंने कई मुहल्लों में म्युनिस्पैल्टी की ओर से गैस के चूल्हे भी लगे देख लिये। म्युनिस्पैल्टी को केवल गैस का पाइप ही नहीं बल्कि हरेक घर में चूल्हा भी लगा देना था, जिसके लिये थोडा-सा किराया जरूर देना पडता। लेकिन ३० लाख की आबादी के शहर के लिये यह कितना बडा काम था, इसे कहने की अवश्यकता नहीं। बाहर के बहुत से लोग समझते हैं, कि सोवियत के नागरिक तो अब होटल में खाना खाते हैं, उनके घरों में अब चूल्हे की आवश्यकता नहीं है। इसमें शक नहीं कि हर मुहल्ले में सामूहिक रसोईखाने भी हैं, लेकिन उनका उपयोग लोग समय-कुसमय पर करते हैं। मैं २५ महीने लेनिनग्राद में रहा, लेकिन मैंने अपने मुहल्ले के सामूहिक रसोई घर का मुँह केवल बाहर सडक से ही देखा।

जितना समय बीतता गया, उतना ही मुझे भारत के समाचार के जानने की उत्सुकता भी बढती गई। चिट्ठियाँ सेंसिस होतीं, और वह भी बहुत दिनों बाद मिलतीं। हमारे कमरे में रेडियो लगा हुआ था, लेकिन वह स्थानीय रेडियो था। सोवियत के प्राय. छोटे छोटे नगरों में भी बडे रेडियो स्टेशनों के प्रोग्राम को सुनकर टेलीफोन की तरह से पुन. प्रसारित किया जाता है। इनके यंत्र दो चार रुपये में मिल जाते हैं। ऐसे यंत्रों से शायद ही कोई घर खाली मिलेगा। किराया भी कम लगता है और अहोरात्र में बीस इक्कीस घंटे वह बोलता रहता है। जापान में पाच मिनट अंग्रेजी के लिए भी देते थे, किन्तु यहाँ वह भी नहीं था। संगीत की भरमार यद्यपि सोवियत के फिल्मों और नाटकों में नहीं होती, किन्तु इस रेडियो मे उनके लिये काफी समय दिया जाता था। क्लासिकल (उस्तादी) संगीत सारी दुनियां मे जान पडता है, एक ही साचे में ढाला गया है। जैसे भारत के उस्तादों के सगीत को सुनने के लिये बडे धैर्य की अवश्यकता होती है, वही बात यहा के बारे में भी है। गाता

फाड़ना ही उच्च संगीत है, यह मानने के लिये मैं तैयार नहीं हूँ। संस्कृत में कहते हैं "गद्य कवीना निकषं वदन्ति" उसी तरह पश्चिम के लोग ओपेरा अर्थात पद्यमय नाटक को नाट्यकला की चरम सीमा बतलाते हैं। लेकिन उस्तादी संगीत की तरह ही ओपेरा को सुनते वक्त भी मेरा कान पकने लगता था। परम्परा किस तरह आदमी को बेवकूफ बनाती है, यह दोनों उदाहरण उसी के प्रमाण थे। पुरुषों को संगीत विद्या में हाथ नहीं लगाना चाहिये. यह तो मैं नहीं कहता लेकिन यह जरूर कहूँगा, कि पुरुष संगीत के शिक्षक और संगीत-शास्त्री ही हो सकते हैं। उनके पास मधुर स्वर पैदा करनेवाला कंठ नहीं है अधिकांश पुरुष गायक के वस्तुतः स्त्रियों के क्षेत्र मे अनधिकार चेष्टा करते हैं। लेकिन उस्तादी संगीत में स्त्रिया भी पुरुषों का कम कान नहीं काटतीं, विशेषकर जब वह बेसुरा क्रन्दन शुरू करतीं, अथवा कोयल या किसी दूसरे पक्षी के स्वरको अपने कंठ से निकालना चाहती है। मैं जबरदस्ती कभी कभी स्थानीय प्रोग्राम सुनने के लिये मजबूर होता था, क्योंकि घर में गुणग्राहक मौजूद थे। उस समय इस तरह के ख्याल मेरे दिमाग में दौडा करते थे। मेरी सबसे ज्यादा बेकरारी थी भारत का समाचार जानने की। धीरे-धीरे मुझे निश्चय करना पड़ा कि विदेशी समाचारों को सुनानेवाला एक रेडियो लेना जरूरी है। अभी यह यंत्र कम ही तैयार किये जाते थे, इसलिये उनका दाम बहुत ज्यादा था। मेरे साथी बतला रहे थे, कुछ महीने और ठहर जाने पर वह सस्ते मिलने लगेंगे।

५ अगस्त को रविवार होने से छुट्टी का दिन था। मेरे लिये तो पहिली सितम्बर को ही काम का दिन शुरू होनेवाला था। आज धूप थी। शाम को थोडी थोडी बूंदा बादी भी हुई। लोला की पदूरुगा (सखी) सोफी वासिलि-येव्ना (वासिलीयेफ-पुत्री सोफी) हमारे ही मुहल्ले में पास ही रहती थीं। वह जारशाही जमाने के एक जेनरल जनरल की पुत्री, अतएव सरजन मध्यमवर्ग की संतान थीं। उनके कई विवाह हो चुके थे, जिनमें सबसे पिछला लडाई के दिनों में एक शोफर से हुआ था। लेकिन शोफर (मोटर ड्राइवर) का यह मतलब नहीं, कि वह हमारे यहा के ड्राइवर जैसा था। वह साथ ही मोटर-इंजीनियर

भी था, और बहुत सुसस्कृत भी। शायद उसके माता-पिता रूस मे बसे हुए जर्मन थे। सोफी को आजकल अपनी कमाई पर भरोसा करना पडता था, जिसके लिये वह एक कारखाने में काम करने जातीं, और चार सौ रूबल मासिक पातीं। उन्होंने तीन कमरे ले रखे थे, जिनके किराये में सौ रूबल चले जाते। तीनसौ रूबल में वह कैसे अपने दोनों लडको और अपना खर्च चला लेती थीं, यह समझना कुछ मुश्किल जरूर था, किन्तु उनके पास तीन तीन राशन कार्ड भी थे। सोफी का हमारे घर के साथ बडा घनिष्ट सबध था, इसलिये किसी भी उत्सव या पर्वदिन में परस्पर बुलौआ जरूर होता। कभी कभी जब पर्व के उपलक्ष मे शराब का दौर चलता, तो मुझे बडी कठिनाई होती, लेकिन पीछे लोगो ने जान लिया था, कि शराब न पीने का में कडा नियम रखता हू। उनको इसका अर्थ नहीं मालूम होता था, क्योंकि उनके देश मे शराब को पानी मे अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, हा दाम के मॅहगे होने की शिकायत जरूर की जाती थी। मैं किसी को शराब पीते देखकर घृणा नहीं करता, किन्तु जीवन में एक चीज को जब कभी नहीं छुआ, तो उस रिकार्ड को कायम रखने का लोभ जरूर रहता है।

६ अगस्तको हम यहां का एक रीनक (हाट) देखने गये। लकडी के बने हुए छोटे छोटे स्टालो की यह हटिया हमारे यहा की हटिया का कुछ विकसित रूप थी। फरक इतना ही था, कि यहापर पेशेवर दूकानदार नहीं थे. आसपास के गावों के लोग अपने घरो में पैदा की हुई चीजें—साग-सब्जी, फल, अंडे आदि लाते, उसी तरह जिसको अपनी कोई अधिक प्रिय चीज लेने की इच्छा होती, वह भी आता। राशनकार्ड की यहां मांग नहीं थी, इसलिये हरेक चीज दस-गुने बीस-गुने दामपर मिलती थी। कोई अपना मक्खन इसलिये बेचता था, कि उस की जगह सिगरेट ले, कोई सिगरेट भी किसी दूसरी चीज के लिये बेचना चाहता था— सीधा अदला-बदला नहीं होता था। जूते भी मिल रहे थे, कोट और कपडे भी। मैं तो इस ख्याल मे गया था, कि अगर कोई पुराना रेडियो मिल जाता, तो ले आता, लेकिन वहा उसका कोई पता नहीं था। लोला

भी एक रिश्तेदार महिला के यहां रेडियो था, लेकिन वह दीर्घ तरंग का था, जिसपर भारत या इंग्लैंड को सुना नहीं जा सकता था।

सात अगस्त को खाते वक्त बड़ा आनन्द आया, जबकि अपने हाथके उगाये आलू को सूप में पड़े देखा। अभी वह दो-तीन तोले के थे; मालूम हुआ कि यहाँ की भूमि आलू के लिये बहुत अनुकूल है।

९ अगस्त को जापान के विरुद्ध सोवियत् का युद्ध आरंभ होगया था, अब रूसी खबरें भी मैं समझने लगा था, लेकिन भारत की एक भी खबर न सोवियत के रेडियो पर सुनने पाता न यहां के अखबारों में ही।

१३ अगस्त को सोमवार का दिन था। आज विश्राम दिन का टिकट मिला था। संस्कृति-उद्यान तथा दूसरे विश्राम-स्थानों के लिये ऐसे टिकट सभी कार्यालयों में मिला करते हैं। यूनिवर्सिटी, कॉलेज, दूकान, कारखाने, ऑफिस सभी जगह काम करनेवाले इससे फायदा उठाते हैं। टिकट का दाम ३० रूबल (भारत २० रु०) था, जिसमें ६ रूबल ही अपने देना पड़ता, बाकी मजदूर-संघ देता। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि प्रोफेसर हो या चपरासी, दुकान पर बैठनेवाला हो या कारखाने का मैनेजर, सभी दिमागी या शारीरिक काम करने, वाले स्त्री-पुरुष मजदूर-संघ के सदस्य होते हैं, और उनके वेतन से संघ का शुल्क कटता जाता है। संघ इस पैसे से अपने सदस्यों के मनोविनोद, स्वास्थ्य, बेकारी आदि के लिये प्रबन्ध करता है। यह एक दिन की छुट्टी का प्रबन्ध हमारे मजदूर संघ की ओर से था। हम उसे बिताने के लिये किरोफ-पार्क-कुल्तूर में गये, जिसके बारे में हम पहिले भी कह चुके हैं। नाट्यशाला की आज छुट्टी थी, नहीं तो उसका भी टिकट हमारे टिकट में शामिल था। सिनेमा देर से शुरू होनेवाला था, और उद्यान से हमारा मकान डेढ घंटे के ट्रामवाय के रास्तेपर था, इसलिये दोनों का ख्याल छोड़ना पड़ा। ६ बजे सबेरे ही हम रवाना हुए और साढे दस बजे उद्यान में पहुंचे। विश्राम लेनेवालों के लिये एक अलग कार्यालय है, जिसे "बाजा अद्‌ना दिनेव्नी अत्‌दिखा" (एक दिन विश्राम केन्द्र) कहते हैं। कार्यालय में टिकट का आधा लेकर हमारा नाम लिख लिया गया। कितने ही

और भी स्त्री-पुरुष आये थे, जिनमें स्त्रियों की सख्या अधिक थी। आज इतवार नहीं था, इसलिये पहिले जितनी भीड नहीं दिखाई पडी । नीचे ऊपर दुमजिले मकान में आठ कमरे थे, जिनमें नाचने, गाने, पढने, अटा खेलने के घरों में मनोविनोद का प्रबन्ध था। लेकिन विश्राम लेनेवाले आदमी घरों में बैठने के लिये यहां नहीं आते, वह तो प्रकृति की सुन्दर गोद का आनन्द लेना चाहते हैं। ११ बजे नाश्ता तैयार हुआ। रोटी अपने राशन-टिकट से लेनी पडी, नहीं तो बाकी चीजें विश्राम टिकट मे सम्मिलित थीं। खाने की चीजों मे लप्सा भी था, जिसका नाम हमारी लप्सी से मिलता जुलता है, किन्तु थी वह नमकीन सेवैयाँ। मछली, और साथमें मीठी चायका एक ग्लास– बस यही प्रातराश था। रूसी लोग मीठी चाय, सो भी प्याले मे नहीं शीशे के गिलास में पीते हैं। उसमें दूध डालना बेकार समझते हैं; हा यदि मिल सके तो कागजी नीबू का रुपये बराबर का टुकडा डालना बहुत पसन्द करते हैं। मध्यान्ह भोजन १ बजे के करीब हुआ। इसमे लोबिया और किसी साग का सूप (रसा) पहिले आया, इसके बाद टिन का मास, उबली हुई बडी लोबिया के साथ, और अन्त में कम्पोत परोसा गया, जिसमें पतले मीठे शरबत में पडी हुई खूबानी थी। चीजें बहुत स्वादिष्ट नहीं थीं, किन्तु पुष्टिकारक अवश्य थीं। शामके भोजन में रेजका (मूली के पतले टुकडे), चावल भरी कचौडी. (पेर्गसूरीसम) और मीठी चाय का गिलास था । यह शाम का भोजन नहीं बल्कि शामकी चाय थी।

"सर्वे सत्वा आहारस्थितिका" इस बुद्ध-वचन के अनुसार प्राणी मात्र की सबसे जबर्दस्त और अनिवार्य आवश्यकता है आहार, जिसके बारे में पहिले कहना आवश्यक था। लेकिन १०–११ घटे जो हमने उद्यान में बिताये. वह केवल खाने-पीने में ही नहीं बीते। प्रातराश के बाद हम स्नान के लिये नदी तट पर गये। वहां एक अच्छा खासा मेला लगा हुआ था, जिसमे स्त्रियों की सख्या अधिक होना हमारे देश के लिये कोई नई बात नहीं थी। स्कूलों के छोटे लडके लडकियां भी अपनी अध्यापिकाओं के साथ काफी सख्या में आये थे।

पुरुष जांघिया या स्नान-परिधान पहिने स्नान कर रहे थे, स्त्रियां स्नानपरिधान स्तनबंध और जांघिया में ज्यादा थीं। छोटे लड़के लड़कियां नंगे नहा रहे थे। नहाना, तैरना, फिर बालू में आकर लेटे लेटे धूप लेना, उसके बाद फिर नहाना और तैरना। दो बार मैं भी आधी नदी तक तैरने गया। धूप लेना यहां के लोग बहुत पसन्द करते हैं, और हफ्तों धूप लेते लेते जब इनका रंग कुछ कुछ ताम्रवर्ण हो जाता है, तो इसे बहुत पसन्द करते हैं, स्वस्थ शरीर का चिन्ह मानते हैं। स्त्री-पुरुषों के मिलने जुलने में कोई भेदभाव न होने के कारण अर्धनग्न-सौंदर्य को और भी लोग बिलकुल साधारण सी दृष्टि डालते हैं। नहा धोकर घूमते घामते १ बजे हम फिर भोजनालय लौट आये। २ बजे मध्यान्ह-भोजन हुआ। वहां कपड़े-वाली आराम कुर्सियां मिल गयीं, जिनको लेकर हम नदी के तट पर वृक्षों के नीचे जा बैठे। हमारे पैरों के नीचे भी हरी हरी घास थी। कितने ही लोग यहां के पुस्तकालय से कोई उपन्यास या दूसरी पुस्तक भी लाकर पढ रहे थे। कुछ लोग कुर्सी पर पड़े पड़े सो रहे थे, और कुछ नहर के नौका विहार को देख रहे थे। नौका-विहार को देखकर मुझे कश्मीर याद आ रहा था। जार-शाही जमाने में यह उद्यान राजप्रासाद से सबद्ध था, और राजवंशियों तथा उनके अनुचरों के सिवाय कोई दूसरा भीतर आने नहीं पाता था। लेकिन, आज मजदूर अपने पैरों से इसे रौंद रहे थे। महल अब भी मौजूद है, जिसमें युद्ध के समय ग्राम-अर्थशास्त्रियों का स्कूल खुला था। थोड़ी देर हम भी चीनी अटा खेल खेलते रहे, फिर गाना सुना, फिर टहलते रहे। लेनिनग्राद महानगर है, वहां हित-मित्र सगे-संबंधी एक दूसरे से दूर रहते हैं, जिससे मिलना जुलना आसान काम नहीं है। यहां कभी कभी उनसे भी मुलाकात हो जाती है। लोला की सखी वलन्तिना अपनी मां के साथ आयी हुई थी। वह किसी पुस्तकालय में काम करती थी। लोला के कथनानुसार वह बडी अच्छी गायिका है। सुन्दरी भी थी। मैंने कहा— फिर नाट्यमंच पर क्यों नहीं गई? यहां हमें गाना सुनने का मौका नहीं था।

ट्राम के अड्डे पर आये। भीड इतनी थी, कि आध घन्टे तक ट्रामों में

जगह ही नही मिल सकी। फिर किसी तरह चढकर साढे नौ बजे घर पहुँचे। लेकिन अगस्त के साढे नौ बजे क्या साढे ग्यारह बजे तक गोधूली ही रहती है।

बाहर ही मनोरंजन और मनोविनोद की चीजें नहीं मिलती थीं, बल्कि घरके भीतर भी उसका काफी सामान एकत्रित था। लोला का अपने इकलौते पुत्र पर असाधारण प्रेम होना स्वाभाविक था, जिस पुत्रको उसने लेनिनग्राद के हजार दिनों के घिरावे में अपना प्राण देकर पाला था। जब राशन छटांक डेढ-छटाक रह गया था, तब वह अपना खाना उसे दे देती और स्वय भूखी रह जाती। एक बार वह इतनी निर्बल हो गई, कि खडी होते समय गिर पडी और सिर फूटने से उसके सूखे शरीर में मे बहुत सा खून निकला। तो भी कितनी ही बार मुझे उसके प्रेम में अन्धापन ज्यादा मालूम होता था। लडका जानता था कि उसकी माँ किसी बातसे इन्कार नहीं कर सकती, इसलिये जिद्द करना उसका स्वभाव हो गया था। सुबह उठते ही लोला अपने ईगर को बुलाती—"कपड़ा पहिन, ईगरुश्का, मोई किशिन्का" (कपडा पहिन ईगुरवा मेरे ललुवा) चाहे दो घंटा भी दिन चढ गया हो, लेकिन ईगर पडा सोता रहता। फिर थोडी देर मे मा का ध्यान उधर जाता, तो चिल्लाकर उसी बातको दुहराती। ईगर को उसकी परवाह नहीं थी। वह अपने मन की करना जानता था। यद्यपि बालोद्यान में जाते ही अच्छा प्रातराश मिलता, फिर भोजन आदि का भी प्रबन्ध था। लेकिन लोला अपने किशिन्का को बिना कुछ खिलाये कैसे जाने देती? एक गिलास दूध पीने मे किशिन्का १५ मिनिट लगा देता। बात न मानने पर बीच-बीच मे लोला का चीखना-चिल्लाना जारी रहता। इस साल पहिली सितम्बर को ईगर स्कूल मे जाने लायक हो गया था, क्योंकि उसके सात वर्ष मे केवल चार दिन ही बाकी रहते थे, लेकिन लोला नहीं चाहती थी कि स्कूल मे जाकर मजदूरों के लडकों के साथ वह विगड जाय। आखिर बालोद्यान मे भी तो अधिकाश मजदूरों के ही लड़के-लड़किया थे। लेकिन वहा बुद्धिवाद से क्या प्रयोजन था? कह रही थी एक बजे स्कूल से छुट्टी हो जायगी, हम घरपर नहीं रहेंगे, फिर सारे मुहल्ले के गुडे लडकों में पड कर गुडा बन जायगा। इसीलिये सात वर्ष मे चार दिन कम

होने का बहाना लेकर उसे सालगार और स्कूल नहीं भेजा।

१७ अगस्त को हम "घिरे लेनिनग्राद की वीरता" नामक संग्रहालय देखने गये। यह नया संग्रहालय सोल्यानी सड़क पर एक बड़े मकान में था। यह मकान पहिले रूसी धर्माधारी का था। इस संग्रहालय में १९४१–१९४५ तक के घेरे का प्रदर्शन था। युद्ध से पहिले सोवियत के सारे औद्योगिक उत्पादन का १०.५ प्रतिशत लेनिनग्राद में पैदा होता था, इससे राजधानी न रहने पर भी लेनिनग्राद का महत्व मालूम होगा। इसी मुहल्ले में पुश्किन, चेर्नेव्स्की जैसे कलाकार रहे थे। वहां रखी हुई चीजों में एक जगह एक छोटी लडकी की पेन्सिल से लिखी डायरी के कुछ पन्ने रखे हुए थे। एक दिन लिखा था—पिता मर गये, ... माता .. ... फिर पन्ना खाली। लिखने वाला अब निर्जीव था!

१८ अगस्त को कई दिनों की धूप के बाद सवेरे थोड़ी सी वर्षा हुई। खटमलों और पिस्सुओं के मारे हम पहिले से ही परेशान थे, अब मच्छरों (कमारोफ) ने भी धावा बोल दिया। हमारा मुहल्ला शहर के एक छोरपर होने के कारण उसपर सबसे पीछे प्रबन्धकों की नजर पहुचती, इसीलिये लड़ाई के दिनों में पैदा हो गये खटमल और पिस्सू अब भी यहां से नहीं हटाये गये थे। हम चाहते थे, अगर कहीं युनिवर्सिटी के नजदीक मकान मिलता, तो अच्छा, लेकिन मकानों की इतनी इफरात तो नहीं थी। प्रोफेसर होने के कारण हमें चार पांच कमरे मिलने चाहिये थे, लेकिन हमें वहा यदि दो कमरे भी मिल जाते, तो हम उससे सतुष्ट थे। युनिवर्सिटी के रेक्तर (चासलर) ने मकानों के प्रबन्धक को खास तौरसे चिट्ठी दी, लेकिन मकान की समस्या तो तभी हल होनेवाली थी जब कि मकान बनाने की योजना पूरी हो। उसदिन ६ रूबल (चार रुपया) किलो (सवा सेर) खीरे बिना राशन-कार्ड के मिल रहे थे। लोला दस किलो खीरे खरीद लायी। कहा-सलाद बनेगा अचार बनेगा। खीरे के अचार का रूस में बड़ा शौक है। पानी में खीरे को नमक डालकर रख देते हैं, और पन्द्रह बीस दिनों के बाद उसमें कुछ खट्टापन आजाता है, अचार तैयार होगया।

. २० अगस्त को मेरा एक दात दर्द करने लगा, २१ को वह पीडा और बढती गयी । सोवियत शासन ने जो बडे बड़े काम किये हैं, उनमें मुफत चिकित्सा का प्रबन्ध भी एक है । हमारा ही उदाहरण ले लीजिये । हम अपने मुहल्ले के चिकित्सा-केन्द्र से मुफत चिकित्सा करा सकते थे, ड क्टरों को कुछ नहीं देना पडता था । हा, यदि बीमार रहने पर भी अस्पताल नहीं जाना चाहते तो दवाई का दाम देना पड़ता । तिरयोकी मे युनिवर्सिटी का सैनीटोरियम था, वहा पर भी मुफत चिकित्सा का प्रबन्ध था । इन दो जगहों के अतिरिक्त युनिवर्सिटी के भीतर एक बहुत भारी चिकित्सालय था, जिसमें दर्जनों डाक्टर काम करते थे । मैं दांत की पीडा से मजबूर हो युनिवर्सिटी के डाक्टर के पास गया । डाक्टर, एक महिला थीं । उन्होने देखकर बतलाया कि दात में छेद हो गया है, स्नायु सड गयी है । दांत को उन्होंने छील दिया, घाव को साफ कर दिया । बिजली से चलने वाले दात सम्बन्धी सभी आधुनिक यत्र वहा पर मौजूद थे । मूझे दर्द इतना मालूम हो रहा था, कि चाहता था दात ही उखड जाय तो अच्छा । महिला डाक्टर ने कहा— नहीं आपके दात बहुत अच्छे हैं । बनावटी दात उतने अच्छे नहीं होंगे, और एक दात निकालने से दूसरे दात कमजोर पड़ने लगेंगे । उन्होंने फिर कहा— "मैं प्रोसलिन भरकर ठीक कर दूगी, किन्तु पहले भीतर का घाव अच्छा हो जाना चाहिये ।" उन्होंने दात को अच्छी तरह साफ करके अस्थायी तौर से प्रोसलिन भर दिया । २२ अगस्त को दिन-भर दात अच्छा रहा, किन्तु रात को फिर दर्द बढना शुरु हुआ । मैं बिल्कुल नही सो सका । ख्याल आता था,कि हनूमानबाहुक की पुस्तक होती, तो मैं भी तुलसीदास के शब्दों में बाहुपीड की जगह दात-पीड बदल कर बजरग बली की दुहाई देता । जान पड़ा, दात के भीतर अभी भी मवाद है । २३ अगस्त को १२ बजे फिर डाक्टर के पास गया । रास्ते भर मार्मिक वेदना हो रही थी, दात के छिद्र को खोलने पर वह कुछ कम हुई । डाक्टर ने भीतर साफ करके दवा भरदी । मैंने कहा छिद्र का मुँह न बन्द करें, क्योकि उसमे पीडा बढ जाती है । उस दिन शाम को बुखार भी आ गया । बीच बीच में अब मुझे डाक्टर

खाने और चाय का समय होने पर खा पीकर ही लौटता था। हम बहुत डाटकर कहते कि अगर खाना खाके आयेगा तो फिर नहीं जाने देंगे; लेकिन वह कहा रोने वाला था। आकर कहता— क्या करूं, चाची तान्या ने नहीं माना। बच्चों की शिक्षा और सेवाशुश्रूषा पर सोवियत सरकार का सबसे अधिक ध्यान है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं है। बालोधान का लक्ष्य क्या है, इसके बारे में एक सोवियत शिक्षा शास्त्री के निम्न वाक्य पठनीय हैं—"बालोधान तीन से सात वर्ष तक की चार श्रेणियों के बालक-बालिकाओं के लिये है। यहां बच्चे १०–१२ घंटे रहते हैं। कुछ बालोधान में इतवार को छोड़कर बाकी हफ्ते भर बच्चे रह सकते हैं। बालोधान स्थापित करने का उद्देश्य है बच्चों का अच्छी तरह लालन-पालन, और मां को काम करने की छुट्टी। बालक की शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास के लिये यहां खेल के मुख्य साधन रखे गये हैं। बालक अपने जीवन के चारों ओर की परिस्थितियों में सक्रिय भाग लेता है और इस प्रकार अपने शारीरिक विकास को बढाता है। बच्चों मे जो खेल खेलाये जाते हैं, जो सीधे सादे मौखिक पाठ कराये जाते हैं, वह एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार होते है, लेकिन उसमें सैद्धातिक शुष्कता का पता नहीं, जो कि फ्रैबिल और मौन्तेसरी प्रणाली मे पाई जाती है। सोवियत शिक्षा क्रम लड़के की भिन्न-भिन्न आयु की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को ध्यान में रख कर तैयार किया गया है। उसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है— कि बच्चे की दिलचस्पी खेलने में जल्दी पैदा होती है, और वह हर एक चीज को साकार रूप में समझने की कोशिश करता है। खेलों के चुनने मे लड़कों को स्वतन्त्रता रहती है। सोवियत बालोद्यान शिक्षा-प्रणाली से बच्चो मे निम्न भावों को पैदा किया जाता है— स्वतन्त्रता-प्रेम, स्वास्थ्यकर आदत, परिश्रमशीलता, तथा चीजों को अच्छी तरह उपयोग में लाना, उनकी रक्षा करना, बडों के प्रति सम्मान, और सुन्दर वर्ताव। यह बालोद्यान के काम का मुख्य आधार है। हर २५ बालक पर एक शिक्षिका होती है, जो इससे कम पर भी हो सकती है।" वह बालक की चाची है, जिसके प्रेम को बालोद्यान छोड़ने के बाद भी लड़के नहीं भूलते। सोवियत

शिक्षा-प्रणाली ही नही, दूसरे भी इस तरह के आयोजनों में केवल प्रोपेगेंडा की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, ऐसा करने के लिये दस-बीस बालोद्यान और शिशु भवन काफी होते लेकिन ऐसे दिखावे से माताओं के लिये काम का समय नही मिल सकता था'। लडाई के खतम हुए अभी एक महीना नहीं हुआ था। कि १ जून १९४२ को १८ हजार बालोद्यान थे, जिन में २० लाख रूसी प्रजातन्त्र के बच्चे परवरिश पा रहे थे। १९४५ में रूसी संघ प्रजातंत्र के १४,३२५ बालोद्यानों में ७९, ३०, ००० बच्चे रहते थे। इन के अतिरिक्त ग्रीष्मावासो में २० लाख बच्चे अलग रक्खे गये थे ।

मेरा ध्यान मध्य-एसिया की तरफ विशेष तौर से था। मैं समझता था, भारत की स्थिति वही है, जो कि बोलशेविक क्राति से पहिले मध्य-एसिया की थी। इसलिए वहा साम्यवादी तजुर्बे ने कितनी सफलता पाई, क्या परिवर्तन किये, इसको सावधानी से देखना बहुत लाभदायक होगा'। मैं अब की बार मध्य-एसिया नहीं जा सका, तो भी पुस्तकों से मैंने जितना भी ज्ञान प्राप्त हो सकता था, उतना प्राप्त किया और मध्यएसिया के विद्यार्थियों और दूसरों से भी मिलकर सूचना प्राप्त की। मुझे थोडे ही अध्ययन के बाद पता लग गया, कि उपन्यास-कार सदरुद्दीन ऐनी के ग्रन्थ मेरे काम में बडे सहायक होंगे। ऐनी का पुत्र कमाल हमारे ही विश्वविद्यालय में पढता था, यद्यपि वह हमारे विभाग से सम्बन्ध नही रखता था। ऐनी के "दाखुन्दा", "गुलामन", "अदीना" "यतीम" और "सूद-खोर की मौत" का मैं हिन्दी में अनुवाद भी कर चुका हूँ। उनके दो बडे उपन्यासों का अनुवाद तो वहीं उर्दू में कर डाला था। ऐनी अपनी भाषा का प्रथम उपन्यास-कार है। ऐनी से पहिले ताजिक भाषा मे कोई पुस्तक नहीं थी। ताजिक भाषा फारसी की एक बोली थी। लेकिन क्राति ने उसे शिक्षा का माध्यम बनाकर साहित्यिक भाषा के रूप में परिणत कर दिया। किसी भाषा के पहले मौलिक लेख के रास्ते में जो कठिनाइया होती हैं और जिनके कारण जो दोष दिखाई पडते हैं, वह ऐनी में मिलते हैं। उसके दोष हैं, विशृंखलता, योजनाहीनता, पात्रों के अयोग्य संवाद। लेकिन गुण कहीं अधिक हैं। ऐनी दृश्यों का चित्रण बडे

ही सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से करना जानता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में भी वह सिद्धहस्त है। वर्ग-प्रतिक्रिया का वर्णन करनेवाले तो वैसे लेखक विरले ही मिलेंगे। ऐनी के अतिरिक्त गनी अब्दुल्ला, जलाल इकरामी, लाहूती जैसे कितने ही दूसरे ताजिक ग्रन्थकारों की पुस्तकों को भी मैं पढ़ता था। मुझे अफसोस इसी बात का था, कि लेनिनग्राद के पुस्तकालयों में सभी पुस्तकें प्राप्त नहीं थीं। मैंने उनके लिये युनिवर्सिटी पुस्तकालय, प्राच्य-प्रतिष्ठान पुस्तकालय, लोक पुस्तकालय जैसे कई पुस्तकालयों की खाक छानी।

२१ सितम्बर को लोला का भाजा सेरगी आया। लेनिनग्राद के घिराव के दिनों में सेरगी के माता-पिता दोनों भूख से मर गये। वह जिस घर में रहा करते थे, उस पर बम गिर उसकी चारों छतों को बेधता नीचे तक चला गया। इस वक्त वह मकान खंडहर जैसा खड़ा था। सेरगी, जिसे रूसी प्रियालाप के अनुसार सियोंजा बना दिया जाता है, फौज में रेडियो-आपरेटर का काम करता था। अब सेनायें विघटित हो रही थीं, इसीलिये वह वहा से छुट्टी पा गया था। यह बड़ा फक्कड़ सा नौजवान था। उसे न काम की चिन्ता थी, न खाने की। पैसा हाथ में आया, तो दो दिन में पी-पिलाकर खतम कर दिया और फिर कभी मौसी के यहां, और कभी दूसरे मित्र के यहां। किसी काम पर स्थिर हो कर रहना भी उसे पसन्द नहीं था। अगले साल उसने साइबेरिया की एक रेलवे लाइन में काम लिया था। लेकिन जाड़ा आरम्भ होते ही वहां से काम छोड़कर खाली हाथ लेनिनग्राद चला आया। आदमी वैसे बहुत अच्छा था। कोई भी काम होने पर बैठा नहीं रहना चाहता था। अगले साल उसने फिनलैण्ड की पुरानी भूमि में कोई काम स्वीकार कर लिया और जाड़े के आरम्भ होते होते वहां से भी चला आया। साथ ही एक कारेलियन तरुणी को भी लेता आया। बेचारी अगर अपने गांव में रहती, तो वहा खेती-बारी करती, यहां लेनिनग्राद नगर में उसके करने लायक कोई काम नहीं था, और सियोंजा फिर सोवियत के किसी दूसरे कोने में अकेले ही जाने की तैयारी कर रहा था। वह एक तरह का सोवियत घुमक्कड़ था। सियोंजा के उदाहरण से मालूम होगा, कि यह

प्रोपेगेंडा कितना झूठा है कि रूस में हरेक आदमी से जबरदस्ती काम लिया जाता है। जहां तक सरकार का संबंध है, वह कोई जबरदस्ती नहीं करती। अपनी इच्छानुसार आदमी एक काम छोड़कर दूसरा काम पकड़ सकता है। हां, एक-दो महीने पहिले अवश्य काम छोड़ने की सूचना देनी पड़ेगी, ताकि प्रबन्धक दूसरे को नियुक्त कर सके। सिर्योजा के उदाहरण से यह भी पता लगेगा, कि रूस में अभी पश्चिमी युरोप की तरह बाप के खाने का बिल देना तो दूर के सम्बन्धी को भी लोग समेटकर रखना चाहते हैं, और एक दूसरे की सहायता करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

२२ सितम्बर को अब थोड़ी थोड़ी जाड़े की सर्दी आरम्भ हो गई थी। जाड़े की टोपियों के सिवा लोग अब जाड़े के ओवरकोट और पोशाक पहनकर सड़कों पर दिखाई पड़ने लगे। जाड़ों की टोपी अक्सर वहाँ चमड़े की होती है।

रूसी नाट्यमच अपने बैले (मूक नाट्य) के लिए विश्वविख्यात है। मुझे ओपेरा पसन्द नहीं आता था, किन्तु नाटक बहुत पसन्द था, और सबसे अधिक पसन्द थी बैले। २६ सितम्बर को किरोफ (पुराना मारिन्सकी) तियात्र में प्रसिद्ध नाट्यकार चैकोव्स्की की बैले "सुप्ता सुन्दरी" (स्पेश्चया क्रसावित्सा) देखने गया। नृत्य सुन्दर, दृश्य मनोहर थे। शाला के पाचों तल और सामने की सीटें खचाखच भरी हुई थीं। सौ के करीब अभिनेता और अभिनेत्री इस बैले में भाग ले रहे थे। बच्चों की कहानी (पेरोल्ती) को आधार बनाकर चेकोव्सकी ने इस बैले को पिछली शताब्दी में तैयार किया था। दो शताब्दी पहिले के समाज को लिया गया था, इसलिये वेश-भूषा और दृश्यों में इसका पूरा ध्यान रखा गया था। नाच में भालुओं, बिल्लियों और बन्दरों के भी नाच थे। सोवियत नाट्यमंच बहुत पुराना है, उसी तरह उसके दर्शकों की परम्परा भी पुरानी है। जारशाही जमाने में स्त्रियां अपने बढ़िया से बढ़िया आभूषण, वस्त्र और सज्जा के साथ आती थीं, आज भी नाटक देखने के समय सोवियत नारी अपने को अत्यन्त सुन्दर रूप में सजाधजाकर वहां पहुँचती है। विश्राम के समय जब नर नारी हाथ मिलाये बड़े हाल मे मन्द गति मे एक दूसरे के पीछे टहलते

हैं, उस वक्त नये से नया फैशन और बढ़िया से बढ़िया वन सौंदर्य राशि को आप देख सकते हैं। वहा दर्शकों से दर्शिकाओं की सख्या अधिक थी और दर्शकों में भी अधिकतर सैनिक थे। अभी अभी लड़ाई से वह वाहर हुए थे, इसलिये सैनिक वेष का अधिक दिखाई देना स्वाभाविक था। दूसरे देशों में अपने सैनिक वेष या सैनिक तमगों को दिखाने का उतना शौक नहीं है। और जगह तो तमगों की जगह पर केवल उनके फीते को कोट पर टाग लेना पर्याप्त समझते हैं, लेकिन सोवियत सैनिक १५–२० तमगों को भी छाती पर लटकाना आवश्यक समझते हैं। कुछ इसके अपवाद भी हैं। लोला घिरात्रे के दिनों में लेनिनग्राद में रहकर काम करती रही, उसने अपने पुस्तकालय की बमों से रक्षा करने में काफी सावधानी से काम लिया, इस कारण उसे भी दो तमगे मिले हुए थे, लेकिन मैंने उसे कभी उन्हे लटकाये नहीं देखा।

२७ सितम्बर में सर्दी काफी बढ गयी। तापमान हिमबिन्दु के पास पहुँच रहा था। घर के भीतर भी सर्दी थी। मकान गरम होने की आशा भी कम ही मालूम होती थी। युद्ध के बाद नई व्यवस्था करने में समय लगता ही है, फिर घर अगर एकाध महीना गरम नहीं हुआ, तो उसमे चीजों के उत्पादन में तो कमी नहीं हो सकती। लोग थोड़ी सी तकलीफ महसूस करेंगे, लेकिन उसके तो वह लडाई के दिनों से आदी हो चुके थे, जबकि सारे जाड़े भर मकान को गरम नहीं किया जा सकता था। घर के कार्यालय से मालूम हुआ, कि इस साल शायद नवम्बर में मकान गरम किया जाये, क्योंकि कोयले के खर्च के लिये पहिले कारखानों को देखना पड़ता है। युनिवर्सिटी में भी लकड़ी तो काफी रखी हुई थी, लेकिन मकान गरम करने के लिये नौकर नहीं मिल रहा था। मजूरों की बहुत जगहों में माग थी, फिर वह वहीं जाना चाहते थे, जहा, वेतन अच्छा हो। युनिवर्सिटी के अधिकाश मकान सौ-डेढ-सौ वरस पुराने थे, जिस वक्त केन्द्रीय-तापन का आविष्कार नहीं हुआ था और लकड़ी जलाकर मकान को गरम किया जाता था। केन्द्रीय तापन में बहुत सुविधा होती है। मकानों

कमरों के लिए एक जगह पानी गरम होता और उस के द्वारा हरेक कमरे में पहुँचा कर चिपटे-चौडे नल पुर्जों द्वारा कमरे की हवा गरम करदी जाती है। उसमें इतने आदमियों की आवश्यकता भी नहीं होती, न लकडी चीरकर तल्ले पर पहुँचाना पड़ता। हमारे पढाने के कमरे न विषय के अनुकूल बटे थे, और न क्लास के अनुसार ही। एक दर्जन से अधिक कमरों को तो मैंने देखा न होगा अगर अध्यापक या क्लास के ख्याल से कमरे बाट दिये जाते, तो मकान गरम रखने मे सुभीता होता। छात्रों में लड़कियाँ अधिक थीं। सोवियत के नर-नारी शारीरिक श्रम को बुरी दृष्टी से नही देखते। वह नीचे जमा किये हुए टाल से लकड़िया उठा लाते और कमरा गरम करने की कोशिश करते। कुछ समय बाद देखा, कि आगन में एक लकडी चीरनेवाली बिजली की मशीन भी लग गयी है, जिससे लकडी चीरने या टुकड़े करने का सुभीता हो गया था। तो भी जब विद्यार्थी एक कमरे को गरम करके दूसरे कमरे में चले जाते, तो वहा फिर से गरम करने की जरूरत पड़ती। २५० सौ रूबल मे काम करने वाला कहा से मिलता? हमारे विभाग मे एक या दो स्त्रिया काम करने को मिली थीं, जो किसी किसी कमरे को गरम रखतीं। सोवियत में मानव की समानता का उदाहरण यहाँ देखने को मिलता। साधारण अशिक्षित सी स्त्री लकड़ी जलाने का काम कर रही है। उसे महीने में दो-ढाई सौ रूबल मिलते हैं। उसी जगह कोई अकदमिक प्रोफेसर पढाने आता है। अकदमिक होने से उसको ६ हजार रूबल मासिक पेंशन सम्मानार्थ मिलती है, प्रोफेसर होने के कारण ऊपर से साढे चार हजार रूबल मासिक और वेतन मिलता है। दूसरे कामों की आय को मिलाने पर उसे महीने मे चौदह पन्द्रह या अधिक हजार रूबल मिल रहे है। लेकिन लकडी झोकनेवाली स्त्री के सामने जाने पर अकदमिक प्रोफेसर अपनी टोपी उतारकर उसके सामने अभिवादन करता है, यदि उसका हाथ कालिख से सना नहीं है, तो उससे हाथ मिलाता है, यदि वह उसे अपने घर पर निमन्त्रित करता है, तो एक साथ बैठ कर मेज पर चाय पीता है। इस प्रकार स्त्री अपनी शिक्षा और योग्यता की कमी को ही अपने वेतन की कमी का कारण समझती है, लेकिन

जहाँ तक मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध है, वह भी अपने को अकदमिक के बराबर समझती है। यही नहीं बल्कि यदि उस स्त्री के लड़के या लड़किया हैं, तो उन्हें युनिवर्सिटी तक अपनी पढाई करने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि पढाई मा की जेब पर निर्भर नहीं है, बल्कि लडके लडकी की इच्छा पर। जहा ९० फी सदी विद्यार्थी सरकारी छात्रवृति पा रहे हों, वहा गरीबी के कारण उच्च शिक्षा से वंचित होने की किसी को संभावना नहीं है।

मैं अक्सर ११ बजे अपने यहाँ से युनिवर्सिटी जाता, और तीन बजे ही वहाँ से चल देने की कोशिश करता, यदि पढाई के लिये रहने की मजबूरी न होती। सबेरे नौ बजे और शाम के ५ बजें के समय ट्रामों में बड़ी भीड होती। बाज वक्त तो चढना मुश्किल हो जाता। मैंने पीछे एक युक्ति निकाली। मैंने देखा कि नगर के केन्द्रीय स्थान की ओर जानेवाली ट्रामें जिस वक्त भरी रहती है, उसी वक्त दूसरी तरफ को जानेवाली ट्रामों में अधिकतर खाली रहती है। चार-पांच पैसा (पन्द्रह कोपेक) और कुछ मिनटों का सवाल था। मैं खाली ट्राम से उल्टी ओर चला जाता, आगे, केन्द्र की ओर आनेवाली कम भरी ट्रामों पर सवार होकर केन्द्र में पहुँचने पर भीड तो होती, लेकिन बैठने की जगह पहिले मिल गयी रहती। वस्तुतः लड़ाई के कारण लेनिनग्राद के लिये जितने ट्राम-डब्बों की अवश्यकता थी, उतने नहीं मौजूद थे, इसीलिये इतनी भीड रहती थी।

११ अक्तूबर को सर्दी अब अपने यौवन की ओर जा रही थी। रात को पानी जमने लगा था। बाहर जाने पर मेरे कान ठंडे होने लगते थे। अब वृक्ष कितने ही नंगे हो गये थे, और कितनों ही की पत्तियां पीली पड़ चुकी थीं। देवदार के झाड़ों को कभी पतझड का मुकाबिला नहीं करना था, और उन्हीं की तरह के कुछ और हिम-जीवी पेड थे, जिनके पत्ते अब भी हरे रह गये थे।

स्नानगृह— अभी तक स्नान अपने घर में ही कर लेता था, किन्तु अब जाड़ों के आगमन से गरम स्नानगृह की आवश्यकता थी। लेनिनग्राद के गृहों

मुहल्ले में ऐसे स्नानगृह हैं। १२ अक्तूबर को मैं पहिले पहल सार्वजनिक स्नानगृह में गया। १ रूबल देकर टिकट खरीदना पड़ा। स्नानगृह के भीतर दो प्रबन्धिक स्त्रिया थीं। जिसको टिकट मिल गया था, वह उसे ले जाकर प्रबधिका को देता, जो उसे एक धातु का टुकड़ा देकर आल्मारी का ताला खोल देती। आदमी अपने सारे कपडो को उस आल्मारो में बन्द कर देता। हा, सारे कपडो का एक भी सूत उसके शरीर पर नहीं रह जाता। वहा सभी पुरुष ही पुरुष थे, स्त्रिया वहीं दो परिचारिकायें थीं। लोग नि संकोच नगे मादर-जाद थे, मुझे पछतावा हो रहा था, कि क्यों यहा फसा, घर मे ही गरम पानी करके नहा लेता, लेकिन अब तो आ चुका था। देखादेखी कोट-पेन्ट निकाल भी चुका था। सब निकालने पर भी जांघिया निकालने की हिम्मत नहीं हुई। परिचारिकायें बाबा आदम के खास पुत्रों के बीच में बडी बेतकल्लुफी से इधर से उधर घूम रही थीं और मैं था जो लाज के मारे धरती में गडा जा रहा था। आखिर जाघिया पहिने ही मैं आल्मारियोंवाले कमरे से नहाने के कमरे में गया। वहा कई पांतियों में बेंचे रखी हुई थीं, ठडे और गरम पानी के कई नल जगह जगह पर लगे हुए थे। बहुत से लोहे के गोल बर्तन (एक बाल्टी पानी आने लायक) रक्खे हुए थे। लोग दो बर्तनों में अपनी इच्छानुसार गरम पानी भरकर बेंचों पर बैठ कर नहाते। कितने ही शरीर मलने में एक दूसरे की सहायता करते थे। मैं अपनी नैया अकेले ही खे रहा था। जब मैंने वहा आध घटा स्नान करते, पैर मल मल कर धोते, आसपास के दूसरे आदमपुत्रों को देखा, तो मुझे अपनी बेवकूफी पर आश्चर्य होने लगा। मैंने सोचा शायद यह लोग समझें, कि इस आदमी को कोई बीमारी है, इसलिये यह जाघिया पहिने हुए है। मैंने उसी वक्त कान पकड़ा और निश्चय कर लिया, कि अगली बार से फिर ऐसी बेवकूफी नहीं करूगा। अब तो हर हफ्ते नहाने आना था। तब से देख लिया, कि सनीचर के रोज बडी भीड़ रहती है। इतवार के दिन उससे कम और सबसे कम सोमवार को होती है, इसलिये मैंने सोमवार को अपने नहाने का दिन निश्चित कर लिया। स्नानागार मे वर्षा-स्नान (डूस) का भी प्रबन्ध था। लेकिन उसकी कल बिगड़ी

हुई थी, जो कि मेरे पच्चीस मास के रहने तक न बनी। शायद नया स्नानागार बनने जा रहा था, जिसके कारण मरम्मत करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। स्नानगृह में स्नान करके लोग वैसे ही पानी चूते आल्मारियों के पास आते, और फिर अपने तौलिया से शरीर पोंछते। अगर कोई चाहता, तो उतने समय में अपने कपड़ों को परिचारिकाओं को देकर स्त्री भी करवा सकता था। एक दो रूबल दे देने से काम चल जाता। बिना राशन के लेने पर हमारे यहा की चार पाच आने की साबुन की टिकिया का दाम पचास-साठ रूबल था। पामोलिव जैसे साबुन की टिकिया का दाम सौ रूबल (पैंसठ रुपये) होता, साबुन का डब्बा भी यहा साठ रूबल से कम का नहीं था। मैं अपना पैंसठ रुपये का साबुन और बीस रुपये का डब्बा वहीं भूल आया, वह फिर कहां मिलनेवाला था। मुझे यह सतोष हुआ कि डब्बा और साबुन मैं ईरान और हिन्दुस्तान से लाया था, जहा उसका दाम एक-सवा-रुपये से अधिक नहीं था।

१३ अक्तूबर को असली जाड़े की ऋतु के आगमन का मुझे पता लगा, जबकि सवेरे ८ बजे जरा-जरा बरफ पड़ती देखी। अब वर्षा का भय नहीं था। पत्ते बहुत कम हरे रह गये थे। अगले दिन तो बरफ रूई के बड़े बड़े फाहों की तरह गिर रही थी। अभी सभी भूमि उससे ढकी नहीं थी। देवदारों के ऊपर-नीचे पड़ी ताजा बरफ कितनी सुन्दर मालूम होती है। दोपहर के बाद ताजा गिरी बरफ पिघल गयी, और फिर कच्ची जगहों पर कीचड़ उछलने लगी। लोगों ने बतलाया, अभी तीन चार सप्ताह तक कीचड़ की दुनिया में रहना होगा, फिर जमीन रुपहली फर्श बन जायगी। यह समय सचमुच ही बहुत अच्छा नहीं मालूम होता था। ऊपर नरम बरफ पड़ी हुई है, लेकिन हो सकता है नीचे पानी कीचड़ हो। मुझे तो अब सर्दी मालूम हो रही थी। चमड़े के कनटोप को पहिने बिना बाहर नहीं निकलता था, लेकिन अभी लोग नंगे हाथों काम कर रहे थे और बहुतेरे लोग तो सारे जाड़े भर कान ढांकने की आवश्यकता नहीं समझते थे, वह इतने सहिष्णु हो गये थे।

१९ अक्तूबर को सवेरे धूप निकली थी। जरा साग-सब्जी के खेत

लहरा रहे थे, वहा अब सफेद बरफ की चादर पड़ी हुई थी । सरदी खूब थी और मकान भी खूब ठडा था । कपडे सुखाने के लिये बाहर डाले थे । शाम तक कुछ सूख गये और जो गीले थे वह बरफ के रूप मे परिणत हो गये । एक दिन रस्सी पर कपड़े को टागा गया था, रस्सी इतनी बरफ बन गई थी, कि हम हाथ से उसे खोल नहीं सके । हाथों को नगा करके खोलने पर वह खुद जवाब देने लगते, अन्त में खोलने की जगह रस्सी को काट लेना ही अच्छा समझा ।

२१ अक्तूबर को दो बजे दिन से बडे जोर की बरफ पडने लगी । रूई के फाये अकाश से नाचते हुए जमीन की ओर आ रहे थे । अब सारी खुली जगहें बरफ से ढॅक गयी थीं । पाच महीनें तक शायद अब वह स्थान नहीं छोडेगी । लडके बरफ से खेल खेलने लगे थे । कोई पैरों में बाधने वाली स्की पर दौड रहा था , कोई स्केटिंग के खेल में लगे हुए थे । छोटे छोटे लडके बिना पहिये की अपनी गाडियों (सानी) को लिये किसी साथी को ढूँढने में लगे हुए थे, वह कोई ऊँची जगह देखकर सानी में लडके को बैठा छोड देते. और सानी फिसलती हुई नीचे चली जाती ।

२४ अक्तूबर को घर के भीतर भी तापमान५° सेन्टीग्रेड था । २५ को वह ७° हो गया— हिमबिन्दु शून्य बिन्दुपर होता है । अभी तक कई दिनों तापमान शून्य बिन्दु पर था, तभी तो बरफ जमकर बैठी हुई थी । सात डिगरी पर तापमान के जाते ही सारी बरफ गल गयी, जहा-तहा पानी ही पानी दिखाई पडने लगा । २६ अक्तूबर को सबेरे बरफ की चादर सभी जगह पडी हुई थी. लेकिन सर्दी उतनी अधिक नहीं मालूम होती थी । बरफ जब अच्छी तरह पडती रहत है, और हवा न चलती हो, तो सर्दी सचमुच ही कम हो जाती है । २७ अक्तूबर को फिर बरफ पिघलती दिखाई पडी । अब मालूम हो गया कि बरफ और जल की आख-मिचौनी शायद एकाध हफता इसी तरह रहे ।

मुझे यह आंखमिचौनी पसन्द नहीं थी, क्योंकि कीचड से बचना मुश्किल था । वैसे बरफ से ढकी हुई पृथ्वी और देवदारों से भरे हुए बन दुनिया

महोत्सव दिन (दिना प्रादनिक) है। हफ्ता भर पहिले से ही नगरों और गावों में तैयारिया होने लगती हैं। युनिवर्सिटी में ४ नवम्बर को ही देखने से मालूम होता था, कि महोत्सव नजदीक है। ७ नवम्बर के दिन को जलूसों का जन-महा-सागर उमडता, उसमें छोटी संस्थाओं को कौन पूछता, इसलिये वह अपने प्रोग्राम को पहिले ही से रखने लगतीं हैं। ५ नवम्बर को हमारे पास के बालोद्यान ने अपना महोत्सव मनाया था। जिनके बच्चे इस बालोद्यान में रहते थे, उनके माता-पिता निमन्त्रित थे, और प्रायः सभी सम्मिलित भी हुए थे। लडकों ने बाहर भी तैयारी की थी, लेकिन अधिकतर कार्यवाही बालोद्यान के शाल (हाल) में सम्पन्न हुई। बच्चे, मालूम ही है चार और सात बरस के बालोद्यान में रहते हैं। माता-पिता ने आज अच्छे अच्छे कपडे पहिनाकर अपने लडकों को भेजा था। लाल झडिया लिये हुये दो पाती में जलूस निकालते, बालोद्यान के सभी लडके-लड़कियां शाल में फिरे, फिर बाजे के साथ कुछ गाने हुए। गाने की समाप्ति के बाद "उरा" (हुर्रा) नाद भी आवश्यक था, फिर नाच। इस प्रकार आज प्राय १० बजे से शाम के ४–५ बजे तक उनका कोई न कोई प्रोग्राम चलता रहा।

७ नवम्बर के दिन सडकों पर चलना आसान नहीं था। ट्रामवाय नगर के केन्द्र (पुराने हेमन्त-प्रासाद के मैदान) तक नहीं जाती थी। नगर की मुख्य सडक नेव्स्की से चलना भी मुश्किल था। रास्ते में न जाने कितने जलूस अपने झंडों, पताकों और नेताओं की तसवीरों के साथ चले जारहे थे। हम साढे आठ बजे घरसे निकले थे। इस समय भी वहा भीड दिखाई पडती थी। होटल-युरोपा के चौरस्ते तक ही जाया जा सकता था, दूसरे रास्ते में भी इसीतरह रोक थी। आगे वही लोग जा सकते थे, जिनके पास पास थे। हमें मालूम नही था, नहीं तो पास मिलना कोई कठिन नहीं था, इसलिये चक्कर काटने के लिये मजबूर हुये। प्रासाद के ऊपर की ओर दूसरे पुल से नेवा नदी को पार किया। सारा नगर जलूसमय मालूम होता था। जहा तहां सैनिकों के भी जलूस थे। तुषारकण बरफ के नाम पर जब तब ही पडते थे, किन्तु आसमान बादलों से ढँका

हुआ था, जिसके कारण सरदी भी कुछ बढ गयी थी। महोत्सव का दिन था फिर शराब पिये बिना कैसे गुजारा हो सकता था? कितनों ने सोचा—शाम की जगह सबेरे से ही शुरू करदो—"शुभस्य शीघ्रम्"। तो भी मीलों के सफर में एकाध ही शराबी मिले, यद्यपि वह मोरियों में लुढके नही थे। हम जलूस की समाप्ति के समय तक सडक पर नहीं रह सके, तो भी साढे आठ से चार बजे तक पूरे साढे सात घटे चलते ही रहे। जहां तहा मिठाइयों और खाद्य-वस्तुओं की सजी हुई लारिया चलती फिरती दुकान का काम दे रही थी। सबके ऊपर अपनी अपनी फैक्टरियों का नाम था। लडकों के लिये खिलौनो और मिठाईयों का पूरा हाट लगा हुआ था। चीजों का दाम साधारण राशन-विहीन दुकानों से कुछ कम अवश्य था, लेकिन तो भी इतना नहीं था, कि लोग टोकरी की टोकरी चीजें खरीद लाते। सारे शहर में बरफ का कहीं नाम नहीं था। प्रकृति ने अपना ऐसा नियम बना रखा है, कि जहा निश्चित विन्दु पर तापमान पहुचा कि बिना पहिले से तैयारी किये यकबयक पानी भाप बन जाता है, उसी तरह एक निश्चित बिन्दु तक तापमान के गिरने पर वह हिम बन जाता है। नवम्बर के आगे भी कभी कभी इस तरह तापमान की आखमिचौनी देखी जाती थी। उस वक्त बरफ के पिघलने से चारों तरफ पानी ही पानी नजर आता था। हा, वृक्षों की या मकानों की छाया में सूर्य की किरणों के बहुत कम पंहुचने से वरफ नही गलती थी। इस साल वरफ़ कम पडने की बड़ी शिकायत थी।

९ नवम्बर को अभी भी मकान गरम नहीं हो रहा था। सरदी बहुत थी, जिसमे लिखना बहुत मुश्किल था। बिजली का चूल्हा जलाया, मगर उसमे कोई काम नहीं बना। बारह नवम्बर से जब मकान केन्द्रीय, तापन द्वारा गरम किया जाने लगा, तो मकान के भीतर का तापमान १०° या १२° सेन्टीग्रेड हो गया और घर के भीतर आराम से काम किया जा सकता था। लेकिन अब एक दूसरी अड़चन आई। तपानेवाली मशीन दिन-रात घर-घर करती हुई चलती रहती, जो कानों को बुरा मालूम होता।

१३ नवम्बर को जब ११ बजे पढाने के लिये मैं विश्वविद्यालय

गया, तो नेवा में सवेरे बरफ बहुत थी, मगर शामको सब पिघल गयी थी। युनिवर्सिटी के अधिकाश मकान नेवा के दाहिने तट पर हैं। जहा से दुनिया के दो सबसे विशाल गिरजो में से एक ईसाइकी सबोर सामने दिखाई पडता था। हम निश्चिन्त थे, कि अब बराबर के लिये मकान अहोरात्र गरम रहा करेगा। किन्तु १६ नवम्बर को मशीन खराब होगई, और मकान फिर ठडे पड गये। मशीनों के विरोधी कह सकते हैं, कि मशीन-युगका अर्थ ही तकलीफें और तरद्दुद है। लेकिन क्या किया जाय, मशीन-युगसे बाहर जाया नही जा सकता। उस समय घर तपाना बहुत खर्चीला होगा, जिससे उसका उपयोग थोड़े ही आदमी ले सकेंगे। यह ठीक था, कि अभी सरकार और नागरिक सस्थाओं का सबसे अधिक ध्यान मकानों के बनवाने या मरम्मत कराने की ओर था। बहुत जगह तो उन्होंने जल्दी करने के ख्याल से, जिन दुतल्ले-तितल्ले मकानों को इंजीनियरों की सम्मति अनुसार मजबूत देखा, उन्हीं के ऊपर एद दो मजिलें और खडा करना शुरू किया था। नींव से मकान बनाने और मकान के ऊपर एकाध मजिल बढाने मे श्रम और सामग्री की बडी बचत थी, इसीलिये ऐसा किया जारहा था। बहुत से ऐसे मकान थे, जिनका लकडी का सारा सामान जल गया था, और तीन तीन चार-चार मजिला दीवारें मजबूत खड़ी थीं, ऐसे मकानो को पहिले हाथमें लिया गया था, क्योंकि उनके बनने में जल्दी हो सकती थी। मकानों की मरम्मत और बनाने का काम बडी तेजी से हो रहा था, क्योंकि नगरपालिका लोगों के कष्ट को जानती थी। सबसे ज्यादा आदमियों को उधर खींचा गया था। इसका एक प्रभाव मास्को, लेनिनग्राद जैसे नगरों की पुलिस पर पड़ा था। अब वहा सौ में नब्बे सिपाही स्त्रिया थीं। चौरस्तों पर रास्तों को स्त्रियों के ही हाथ दिखा रहे थे। ट्रामवाय के कडक्टरों मे तो शायद पहिले से ही स्त्रिया अधिक थीं; लेकिन अब ड्राइवरों मे भी पुरुषों का पता नहीं था। दूकानों, आफिसों में तो पहिले से ही स्त्री-राज्य था। सोवियतवाले सोचते थे कि पुरुषों को भारी कामों में भेजना चाहिए, हल्के कामों को तो स्त्रियां कर सकती हैं। पीछे तो मकान बनाने का विभाग चौबीसों घटे अखण्ड काम करता था।

हर आठ-आठ घंटे पर नये कमकर काम पर आ जाते थे। रात के अंधेरे को दूर करने के लिये रोशनी बिजली दे रही थी, लेकिन हिम-बिन्दु से नीचे के तापमान में घोली हुई सीमेन्ट सेकेन्डों से बरफ बन जाती, इसका हल उन्होंने पाईपों में भरी भाप द्वारा कर लिया।

२१ नवम्बर को भारत की खबर सुनने में आयी। पता लगा, विद्यार्थियों और जनता के प्रदर्शन पर कलकत्ता में पुलिस ने गोली चला दी। २१ २२ नवम्बर दोनों दिन हड़ताल रही। २५ को कलकत्ता की हड़ताल की खबर रूसी पत्रों में छपी। मालूम हुआ, दो दिन गोलियां चलीं। हड़ताल में दूकानदारों ने भी साथ दिया। ऐसी बड़ी खबर को भी जब दो तीन दिन बाद पढ़ने का मौका मिला, इससे आसानी से अन्दाजा लगाया जा सकता है, कि भारत की खबरें वहां कितनी दुर्लभ थीं, असल में खबरें तो पाठकों के लिये छापी जाती हैं। रूसी पाठकों में कितने होंगे, जो भारत की खबरों में दिलचस्पी रखते होंगे, इसलिये हमें कुढ़ने की आवश्यकता नहीं थी।

२७ नवम्बर को हमारे एक घनिष्ठ दोस्त तथा असहयोग के जमाने के सहकारी के पुत्र की चिट्ठी भारत से आयी। जब हम दोनों साथ काम करते थे, तो मित्र का यह छोटा सा बच्चा था। बड़ी प्रसन्नता हुई। लेकिन उपाधि में कुमार लिखने से कुछ संदेह की गंध आने लगी, तो भी डाक्टर की उपाधि से विभूषित देखकर संतोष हुआ। बहुत सालों बाद पता लगा, कि यह ग्रेज्युएट तो होगये हैं, लेकिन घरफूंकू बिगड़े तरुण हैं। मैंने हाल ही में "धरती की ओर" एक कन्नड़ उपन्यास के हिन्दी अनुवाद का संशोधन किया, उसमें एक पात्र इसी तरह का मिला। वह भी ग्रेज्युएट था, और उसने अपनी सारी सम्पत्ति और इज्जत को बेच खाया था। कभी कभी औपन्यासिक कल्पनाओं का अस्तित्व एक व्यक्ति में भी बहुत आश्चर्यजनक रूप से देखा जाता है। हमारे "कुमार" साहब पिता के मरने के बाद अकेले पुत्र होने से अकेला घर के चकेला मालिक बने। आदत पहिले ही बिगड़ चुकी थी। अधिक लाड़ प्यार और बुरी संगत से आदमियों के बिगड़ने की बहुत संभावना जरूर है, लेकिन कुछ के भीतर तो यह

मर्ज आनुवंशिक सा मालूम होता है, जिसका यह अर्थ नहीं कि आनुवंशिकता पिता माता से ही आये, उसकी तो बड़ी लम्बी राह होती है। जो केवल संगत के कारण बिगड़ता है, उसके सुधरने की संभावना है, किसी समय भी वह पल्टा खा सकता है। मैं नहीं जानता कि "कुमार साहब" किस तरह के मरीज हैं। उन्होंने अपने पिता की सम्पत्ति उड़ा डाली, पिता के सगे चचा भी नि सन्तान थे, उनके जीवित रहते तक तो "कुमार साहब" कुछ संकोच में रहे, लेकिन उनके आख मूंदते दो वर्ष भी नहीं हुए कि वह भी सम्पत्ति हवा होगई। गाव के किसी आदमी ने मदिर में अपनी सम्पत्ति लगाकर ट्रस्ट बना दिया था, जिसमें दादा के मरने पर "कुमार साहब" मान-न-मान मैं तेरा मेहमान बन गये, और उसमे से भी जो कुछ निकल सका, उसे फूक-फाक दिया। 'धरती की ओर" के नायक या उपनायक लच्चा ने अपनी सम्पत्ति समाप्त करने से पहिले ही गाव छोड दिया था, इसलिये उनका बोझ बडे बडे नगरों के ऊपर पडा। हमारे "कुमार साहब" गाव में ही डटे हुए हैं, और भले मानुषों की नाक में दम है। लोगों का लड़ाना ही एक मात्र उनकी जीविका का साधन रह गया है। जिस वक्त मुझे उनकी चिट्ठी मिली थी, उस वक्त यह सारे गुण मालूम नहीं हुए थे, वह घरसे असन्तुष्ट थे, इसलिये रूस चला आना चाहते थे, लेकिन रूसवाले अगर इस तरह लोगो के आने की सुविधा करदें, तब तो लाखों आदमी हिन्दुस्तान छोडकर वहा जाने के लिये तैयार हो जायेंगे। असन्तुष्ट शिक्षितो को भारत से रूस बुलाने में साम्यवाद को उतना फायदा थोडे ही हो सकता है, जितना कि उनके हिन्दुस्तान मे रहने पर।

२ दिसम्बर का दिन आया। तापन-मशीन अब भी बिगडी पडी थी। घरके भीतर तापमान हिमबिन्दु से भी १२ सेन्टीग्रेड नीचे था।

४ दिसम्बर को बादल घिरा हुआ था, सर्दी भी काफी थी, जबकि मैं युनिवर्सिटी गया। सभी छात्र-छात्रायें, अध्यापक-अध्यापिकायें और नागरिक जाड़ों की पूरी पोशाक में थे। स्त्रियों को अपनी पिडली के सौन्दर्य को दिखाने के लिये रेशमी मोजा पहिने देखकर बडा आश्चर्य होता था। कैसे वह इतनी सर्दी उस पतने मोजे से बर्दाश्त कर लेती थीं। किसी ने यह बतलाकर समाधान

कर दिया—आख मुंहपर कौन चमडे की पोस्तीन पहिनता है? आज युनिवर्सिटी मे पढाई नहीं थी, हमारे भारतीय-विभाग की मासिक बैठक थी। विभागाध्यक्ष वरानिकोफ और दूसरे अध्यापकों के साथ विद्यार्थियों के भी कुछ प्रतिनिधि उपस्थित थे। विद्यार्थियों की पढाई की आलोचना हुई—जहा कुछ बातों के लिये प्रशंसा हुई, वहा कुछ बेपरवाही की शिकायत भी की गई। लेकिन प्रशसा और निन्दा का अधिकार केवल अध्यापकों को ही नहीं था, विद्यार्थी भी अपने अध्यापकों की त्रुटिया बतला रहे थे। वस्तुत लेनिनग्राद या सोवियत के दूसरे विश्वविद्यालयों मे विद्यार्थियों की कोई समस्या ही नहीं है। हमारे यहा विद्यार्थियों की उच्छृंखलता और अनुशासन-हीनता की शिकायत करते हुए अध्यापक थकते नहीं। पूछते हैं—कैसे इनको ठीक रखा जाय? मेरा युनिवर्सिटी मे संबन्ध था, इसीलिये उसी के बारे मे मै अपने अनुभव से कह सकता हूं। छोटी बडी दूसरी शिक्षण-संस्थाओं मे भी वहा छात्र-छात्राओं की कोई समस्या नही है, इसका कारण वहा की सामाजिक व्यवस्था और शिक्षण-सस्थाओ का संगठन है। युनिवर्सिटी का प्राय हरेक छात्र और छात्रा तरुण कम्युनिस्ट सभा का सदस्य होता है, जिसका अनुशासन सबसे कडा है। उसके अनुशासन का उल्लघन छात्र किसी भी हालत में करने की हिम्मत नहीं करता, क्योंकि यह आत्मानुशासन है—अनुशासन को बाहर से लादा नही गया है, बल्कि भीतर से प्रकट किया गया है। कोई छात्र या छात्रा ऐसे काम को करने की हिम्मत कैसे कर सकती है, जिसे अपने देश, अपने समाज और संगठन की दृष्टि से बुरा समझा जाय। साथ ही अध्यापको और उनके छात्रो का संबन्ध स्वामी और दास, बडे और वामन का नहीं है। १७ वर्ष पूरा करके छात्र-छात्रायें युनिवर्सिटी के चौखट के भीतर प्रविष्ट होते हैं, जिनके सबन्ध में वहा के अध्यापक हमारे पूर्वजों की नीति "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रत्वमाचरेत" का पालन करते हैं। यही वजह है कि न छात्रों को वहा तरद्दुद उठाना पडता न अध्यापकों को।

जहां जून जुलाई-अगस्त मे दिन का पता ही नहीं था, गोधूलि और उषा मे ही सिमटी हुई दो-तीन घटो की रात खतम हो जाती थी, वहा ३

दिसम्बर को देखा ४ बजे से पहिले ही अंधेरा हो गया था। ताजी बरफ अच्छी होती है, जरासी कड़ी होने पर उस पर चलने में चुर-चुर की आवाज के साथ मानो अपने कोमल हाथों में वह पैरों को दबाती है। पुरानी हो जाने पर भी जबतक कि वह अछूती और सफेद दानेदार रहती है, तबतक कोई चिन्ता नहीं, लेकिन जब वह पत्थर होकर कुछ कुछ स्फटिक जैसी बन जाती है, तो हमारे जैसों की आफत आ जाती है। ६ दिसम्बर को बड़े इतमीनान के साथ पैर बढ़ाते हेमन्त प्रासाद के पास वाली सड़क से जा रहे थे, यकायक पैर फिसला और धड़ाम से ईजानिब ने जमीन पकड़ ली। इधर-उधर झांकने की आवश्यकता नहीं थी। वहां आदमियों की कमी नहीं थी, लेकिन उस देश के लिये यह नई बात नहीं थी, इसलिये किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया, अथवा लोगों का सांस्कृतिक तल इतना ऊंचा हो गया है, कि किसी को गिरता देखकर हंसना पसन्द नहीं करते। मुझे शिक्षा मिली, लेकिन कितनी ही सावधानी रखने पर भी पांच महीने के जाड़े में दो-तीन बार गिरना जरूरी था। ऐसी धोखेबाज बरफ से जहाँ मैं संभल संभल कर चलता था, दूसरी तरफ देखता था तरुण-तरुणियां फिसलने का आनन्द लेने के लिये अच्छी खासी बरफ को भी फिसलाऊ बनाते चलते थे। बचपन से उन्हें स्केटिंग का अभ्यास है, इसलिये वह अपने शरीर को तौल लेते हैं। मैं इस अवस्था में उसे सीखने की हिम्मत नहीं कर सकता था। ८ दिसम्बर को नेवा की धार बीच में थोड़ी सी बह रही थी, बाकी सारी जम चुकी थी। ९ दिसम्बर को तापन-मशीन के मरम्मत की अब भी बात नहीं हो रही थी। खैर, हमारे घरमें एक बिजली की अंगीठी आ गई, जिससे कमरे के भीतर का तापमान १२ सैन्टीग्रेट रहने लगा। उसने एक कमरे को सुखद बना दिया।

१० दिसम्बर को हमें विश्वविद्यालय नहीं जाना था। सोमवार होने के कारण वह स्नान का दिन था। लोला काम पर गई थी। हम ईगर को घरमें छोड़ स्नान गृह गये। लौटकर आये तो दरवाजा भीतर से बन्द था। बहुत खटखटाया, लेकिन कोई सुन नहीं रहा था। हार गये, तो खिड़की की ओर से जाकर आवाज दी। तब भी कोई सुगबुगाहट नहीं हुई। घंटेभर करते रहे। फिर तरह तरह की

चिन्ता मन में आने लगी। हरेक घर का एक कन्त्रोल (नियामक) कार्यालय रहता है। हमारा कन्त्रोल सीढीपर खुलनेवाले हमारे दरवाजे की दूसरी तरफ था. जाकर हमने वहा की बुढिया से कहा। उसने आकर जोर जोर से धक्का लगाया, तब हजरत की नींद खुली और आकर उन्होंने दरवाजा खोला। मैंने कहा— तुम्हारी मा से कहता हूँ, यह बन्दर बहुत खराब है, इसे हाट में बेंचकर दो छोटे-छोटे बन्दर लावेंगे, जो इतनी तकलीफ नहीं देंगे। फिर क्या था, हाथ पर पडने लगे। मैंने यह समझाने की कोशिश की थी, कि तुम्हारी मा छुटपन में हाट से एक बन्दरिया के पास से तुम्हें खरीद लायी थी। जब वह कहता— नहीं मैं तो मामा का पुत्र हू। तो मैं कहता— तुम्हें याद नहीं है। तुम्हारे भी पूछ थी। अम्मा ने उसे चाकू से काट दिया, फिर दवाई लगाकर के बहुत दिनों तक जोर जोर से मलती रही, तुम्हारे शरीर के बाल भी उड गये, फिर तुम आदमी के बच्चे की तरह होने लगे, अब तुम्हारा सारा शरीर आदमी के बच्चे जैसा है, लेकिन कान अब भी उसी तरह के हैं। ईगर का कान गाधीदुमा है। लाड-प्यार का लडका था। तीन-तीन चार-चार बरस के लडके बरफ में निधड़क फिसलते थे, किन्तु ईगर को जरा सी हिम्मत नहीं होती थी। किसी भी हिम्मत के खेल को खेलने के लिये वह तैयार नहीं था। मैंने नेवा के घाटपर देखा— एक मा ने अपने चार-पाच बरस के बच्चे को सानी (बेपहिये की गाडी) मे बैठा कर ऊपर से ३० गज नीचे की ओर खिसका दिया और वह बडी तेजी से सरकता हुआ नीचे चला गया। हिम्मत मजबूत करने का रास्ता यह है, लेकिन कागारू मां क्या कभी अपने बच्चे के साथ ऐसी कर सकती है?

दिसम्बर आधा बीतते बीतते अब नेवा पूरी तरह जम गई थी, उपर दानादार चीनी सी सफेद हिमकी तह पडी थी। अब एक सुभीता हो गया था। पहिले हमें हेमन्त प्रासाद के नजदीक के पुल से नेवा को पार करने के लिये काफी चक्कर काटना पडता था और अब हम अपने प्राच्यविभाग के दरवाजे से निकलते ही नेवामें घुस जाते और नाक की सीध चलकर ईसाइकीमव्रोग पहुचने। वहीं ट्राम की टिकान थी। चौरस्ते और केन्द्रीय राजपथ से अलग होने के कारण

यहा ट्राम खाली मिल जाती थी। हम मजे में उसपर चढकर घर को रवाना हो जाते। यदि इन्तूरिस्त से काम होता— अंग्रेजी अखबारों के लालच में काम रहता ही था— तो थोडा ही आगे इन्तुरिस्त का कार्यालय भी अस्तोरिया होटल मे था। बरफ और जाडे का प्रभाव ट्रामवे की गाडियों पर भी पडता था। जहां शून्य-विन्दु के पास तापमान पहुँचता, कि आदमी श्वास की जगह भाप निकालने लगते। आदमियो से भरी ट्रामवे मे भाप जमा हो जाती, जो शीशे म जमकर उसपर एक खासी मोटी बरफ की तह लेप देती। रातके वक्त विशेष करके ट्रामवे में चढने मे एक दिक्कत यह होती, कि उतरने की टिकान का पता नहीं लगता। लोग नाखून से खरोंच-खरोंच कर जंगले के शीशों में कुछ जगह बना लेते, जहा से बाहर देखते। तापमान के ऊपर उठते ही यह बरफ अपने आप पिघलकर गिर जाती। २२ दिसम्बर को ऐसा ही हुआ था।

क्रिसमस— २५ दिसम्बर ईसाईयों का सबसे बड़ा पर्वदिन है, लेकिन सोवियत में किसी भी धार्मिक पर्वदिन की छुट्टी नहीं होती। वहाँ लोग राष्ट्र के तौरपर धर्मका प्रदर्शन नहीं करते। हमारे यहा तो इन धार्मिक पर्वदिनों ने नाक में दम कर रखा है। हिन्दुओं के तो ३६५ दिन ही धार्मिक पर्व के हैं। अलग अलग सम्प्रदाय अपने अपने पर्व-दिनों की छुट्टी की माग करते हैं। अंग्रेजों की चलाई परम्परा अब भी चली ही जा रही है। हाँ, नये, पुराने पर्वदिनों को आख मूद कर माननेवाली सरकार भारत के सबसे महान् ऐतिहासिक पुरुष बुद्ध के जन्म और निर्वाण दिवस के लिये एक दिन की भी छुट्टी करना नही पसन्द करती।

सरकारी छुट्टी न भी हो, सरकार चाहे बिल्कुल धर्म निरपेक्ष हो, किन्तु वहा की जनता व्यक्तिगत तौर से धर्म-निरपेक्ष नहीं है। आज भी रूसी गिरजे अतवार के दिन भक्तों से भरे रहते हैं। क्रिसमस के लिये हरी देवदार की शाखा खूब बिकती है, और बहुत कम ही ऐसे घर होंगे, जिनमे क्रिसमस वृक्ष लगा हो। बाप-दादा बचपन से क्रिसमस कल्पवृक्ष मे सुपरिचित चले आये थे। सुन्दर हरी हरी देवदार शाखाओं में तरह-तरह के खिलौने लटकने, बत्तिया

जलती और असली फल या स्वादिष्ट मिठाइयों का फल लटकता। खिलौनों और मिठाई को लडके कैसे भूल सकते हैं? इसलिये क्रिसमस का महत्व लडकों के लिये बहुत था। यद्यपि रूसके नेताओं ने क्रिसमस के उत्सव को कालान्तरित करके बच्चों के दिवस और नव वर्ष के दिवस में परिणत करने की कोशिश की, लेकिन इसका फल इतना ही हुआ, कि अब २५ दिसम्बर की जगह लडकों का उत्सव २५ से पहिली जनवरी तक का हो गया। हमारे घर में भी क्रिसमस कल्पवृक्ष गाड दिया गया था। उसके लिये खाने की मेज को एक ओर करना पडा। रंगीन बिजली के लट्टूवाले तार को भी शाखाओं में लगा दिया गया। कई छोटे छोटे खिलौने भी लटकाये गये। लडके के लिये ऐसे ही खिलौने की एक पूरी आलमारी भरी हुई थी, लेकिन फिर भी १ दर्जन नये खिलौनों की आवश्यकता जान पडी। अब तक ईगर को स्कोल्निक हो जाना चाहिये था, लेकिन जैसा कि पहिले कहा, चार दिन की कमी के कारण उसे अभी बालोद्यान में ही रखा गया था। यह लडकों का सप्ताह था। सब अपने इष्ट-मित्रों को ले आकर अपने कल्पवृक्ष को दिखलाते और वह खिलौने मिठाईयों और बिजली के लट्टुओं पर अपनी गम्भीर राय देते। २५ दिसम्बर १९४५ का क्रिसमस बहुत सर्द था। तापमान हिमबिन्दु से २७° सेन्टीग्रेट (या पचास डिगरी फारनहाइट) नीचे था। तापमान के ऊंचे होने का हम भारतीयों को ज्ञान है। जब १००° फारनहाइट तापमान होता है, तो शरीर मे पसीना चूने लगता है, १०४° होने पर विकलता होने लगती है, लेकिन हमारे यहा ऐसे भी स्थान हैं, जहा तापमान ११६° तक पहुचता है, जब कि घरके भीतर भी गरमी असह्य हो जाती है, शरीर चिप-चिप करने लगता है, कोई काम करने का मन नहीं करता। ऐसे तापमान का अनुमान रूसवालों को नहीं हो सकता। उसकी जगह उनको अनुभव है हिमबिन्दु से ४०°, ६०° तक तापमान का नीचे जाना। सारी दुनिया मे कितनी ही गणित संबंधी बातें एकसी मानी जाती हैं, लेकिन अंग्रेजों ने अपनी मथुरा को तीनों लोकों से न्यारी ही रखना चाहा है। इंगलैंड और इंगलैंड के साम्राज्य को छोडकर सारी दुनिया मे लोग सडकों और रास्तों पर दाहिने चलन

हैं, लेकिन अंग्रेज "बायें चलो" की बात को मानते हैं। जिस वक्त भारत गणराज्य घोषित होने जा रहा था, उसके एक ही दो दिन पहिले मैंने नवनिर्वाचित राष्ट्रपति से कहा, कि अंग्रेजों के रख छोड़े कम से कम इस बड़े कलक को तो दूर कर दीजिये और २६ जनवरी (१९५०) को गणराज्य की घोषणा के साथ साथ यह भी घोषित कर दीजिए—आज से हमारे यहा चलना दाहिनी ओर होगा। ईरान, अफगानिस्तान, चीन, जैसे छोटे बड़े हमारे पड़ोसी राज्य दाहिने चलने को मानते हैं; अमेरिका, और युरोप के सारे देश दाहिने चलने को स्वीकार करते हैं, फिर भारत क्यों अंग्रेजों के पीछे वाममार्गी बना रहे। राष्ट्रपति ने पसन्द किया, लेकिन वह अपने को असमर्थ पाते थे, कहा— नेहरूजी से कहिये। भला नेहरू जी की खोपड़ी में कभी यह बात धँसनेवाली थी।

माप में भी सारी दुनिया शतिक मानको मानती है। सेन्तीमीतर, देसी मीतर, मीतर, किलोमीतर, अफगानिस्तान और ईरान तक मे चलते हैं। सारी दुनिया इस वैज्ञानिक मान को मानती है। दशोत्तर वृद्धि के होने से हिसाबमें इससे बहुत आसानी होती है, लेकिन अंग्रेज १२ इंच का १ फुट, ३ फुट का १ गज और १७६० गज का १ मील अभी भी मानते जा रहे हैं। थर्मामीटर में भी दुनिया शून्य डिगरी को हिमविन्दु और सौ डिगरीको उबाल-बिन्दु मान सेन्तीग्रेद तापमान का व्यवहार करती है, लेकिन अंग्रेज उस थर्मामीतर को स्वीकार करते हैं, जिसमें ३२ डिगरी पर हिमबिन्दु माना जाता है। विज्ञान संबन्धी कितनी ही बड़ी खोजें अंग्रेजों ने चाहे क्यो न की हों, लेकिन जाति के तौर पर वह महा-अवैज्ञानिक हैं। उसके साथ रहकर हम भी अपनी इस मूढ़ता का परिचय अंग्रेज-भिन्न दूसरे लोगों के सामने दिखलाते हैं।

हां, तो—२७° (ऋण) तापमान कहने में जितना आसान मालूम होता है, उतना सहने में नहीं। हिमविन्दु से २४° तक तापमान के नीचे जाने पर मुझे कोई खास तकलीफ नहीं मालूम होती थी। वैसे इतनी सर्दी में भी मैं लोगों को कान खोले देखता था, लेकिन मैं केवल आख, नाक और मुह को ही नगा रखनेका पक्षपाती था। जब—२५° से नीचे तापमान जाता, तो उसका असर

सांस लेते समय छाती में मालूम देता। इस वक्त नाक से निकली श्वासकी भाप मुछन्दर आदमियों के ओठोंके ऊपर जम जाती, भौंहों पर भी सफेदी पुत जाती, और महिलाओं के आगे निकले बालों को भी रुपहला बना देती। इतना होने पर भी मैं उसे असह्य नहीं अनुभव करता था। वस्तुत: आदमी जितना निम्न तापमान पर नियंत्रण कर सकता है, उतना उच्च तापमान पर नहीं। यदि हिमबिन्दु से पचास डिगरी नीचे तापमान चला जाये, तो अधिक गरम कपड़ों की आवश्यकता होगी, जिनके नीचे चमड़ा या पोस्तीन रखना भी आवश्यक होगा। सारे शरीर को आप चमड़े के पतलून, चमड़े के कोट और ओवरकोट, चमड़े की टोपी तथा चमड़े के दस्ताने से गरम रख सकते हैं। अपनी द्वितीय यात्रा में मैं यह सारी चीजें ईरान से अपने साथ ले गया था, लेकिन अबकी केवल टोपी और ओवर कोट चमड़े के लेगया था। चमड़े के ओवरकोट को पहन कर तो निश्चय ही कड़ी से कड़ी सर्दी पर विजय प्राप्त की जा सकती है, लेकिन ११०°, ११२° डिगरी की अपने यहा की गरमी पर आप कैसे नियत्रण कर सकते हैं? ठंडे तहखानों मे बैठने का रवाज हमारे यहा बहुत पुराना है, छिड़काव के साथ खसकी टट्टिया भी मदद करती हैं, और अब दिल्ली के देवताओं की कृपामें कम से कम उनकी कोठियो मे वायु-नियन्त्रित (एयर कंडीशन्ड) वातावरण रखने का प्रबन्ध हुआ है। लेकिन यह सभी साधन बहुत खर्चीले हैं और साथ ही ऐसे हैं, जो आपकी क्रियाशीलता और गति की रोक को हटा नहीं सकते। इसके विरुद्ध सर्द से सर्द मुल्क में आप अपने शरीर भर को अच्छी तरह ढाक कर चल-फिर सकते हैं। सारा काम कर सकते हैं।

२७° (सेन्तीग्रेद) हिमबिन्दु से नीचे तापमान था, किन्तु तापन-मशीन की मरम्मत का अभी कोई ठिकाना नहीं था। घर-घर में क्रिसमस की पारम्परिक मिठाई (पुडिंग) तैयार की गई थी। पनीर, अंडा, चीनी और क्या क्या न्यामतें मिलाकर यह रूसी पुडिंग तैयार होती है। उसके चौकोर पिंड के चारों पार्श्वों में क्रास (सलेब) का चिन्ह अंकित करने का सांचा प्राय: सभी घरों में होता है। यह मिठाई बड़ी स्वादिष्ट होती है, और प्रभु मसीह का प्रसाद मानकर

बड़े सम्मान के साथ खाई जाती है। क्रिसमस के दिन जो इष्ट, मित्र, सबधी घरपर मिलने आते हैं, वह इस प्रसाद में से थोड़ा अवश्य पाते हैं। पहिले क्रिसमस की बात तो मुझे याद नहीं, लेकिन १९४६ के क्रिसमस का दिन मुझे अच्छी तरह याद है। घरमें मिठाई बनाकर चुपचाप खाली नहीं जाती, बल्कि उसे गिरजा में भेजना पड़ता है, जहा कुशकी तरह की एक घास से गड्डुये में रक्खे पवित्र जल को छिड़क कर पुरोहित भोग लगा देता है, तब वह घरमें लाकर खाई जाती है। हमारे यहा रथ-यात्राओ और दूसरी जगहों पर इसी तरह भक्त लोग भोग लगाने के लिये अपनी अपनी चीज ले जाते हैं। रामलीला के चढावे में आधा दोना खाली कर लेनेपर भी हमारे यहा के पुजारियों का सतोष नहीं होता, लेकिन रूसी पुजारी केवल पवित्र जल छिडक भर देना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। पास ही के गिरजे मे ईगर नौकरानी के साथ भोग लगाने के लिये अपनी मिठाई ले गया था। उनके लौटने में दो घंटे से ऊपर लगे। पता लगा, गिरजा के हाल ही नहीं, बल्कि उसके बाहर पगडडी पर भी बहुत दूर तक भक्तों की दुहरी पक्ति खडी थी। सबके पास पहुचने मे पुरोहित को काफी समय लगा, इसीलिये यह देर हुई।

कम्युनिज्म का दर्शन भले ही ईश्वर और धर्म का विरोधी हो, लेकिन लोगों के लिये धर्म का छोडना उतना आसान नहीं है। सोवियत के तजर्बे से यह मालूम होता है। जिन लोगों को मसीह के भगवान होने पर विश्वास नहीं वह भी जब अपनी कला, सस्कृति और इतिहास देखते हैं, तो पिछले सात-आठ सौ वर्षों से ईसाई धर्म के साथ उसका घनिष्ठ सबध पाते हैं। हरेक आदमी की सहानुभूति और रुचि सदा अपनी परंपरा के साथ होती है। बचपन के सस्कार मनुष्य के मन मे सहज भूलनेवाले नहीं है। क्रिसमस को ही ले लीजिये, इसके साथ कितने पुराने सबन्ध याद आते हैं। आजकल पचाग बदल गया है, किन्तु मुझे १९३७ का क्रिसमस याद है। डा० श्चेर्वात्स्की ने अपना क्रिसमस पुराने पचाग के अनुसार मनाया था।

आदमी जिस परिस्थिति में रहता है उसी के अनुसार अपनी आत्मरक्षा और सुख का प्रबन्ध कर लेता है। रूस के लोग हजारों वर्षों मे उटने तक के

लंबे बूट पहनते आये हैं। आजकल वह ज्यादातर चमडे का होता है, लेकिन पूर्वजों का नमदे का बूट भी लुप्त नहीं हुआ है। यह वही बूट है, जो कि शकों के साथ भारत आया और वहा की सूर्य प्रतिमाओं के पैरों में आज भी दिखलायी पडता है। पुरुष को अपने कोट के ऊपर एक और कन्टोप जैसी जाडों की टोपी रखनी पडती है, जिसे खोलकर अवश्यकता पडने पर कान और गरदन को ढाँका जा सकता है, नहीं तो ऊपर करके उसे गोल टोपी-सा बना दिया जाता है। अधिकतर टोपिया पोस्तीन या समूर की होती हैं। स्त्रिया ऐसी कन्टोपदार टोपी नहीं पहिनती, उसकी जगह उनके ओवरकोट का कालर काफी बडा होता है, जिसमे चमडा या समूर भी मढा रहता है, जिस को उठा देने से सारा सिर कान और गरदन ढक जाता है।

२७ दिसम्बर को हम विश्वविद्यालय गये, तो वहा मध्यएसिया के एक प्रोफेसर से मुलाक़ात हुई। वह तुर्कमानी भाषा के पडित तथा अशकाबाद में २२ साल से अध्यापन करते थे। अब हमारे सिर पर मध्यएसिया जाने की धुन सवार हुई। पिछले छ महीनों में मध्यएसिया के इतिहास और आधुनिक मध्यएसिया को जानने के लिये काफी पुस्तकें पढी थीं। इतने दिनों में यह तो मालूम हो गया था, कि यहा रहकर हम पुस्तक नहीं लिख सकते। पुस्तक लिखें भी तो दुहरे सेंसरो के कारण उसका भारत में पहुँचना सदिग्ध है। फिर खो जाने के डर से दो दो कापी करना हमारे बस की बात नहीं थी। मन यही कहता था, कि चलो सोवियत का दर्शन तीसरी बार भी कर लिया। यदि मध्यएसिया देखने का अवसर मिले, तो अबकी गरमियों में वहा चला जाय, नहीं तो देशका रास्ता पकड़ना ही अच्छा है। भारत की कोई खबर नहीं मिलती थी। चिट्ठियाँ के भी आने में छ छ महीने लग जाते थे। तुर्कमानिया के प्रोफेसर से मालूम हुआ, कि मास्को से अश्काबाद का वैमानिक किराया ७०० रूबल है। अकेले के लिये राशनकार्ड पर २० रूबल में होटल का इतजाम हो जायगा। उनके कहने से मुझे मालूम होगया कि अगर जाने की आज्ञा मिल जाय, तो मैं अपने पैसे के बलपर भी वहां चार महीने घूम आ सकता हूँ।

प्रोफेसर ने बतलाया, कि चीजों का दाम यहीं जैसा है, सिर्फ मौसिम के समय मेवे कुछ सस्ते होते हैं। कह रह थे—वहा गरमी बहुत पड़ती है, इसलिये ऐन गरमी के महीनों (मई, जून, जुलाई) में नहीं जाना चाहिये, लेकिन उनको क्या मालूम कि हिन्दुस्तान में कितनी गरमी पड़ती है। उन्होंने बतलाया कि तुर्कमानिया में भी अरबी-भाषा-भाषी कहीं कहीं मिल जाते हैं, उजबेकिस्तान में और भी मिलेंगे। उनके कहने में यह भी मालूम हुआ कि तुर्कमानिया में बलोची और अरबी बोलने वालों के कुछ गाव हैं। शाम को लौटकर जब घर आया, तो देखा मकान गरम है—मशीन की मरम्मत करदी गई थी।

२९ दिसम्बर को घरके भीतर तापमान–१२° और–१५° था, लेकिन सरदी बहुत मालूम नहीं होती थी। विद्यार्थी अर्धवार्षिक परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, इसलिये नया पाठ नहीं चल रहा था। ३० दिसम्बर से नववर्ष की तैयारी होने लगी। लाल झंडों और दूसरी चीजों से संस्थाओं के घरों को सजाया जाने लगा।

३१ दिसम्बर भी आया। १९४५ का सन् विदाई लेने लगा और १९४६ आने को हुआ। आज अपने सालभर के कामों का जब मैं लेखाजोखा करने लगा, तो मालूम हुआ इस साल मे कुछ नहीं लिख सका। "मधुरस्वप्न" और "मध्यएसिया" के संबंध मे सामग्री अवश्य जमा की, लेकिन मालूम नहीं उन्हे कब लिखने का मौका मिलेगा। अगला साल भी यदि इसी तरह बीता, तो बहुत बुरा होगा। आज सोफी के यहा दावत थी। उसका पति ३ साल बाद लौटा था। पान दावत का अनिवार्य अंग है, फिर उसके बाद नाच भी। मैं दोनों ही में अनारी था। सोफी ने बहुत चाहा कि यदि पीता नहीं तो थोड़ा नाच ही लूं, लेकिन जिन्दगी में जब सीखा ही नहीं था, तो आज नाच कैसे सकता था। २ बजे रात तक दावत चलती रही। मेहमान कुछ होश में और कुछ पैरों से लड़खड़ाते अपने घरों की तरफ चले। अगले वर्ष के लिये यही सोचा कि यदि मध्यएसिया को अच्छी तरह देखने का मौका मिल गया, तो अगले ३६५ दिनों को भी यहा अर्पण करने के लिये तैयार हूँ।

९-वसन्त की प्रतीक्षा (१९४६)

जाड़ों को दो सालों मे बाटना बिलकुल बेवकूफी मालूम होती है— नवम्बर-दिसम्बर को १९४५ में और जनवरी-फरवरी को १९४६ में। वसन्त के आरम्भ से सम्वत्सर का आरम्भ ठीक था, लेकिन दुनिया परम्परा के पीछे इतनी पड़ी हुई है, कि वह अपने पचाग में इस साधारण से सुधार के लिये भी तैयार नहीं है, चाहे इसके कारण आय-व्यय पेश करते समय एक साल की जगह १९४५–१९४६ भले ही लिखना पडे। वसन्त की प्रतीक्षा जितनी उत्कंठा के साथ रूस जैसे ठंडे देशो में की जाती है, उतना हमारे देश में नहीं हो सकती। लड़को की एक रूसी कविता में सुना था—

आ आ वसन्त, मेरी बहिनिया—
खिडकी पर बैठी तेरी प्रतीक्षा कर रही है।

छोटी सी बहिनिया (सेस्त्रुच्का) नही बल्कि जवान-बूढे सभी वसन्त की प्रतीक्षा करते हैं, लेकिन लेनिनग्राद मे उसके पहुचने में अभी पूरे चार महीने की देरी थी। पहिली जनवरी को तापमान १२° से १५° था। २ जनवरी को युनिवर्सिटी गये। प्रथम वर्ष के छात्रों से कुछ पढ़ाया, फिर अध्यापक तथा

चतुर्थवर्ष के छात्रों ने पाठ्य पुस्तक से भिन्न "मृच्छकटिक" नाटक शुरू किया। अर्धवार्षिक परीक्षा हो रही थी। परीक्षा समाप्त होते ही कुछ दिनों की छुट्टी थी, इसलिये १० फरवरी तक के लिये मेरा युनिवर्सिटी में कोई काम नहीं था। मैं अब अधिकतर घर पर ही रह पुस्तकों को पढता और उनसे नोट लेता।

८ जनवरी को पहिली वार देखा कि ५० के करीब जर्मन बन्दी मेरी खिड़की के बाहर से जा रहे हैं। इसके बाद तो रोज १० बजे उन्हें काम की ओर जाते देखता और ४ बजे डेरे की ओर लौटते। उनकी देखभाल के लिये कभी कभी तो बन्दूक लिये एक स्त्री-सिपाही होती। बन्दियो के चेहरे उदास और श्रीहीन हों तो आश्चर्य ही क्या? हिटलर ने विश्वविजय के लिये उनको दुनिया के देशों में भेजा था। हिटलर तो दूसरे लोक को विजय करने चला गया, लेकिन यह बेचारे अपने देश से दूर रूस की सख्त सर्दी में काम करने के लिये छोड दिये गये थे। उनके खाने पीने का इतिजाम अच्छा था, यह उनके स्वस्थ शरीर से मालूम होता था। हाँ, कपड़े उनके अपने पुराने फौज के थे, जो कुछ अधिक मैले थे।

१४ जनवरी को युनिवर्सिटी गये। चतुर्थवर्ष की दोनों छात्राये सस्कृत में उत्तीर्ण हुईं। "मेघदूत" से कुछ प्रश्न पूछे गये। सोवियत के विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में परीक्षा के लिये कागज-स्याही बिलकुल खर्च नहीं करनी पडती। परीक्षा मौखिक होती है, और परीक्षक होकर अपने ही अध्यापकों मे से तीन कुर्सी पर आ डटते हैं। पूर्णांक ५ होते हैं। छात्राओं के उत्तर देकर बाहर जाने के बाद तानिया को मैंने दो नबर देने के लिये कहा, तो मेरे सहकर्मियों ने बतलाया—इसका अर्थ तो है फेल करना। जान पडता है फेल शब्द विद्यार्थियों मे ही नहीं वर्जित है, वल्कि अध्यापको और परीक्षको में भी। पर्याप्त दिनों तक जिस छात्र ने उपस्थिति दी है, उसे सोवियत की विद्या-संस्था मे फेल होने की संभावना ही नहीं है। प्रश्न का उत्तर देते समय विद्यार्थी अपनी सारा पुस्तकों को साथ रख सकते हैं, क्योंकि परीक्षा स्मृति की नहीं बल्कि समझ की ली जाती है।

हमारे घर मे अभी कोई नौकर नहीं था। राशन के जमाने मे एक नौकर

और रखकर अ-राशन दुकान से दस गुने दामपर चीजें खरीदकर खिलाना आसान काम नहीं था। बर्तन मलना और चारपाई ठीक-ठाक करना मेरे जिम्मे था। जाड़े के दिन थे। नल का पानी काटने को दौड़ता था। मैं गरम पानी से धोने का पक्षपाती नहीं था, क्योंकि उसमें समय अधिक लगता था। और घर के नल के ठंडे पानी से धोने पर एक मिनट में ही दर्द के मारे हाथ और मन तिलमिला उठते। हमारा तो यह सिद्धात था—शारीरिक परिश्रम से घृणा करने की अवश्यकता नहीं, लेकिन उसमे इतना समय नहीं लगाना चाहिये कि लिखने पढने के समय में कोताही हो। मालकिन का विचार कुछ दूसरा ही था। हम बैठे बैठे रात के १—२ बजे तक पढते और नोट लेते रहते, जिसे वह बेकार समझतीं।

२४ जनवरी को जर्मन बन्दी सडको की बरफ फैंक रहे थे। मकान के काम को इस समय बन्द रखा गया था, लेकिन अगले जाडों मे वह २४ घटे अखड चलता रहा। शहर की सभी बरफ तो कहा फेंकी जा सकती थी? छोटी छोटी सडकों और गलियों की बरफ वसन्त के आरम्भ होने पर ही गलकर साफ होती, लेकिन बडी सडकों पर उसे बराबर हटाते रहना पडता, नहीं तो ट्रामों और मोटरों का आना-जाना रुक जाता, क्योंकि बरफ पर चलने से वह ऊची-नीची हो जाती है, जिसके कारण उसपर यानों का चलना सरल काम नहीं होता।

अभी भी भारत मे क्या हो रहा है, इसके जानने का कोई इतिजाम नहीं हो सका था। स्थानीय रेडियो और रूसी समाचार पत्रों से काम चलनेवाला नहीं था। उनमे महीनों बाद शायद कभी कोई दो-चार पक्तियां देखने-सुनने को मिलतीं। मुझे सबसे जरूरी मालूम होता था—एक रेडियो खरीदना, जिसमें देश विदेश की खबरें मालूम होती रहें, लेकिन यह इच्छा पूरी होने मे अभी चार-साढेचार महीनों की देर थी। २३ जनवरी की रात के रेडियो मे मालूम हुआ, कि दिल्ली की एसेम्बली ने राष्ट्रीय सरकार की माग की है। जावा मे वहा के स्वतत्रता-प्रेमियों को दबाकर फिर से डचो का राज्य कायम करने से अग्रेजी सेना ने जब इंकार कर दिया, तो अंग्रेजो ने वहा भारतीय सेना भेजी। कहने को अब

विलायत में मजदूरदल का शासन था, जो अपने को समाजवादी कहने का अभिमान करता है, लेकिन विलायत की मजूरपार्टी भी साम्राज्यवाद के अन्धानुसरण में अपने टोरी भाइयों से पीछे नहीं है। अब उसने भारतीय सेना का जावा में उपयोग करना शुरू किया था। दिल्ली की एसेम्बली ने इसका भी विरोध किया था। "प्राव्दा" सोवियत के सबसे अधिक छपनेवाले दो रूसी पत्रों में से एक है। कुछ स्थानीय खबरों के साथ मास्को की "प्राव्दा" का लेनिनग्रादीय संस्करण भी निकलता था, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय खबरें और कुछ लेख भी रहा करते थे। चाहे खबरें दो-चार ही पंक्ति की कभी कभी निकलतीं हों, लेकिन उनसे यह मालूम हो रहा था, कि युद्ध के बाद का भारत चुपचाप अंग्रेजों के जुए को नहीं ढो सकता। लेकिन मेरा वृद्ध नेताओं पर विश्वास नहीं था। मैंने २३ जनवरी (१९४६) की डायरी में लिखा था— वृद्ध नेता तो सभी कामों में रोड़ा अटकानेवाले हैं, राजनीति में और भी। नेता तरुणों को होना चाहिये। वृद्ध अपने ज्ञान और तजर्बे से परामर्श दे सकते हैं। भारतीय हिन्दू राजनीतिक बुड्ढों के ख्याल में ही नहीं आता, कि वह समय आनेवाला है जबकि हिन्दू-मुसलमानों की सीमायें रोटी-बेटी से भी मिट जायेंगी। (हमारे वृद्ध नेता तो) अतीत पर नजर डालकर समझौता करना चाहते हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो चुका था और ऐसे भीषण नरसंहार के साथ, जो कि "न भूतो न भविष्यति," —सोवियत रूस को सत्तर लाख आदमियों की बलि चढ़ानी पड़ी। लेकिन २७ जनवरी को मैं देख रहा था, कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फिर तनातनी शुरू हो गयी है। राष्ट्रसंघ की बैठक में सोवियत प्रतिनिधि ने जावा में अंग्रेजी तथा उसकी सहायक जापानी सेना के इस्तेमाल करने के विरोध में पत्र लिखा। उक्रइन के प्रतिनिधि ने ग्रीस में अंग्रेजी सेना की फासिज्म-पोषक नीति का विरोध किया। ईरानी प्रतिनिधि ने ईरान के भीतर हस्तक्षेप करने का इल्जाम रूस के ऊपर लगाया। कोरिया में सोवियत और अमेरिका रस्साकशी कर रहे थे। अमेरिका अल्पसंख्यक धनिकों के पक्ष में था और वहाँ की बहु-संख्यक पीड़ित जनता सोवियत के पक्ष में।

२ फरवरी को लोला के भाई की लडकी माया आयी। वह मास्को मे कालेज के तीसरे वर्ष में पढ रही थी। अभी दो वर्ष और बाकी थे। माया के नामपर नाम से यह न समझें, कि उसके नाम पर बुद्धि की माता का कुछ असर था। रूसमें अब हजारों की तादाद में माया नाम-धारिणी-लडकियां मिलेंगी। माया मई महीना है। मई का प्रथम दिवस दुनिया के मजदूरों का पवित्र दिवस है, इसलिये जो लड़की मई महीने में पैदा होती है, उसका नाम माया रखने को कोशिश की जाती है। माया अच्छी समझदार लडकी थी। बेचारी की मां मर गई थी, और अत्यंत प्रतिभाशाली पिता जेल में था। वह सबसे तरुण सोवियत जनरल था। उसका दादा भी जारशाही युगका एक योग्य जनरल तथा सैनिक कालेज में गणित का अध्यापक था। माया के पिता ने तोपों के ऊपर एक खोजपूर्ण निबन्ध लिखा था, जिसके सिद्धान्तों को पीछे पाठ्यक्रम में ले लिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध में वह जिस जेल में भी रहा होगा, अपने देश की ओर से लडने के लिये जरूर तडफडाता होगा। कुछ लोग तो यहां तक अफवाह उड़ाते थे, कि नाम बदलकर उसने फिनलैंड की लडाई में भाग लिया— कुछ लोग इसकेलिये कसम खाने के लिये भी तैयार थे। लेकिन यदि वह युद्ध मे सीधे भाग लेने का अवसर पाता, तो युद्धको समाप्ति के बाद उसे जेल में रहने की अवश्यक्ता नहीं थी। हां, इसमें संदेह नहीं, कि सोवियतवाले अपने राज-बन्दियों की प्रतिभाओं का भी उपयोग करना भली भांति जानते हैं, इसलिये अपने इस प्रतिभाशाली जनरल की प्रतिभाओ का उपयोग उन्होंने जरूर किया होगा। जेनरल जांकुल्या बिलकुल निरपराध थे। जब १९३७ मे विदेशी साम्राज्यवादियों से मिलकर उस समय के सोवियत मार्शल तुखाचेव्स्की तथा दूसरे फौजी अफसरों ने षड्यंत्र करके सोवियत शासन को उलटाना चाहा, उसी वक्त जौ के साथ पिसनेवाले घुन की तरह जेनरल जाकुल्या भी पकड लिये गये। तुखाचेव्स्की सबसे बडा सेनापति होने के कारण ऊंचे अफसरों पर प्रभाव रखता था। उसने उच्च अफसरों की बैठक बुलाई, जिसमे जनरल जाकुल्या भी चले गये। उपस्थिति-बही पर शायद हस्ताक्षर भी कर चुके थे। जैसे ही दो चार

मिनट बात सुनने को मिली, प्रयोजन का पता लग गया और वह बैठक से उठकर चले आये। लेकिन षड्यंत्रियों को पकडे जाते समय जाकुल्या भी पकड लिये गये और अब वह सजा पा जेलमें थे। माया ने बहुत जानने की कोशिश की, तो उसे बतलाया गया: तुम्हारे पिता स्वस्थ और प्रसन्न हैं, और वह साल-डेढ-साल में बाहर चले आएगे।

जनरल जाकुल्या की तरह से हो सकता है, जौ के साथ और भी कुछ घुन पीसे गये हों, लेकिन इसमें तो संदेह नहीं, कि सोवियत-शासन के विरुद्ध, दुनिया की प्रथम समाजवादी सरकार के विरुद्ध तथा शारीरिक मानसिक कमकरो के भविष्य के विरुद्ध उस समय एक भीषण षड्यंत्र रचा गया था, जिसमें जापान और जर्मनी ने पूरी सहायता की थी। उन्होंने ऐसा इंतजाम किया था कि सोवियत-शासन को खतम करके फिर वहा पूंजीपतियों की तानाशाही स्थापित कर दी जाय। जनरल जाकुल्या के पिता जारशाही जनरल थे, लेकिन उनका परिवार शुद्ध शिक्षितवर्ग से संबंध रखता था, इसलिये उनकी सहानुभूति जारशाही के साथ नहीं रह सकती थी। क्रान्ति के बाद उन्होंने बोल्शेविकों का साथ दिया। जाकुल्या तो होश सभालते ही लेनिन के पक्के भक्त थे। किन्तु जहा इतना जबर्दस्त खतरा हो वहां जौ के साथ घुन के पिसने का डर सदा ही रहता है। लेकिन भयकर से भयंकर अपराध करनेवालो को भी मृत्यु दण्ड देने में सोवियत शासक बड़ा संकोच करते हैं, इसे उनके शत्रु भी मानते हैं। अच्छा होता यदि इस तरह की घटनायें बिलकुल ही नहीं होतीं। लोला का भाई होने के कारण जाकुल्या के बारे में मैं जितना जान सकता था, उतना ऊपरवालो को कैसे मालूम होता? माया पढने के लिये मास्को में दाखिल हुई थी। बीच में अब पढाई छोड़ना नहीं चाहती थी। हम लोगों की इच्छा यही थी, कि वह यहां रहती तो अच्छा होता। वह अपनी छुट्टियां बिताने के लिये फिनलैण्ड की खाडी के एक विश्रामालय में गयी हुई थी, जहां से लौटते वक्त अपनी बुआ से मिलने आयी थी।

जाडे का दिन भी कितना नीरस होता है? हफ्ते-दो-हफ्ते की बात होती,

तो इसमें संदेह नहीं की, रजत-राशिकी तरह जहां-तहा फैली बरफ, तथा चारों ओर की निश्शब्द शान्ति बड़ी मोहक मालूम होती, लेकिन जब अक्टूबर से अप्रेल के अन्त तक वही दृश्य सामने रहे, तो कहा से आकर्षण रहता। ऊपर से हरियाली के लिये आंखे तरसती थीं। अगर कहीं कोई देवदार का दरख्त हुआ, तो आखों को जरासा विश्राम मिला, नहीं तो हरे रंग का कहीं नाम नहीं था। और तो और चिड़ियों का भी पता नहीं था। केवल घरों मे रहने वाली गौरैया सिकुडी-सिमटी कभी कभी बरफ पर इधर-उधर फुदकती दिखाई देती। पचासों तरह की चिडियां, जो गरमिया में चहचहाया करती थीं, वे सब अब गरम इलाकों को ढूढते हुए दक्षिण की ओर चली गई थीं। जैसे जैसे तापमान गिरने लगता, वैसे वैसे यहां की चिड़िया दक्षिण की ओर प्रयाण करतीं हैं। कहते सुना कि कौवे भी छमासी नीद लेकर सो जाते हैं, लेकिन मैंने किसी कौवे को सोया नही देखा।

संसद का चुनाव— महायुद्ध के बाद केन्द्रीय तथा प्रजातंत्रीय सोवियत संसदों (पार्लियामेन्टों) का चुनाव होने जा रहा था। एक ही सूची में दिये हुए व्यक्तियो पर वोट देना था। कोई विरोधी उम्मेदवार खडा नहीं हुआ था, तो भी चुनाव के लिये जितना प्रचार और तत्परता रूस मे देखी जाती थी, वह किसी देश के चुनाव से कम नहीं थी। शहर के बडे बड़े मकानों की दीवारो पर उम्मेदवारों के बडे बडे फोटो लटक रहे थे। हजारो सिनेमा-घरो मे चुनाव की स्लाइड दिखलायी जाती थीं। व्याख्यान भी उसी तरह जोर शोर से हो रहे थे। कहीं कहीं तो चलते फिरते सिनेमा किसी दीवार को ही रजतपट बनाकर दिखलाये जा रहे थे। चुनाव ठीक तरह से हो, इसके लिये निरीक्षक समितिया चुनी जा चुकी थीं। हमारे चुनाव-क्षेत्र की निरीक्ष समिति में लोला भी सम्मिलित थी।

१० फरवरी को चुनाव का दिन आया। इतवार होने से वैसे ही उस दिन छुट्टी थी। सुबह छ बजे से ही लोग वोट देने के लिये जाने लगे। प्रचारक समझते थे, कि मैं भी वोटर हू, उन्हें निराशा हुई, जब मैंने कहा कि मैं सोवियत नागरिक नहीं हू। तब तक स्थानीय प्रचारक तीनबार हमारे घर मे

आ चुके थे, जब कि एक बजे लोला अपने वोट देने के लिये १४ नम्बर के चुनाव स्थान में गयी, जो पास के ही स्कूल मे था। सड़कों पर रास्ता बतलाने के लिये रंगीन पट्टियां लगी हुई थीं। चुनाव-स्थान में और भी झंडे पताके लगे थे। अकारादि-नाम-सूची लिये चार-पांच मेजों पर लोग बैठे हुए थे। नाम बतलाया, रजिस्टर पर निशान किया गया, वोट का कागज लिफाफे के साथ दिया गया। चूंकि इस स्थान से कलिनिन और ज्दानोफ दो उम्मीदवार संसद की दोनों उच्च संस्थाओं के लिये खड़े हुए थे, इसलिये हरेक वोटर को दो रंग की पर्चियां मिली थीं। यदि कोई अपनी पर्ची में कुछ लिखना चाहता, तो लाल परदों के घेरे के भीतर अलग अलग कुछ छोटे छोटे डैक्स रखे हुए थे, जहां जाकर वह लिख सकता था। किसने किसको वोट दिया, इसके जानने का वहा कोई उपाय नहीं था। प्रबन्ध बड़ा अच्छा था, इसलिये अधिक भीड़ नहीं थी, यद्यपि वोटरों मे से ९५-९६ फीसदी से भी ज्यादा वोट देने गये थे। चुनाव-महोत्सव में गाने बजाने, नाचने को कैसे भूला जा सकता था?

रेडियो और एक कैमरा दो चीजों की आवश्यकता मैं अपने लिये बहुत समझता था। कैमरा मैं अपना भारत की सीमा से बाहर न ले आने पाया और उसे क्वेटा में छोड आया था। कैमरे से पहिले भी मुझे रेडियो की जरूरत थी, किन्तु रेडियो का अभी डौल नहीं लग रहा था। अभी दाम बहुत ज्यादा था। लोग कह रहे थे—कारखाने अब रेडियो तैयार करने लगे हैं, कुछ ही महीनों में वह बाजार में बडी सख्या में आजायेंगे, तब दाम कम हो जायगा और मशीन भी अच्छी मिलेगी। अत्यावश्यक होने पर भी मैं रेडियो नही ले पा रहा था। सोवियत के शहरों में पुरानी चीजों के बेचने का बडा ही सुव्यवस्थित प्रबन्ध है। पुरानी किताबों की दूकानें १ दर्जन के करीब तो मेरे रास्ते पर थीं, जिनका चक्कर काटना मै अपने लिये अनिवार्य समझता था। उसी तरह दूसरी पुरानी चीजों की भी दूकानें थीं। १३ फर्वरी को मैं एक ऐसी ही दुकान में गया, वहा लाइका के ढंग का सोवियत का बना "फेद" कैमरा देखा। लैंस ३ ५ शक्ति का था और दाम ११ सौ रूबल। यद्यपि वहा असली लाइका कैमरे भी थे, किन्तु दाम ३

हजार रूबल (२ हजार रुपया) था। रूबल का जो मूल्य हमारी दृष्टि में था, उसके लिहाज से दाम ज्यादा नहीं था, लेकिन तो भी हम यह नहीं चाहते थे, कि कोई हमें फजूलखर्च कहे, इसलिये हमने फेद को ले लिया और सोवियत में रहते उससे कितने ही फोटो भी लिये, यद्यपि उनका उपयोग लेखों के न लिखने के कारण नहीं हो सका।

१४ फर्वरी को नृतत्व-म्यूजियम देखने गये। लेनिनग्राद में म्यूजियमों की संख्या ४ दर्जन से भी ऊपर है, और सब अपना अपना महत्व रखते हैं। इस म्यूजियम में हमने सिबेरिया की जातियों की खास प्रदर्शनी को देखा, जो कि उस वक्त हो रही थी। चुकची, तुंगुस, याकूत्, कम्स्चत और सखालीन जैसी जन-जातियों की कला का यहां बहुत अच्छा संग्रह था। साइबेरिया की इन जातियों को उनके आदिम जीवन से आधुनिक जीवन में लाने के लिये जब आवश्यकता पडी, तो सबसे पहिले जरूरी काम था, उनके भीतर से निरक्षरता का दूर करना। उनमें लिखने-पढने का कोई रवाज नहीं था, इसलिये अध्यापक कहा से मिलते? रूसी या दूसरे भाषा-भाषी अध्यापक मिल सकते थे, लेकिन सोवियत की नीति है— हरेक को उसकी मातृभाषा में शिक्षा देना। यहा केवल नीति का सवाल ही नहीं था, बल्कि व्यवहारतः भी यही लक्ष्य पर पहुँचने का सबसे छोटा रास्ता हो सकता था। उस वक्त यह जरुरी समझा गया, कि थोडे बहुत भी भाषा जानने वाले रूसी या दूसरे लोगों को उनके भीतर भेजा जाय, लेकिन जब शिक्षा को और आगे बढाने की जरूरत पडी, तो बाकायदा प्रशिक्षित अध्यापकों के तैयार करने के लिये लेनिनग्राद में स्कूल खोला गया। अत्यन्त शीत ध्रुव-कक्षीय प्रदेश के रहने वाले लोगों के लिये मास्को भी गरम था, जिसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर बुरा पड़ता, इसकेलिये लेनिनग्राद को उपयुक्त समझा गया। अब तो शायद वह स्कूल भी नहीं है। लेनिनग्राद युनिवर्सिटी में भी इन जातियों के कई लडके लडकिया पढ रहे थे। उच्चशिक्षा में भी वह काफी दूर तक आगे बढ चुके थे। म्यूजियम के डायरेक्टरने भारतीय सामग्री को भी दिखलाने की बडी उत्सुकता प्रकट की, लेकिन अभी वह भाग खुला नहीं था। उन्होंने सिबेरिया

की जातियों की प्रदर्शनी को स्वयं दिखलाया। वहां उनके हाथ की बनी हुई बहुत सी कलापूर्ण चीजें रक्खी थीं—परिधान, खिलौने, घरेलू बर्तन, आखेट की चीजें आदि थी। सोवियत मध्यएसिया में मिली हुई सबसे पुरानी खोपडी (तेश्किताश मानव) का भी नमूना तथा उस खोपडी के आधार पर बना शरीर भी वहां देखने को मिला। गिराम्मिमोफ खोपडी देखकर असली मूर्ति बना देने मे बडा सिद्धहस्त कलाकार माना जाता है। उसने तैमूर की खोपडी से जो आकृति बनाई, वह तैमूर के समकालीन चित्रों से बिलकुल मिल जाती है। बात यह है कि जहां तक चेहरे का सम्बन्ध है, हड्डी निर्णायक होती है। खोपडी पर चमडा, थोडे स्नायु और कुछ चरबी ही तो और लगती है। उतनी मोटी तह जमाकर हम खोपडी को असली चेहरे का रूप दे सकते हैं। यहां के पुस्तकालय में कई भाषाओं में काफी पुस्तकें हैं। मेरे सामने मध्यएसिया के इतिहास में शकों की समस्या थी। मैं कुछ निष्कर्ष पर पहुँच चुका था, लेकिन जब तक दूसरे विशेषज्ञ भी उससे सहमत न हों, तब तक अधिक आत्मविश्वास अच्छा नहीं है, इसे मैं मानता था। मैंने म्यूजियम के डायरेक्टर से इस विषय पर बातचीत की। उन्होंने बतलाया, कि डाक्टर बेर्नस्ताम इस विषय के विशेषज्ञ हैं। मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा था—छठी सदी ईसा-पूर्व में शक कास्पियन के उत्तर, उत्तर-पश्चिम में जहा देन्यूब के तट तक फैले हुए थे, वहा साथ ही वे दरबन्द (काकेकश) और सिरदरिया के उत्तर होते आगे तक चले गये थे। चौथी सदी ईसा-पूर्व में सिकन्दर के समय भी वह सिरसे दन्यूब तक थे। द्वितीय सदी ईसा-पूर्व में सप्तनद के नीली आंखों तथा लाल बालों वाले वूसुन भी शक थे। उस समय तरिम-उपत्यका में भी यही जाति रहती थी। पीछे ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में पूरब में हूणों के प्रहार के कारण उन्हें धीरे धीरे दक्खिन और पच्छिम की ओर भागना पडा। २ फर्वरी के "मास्को न्यूज" में शकों के बारे मे एक लेख पढने को मिला, जिससे मालूम हुआ कि कालासागर के उत्तर-पूरब में शक राज्य चौथी सदी ईस्वी तक थे। इस भूमि में आज कल सोवियत पुरातत्त्व विभाग बडे भारी पैमाने पर खुदाई का काम कर रहा है। क्रिमिया में नियोपोलिस शकों की

राजधानी थी, जिसका जिक्र पुराने लेखकों ने किया है। खुदाईयों से मालूम होता है, कि इस जगह पर ईसा-पूर्व चौथी सदी में एक शक नगरी थी, जिसके चारों ओर मोटा प्राकार था। घरों में कमरे बड़े बड़े थे। घर के आंगन में संगमरमर के प्याले मिले, कुछ ग्रीक मृत्पात्र भी प्राप्त हुए और दूसरी तरह से भी पता लगा कि इन शकों पर ग्रीक संस्कृतिका बहुत प्रभाव पड़ा था। उनके घरों और बर्तनों के सजाने, अलकरण करने का ढंग वही था, जिसका प्रभाव आजकल भी उक्राइन के पुराने घरों में मिलता है। जेवरों को देखने से मालूम होता है कि उनका प्रभाव बहुत पीछे तक रहा है। छतों और खिलौनों को अलंकृत करने में रूसी हाल तक उसी ढंगका अनुसरण करते रहे हैं। यह सांस्कृतिक चिन्ह जो शकों (सिथियन) के साथ संबन्ध बतलाते हैं, काला सागर के सारे उत्तरी तट से होते दन्यूब के किनारे तक मिलते हैं।

उधर हमारा पठन-पाठन और नोट लेना भी चल रहा था। चौका-बर्तन करते वक्त सर्दी की शिकायत भी करनी पड़ती थी, जब तब रेडियो दो चार शब्दों में भारत की खबर दे देता, जिससे मन और कल्पना दूसरी ओर दौड़ पड़ती। १५ फर्वरी को मालूम हुआ कि कलकत्ता में भारी हड़ताल हुई है। टैंक आदि के साथ गोरी पल्टनें बुलाली गई हैं, गोली से दर्जनों आदमी मारे गये हैं— एटली की सरकार चर्चिल से क्यों पीछे रहने लगी? लेकिन यह तो निश्चय ही था, कि तोपो और टैंकों के सहारे अब हिन्दुस्तान पर राज्य नहीं किया जा सकता। रूसी कथाकाली (बैले) तो कई देख चुके थे। अरमनी कथाकाली "गयाने" की चारों ओर बड़ी चर्चा सुनी। सोचा इसे भी देख लेना चाहिये। अरमनी देश कथाकाली के लिये तो प्रसिद्ध नहीं है, लेकिन रूसकी विश्वविख्यात बैले का पथ-प्रदर्शन जब उसे मिला, तो वह कैसे पीछे रह सकती थी? मारिन्स्की नाट्यशाला में १७ फर्वरी को उसे देखने गये। सचमुच ही बहुत सुन्दर नाट्य था। सोवियत के प्रथम श्रेणी के कलाकारों में एक अरमनी खचतुर्यान ने इस बैले को तैयार किया था। बैले में जब भाषा का पूर्ण तौर से बायकाट है, तो उसे रूसी कहें या अरमनी इसका सवाल ही नहीं उठता। जहां तक देश,

काल, पत्रा का संबन्ध है, उसके सजाने मे तो आज के रूसी परम यथार्थवादी होते हैं। यदि वह शकुन्तला का बैले तैयार करें, तो उसमें कालिदास के भारत को अंकित करने की कोशिश करेंगे— शकुन्तला का बैले तो नहीं तैयार हुआ है, लेकिन नाटक के रूप में अभिज्ञान शाकुन्तल सोवियत-काल में भी कई बार खेला जा चुका है। "गयाने" के सारे नट-नटी रूसी थे। नृत्य बडे सुन्दर थे, दृश्य बडे ही मनोहर, वेश-भूषा भी आकर्षक, भावों की कोमलता के बारेमें कहना ही क्या ? यत्रनिकाओं से तैयार किये दृश्य बहुत ही स्वाभाविक विशद और विशाल थे। स्वर शायद अरमनी थे। वहाँ अरमनी अभिनय और नृत्य के भावों की अत्यन्त कोमलता देखी जाती थी, किन्तु उक्रइनी और रूसी नृत्य जो इस बैले में दिखाये गये थे, उनमें कबीलेशाही परुषता भी स्पष्ट छाप मालूम होती थी। जान पडता है, गजगामिता ऐसियायी नारियों पर ही ज्यादा लागू है, कूद-फादकर चलने वाली यूरोपियन नारियां भला गजगमन करना क्या जानें ? लेकिन "गयाने" में नट-नटियों के रूसी होने पर भी उन्होंने ऐसियायी कोमलता का निर्वाह बड़े सुन्दर तौर से किया था।

१८ फर्वरी को तापमान हिमबिन्दु से १५° सेन्टीग्रेड नीचे था, लेकिन मैं अब सर्दी का अभ्यस्त हो चुका था। नेवा जमी हुई थी, और हम विश्वविद्यालय से लौटते समय उसे सीधे पारकर इसाइकी-सबोर में ट्राम पकडते।

लेनिनग्राद युनिवर्सिटी के प्राच्य-विभाग के देकन (डीन) प्रोफेसर स्ताइन अर्थशास्त्र और राजनीति के एक माने हुए पंडित हैं। चीन में एक बार वह परामर्श दाता बन करके रह चुके थे और भारत के बारे मे भी उनका अध्ययन बड़ा गंभीर था। उन्होंने चीनी राजनीति और कौटिल्य पर हाल ही में एक लेख लिखा था। उनसे चीन और भारत के राजनीतिक सिद्धान्तों के दानादान पर देर तक बातचीत होती रही। बौद्ध धर्म और दर्शन के दानादान के बारे मे मैं भी कुछ जानता था, लेकिन भारत और चीन के दो हजार साल पहिले आरम्भ हुए सास्कृतिक संबंध मे राजनीतिक दानादान कितना हुआ था, इसका पता नहीं था। मैं जो कुछ भी जानता था उसे बतलाता रहा, लेकिन

मे ज्ञान कौटिल्य के अर्थशास्त्र से अधिक नहीं था। उस दिन (२० फर्वरी) जब मैं कबाडियों की दूकानों में किताबों की खोज में निकला, तो मेरे साथ हिन्दी की लेक्चरर दोना मारकोवना गोल्दमान भी थीं। उन्होने बतलाया, कि हमारे रहने के स्थान के पास लितनी में अकदमी की एक बडी अच्छी दुकान है। मैंने उनके साथ जा वहा से ३३० रूबल में पुरातत्व और मध्यएसिया सबधी कितनी ही पुस्तकें खरीदीं। जैसे और चीजें राशनहीन दुकानों पर महगी मिलती हैं, किताबों की वैसी हालत नहीं थी, इसलिये ज्यादा लोगों को प्रिय पुस्तकें इन दुकानों में आकर भी टिकती नही थीं। यहा पर मुझे १६०४-१६०५ की छपी पुरातत्व सबधी किताबे दीख पडी।

२३ फर्वरी को छोटी लेकिन बहुत ही महत्वपूर्ण खबर भारत के बारे में रेडियो से मिली। बम्बई मे भारतीय नौसैनिकों ने अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। मार्क्स का कहना ठीक होने जा रहा है। आधुनिक सैनिक विद्या में शिक्षित-दीक्षित भारतीय अपनी बन्दूकों को सदा अंग्रेजों के लिये ही नहीं उठाते रहेंगे, बल्कि कभी वह उन्हें अपनी स्वतन्त्रता के लिये भी उठायेंगे। आज वह उठने लगीं हैं।

पश्चिम के समृद्ध और समुन्नत देशों मे भी कितनी ही चीजे मिलती हैं, लेकिन उनका उपयोग हजार में एक आदमी से भी कम के लिये होता हैं। सोवियत में शारीरिक, बौद्धिक और सास्कृतिक विकास के साधन इतने बडे पैमानेपर हैं, कि उनसे सारी जनता फायदा उठाती है। यदि वहा शिशुशालायें हैं, तो उनमें डेढ महीने से तीन वर्ष के सोवियत के सभी बच्चों को रखकर लालन-पालन का प्रबन्ध है। यदि बालोद्यान हैं, तो वह इतने अधिक हैं, कि उनमें चौथे बरस से सातवें बरस के अन्त तक के सोवियत-भूमि के सारे लडके रखे जा सकते हैं। यह बहुत खर्चीली चीज है। ईगर की तरह १४० रूबल मासिक देनेवाले माता-पिता नहीं देते, लेकिन सबके लिये वहा अलग-अलग चारपाइयां, गद्दे, तकिया, चादर-लिहाफ, तौलिया, बर्तन, कुर्सी, मेज, खेलने के सामान सभी जमा किये हुये हैं। बालोद्यानों में खेलने खेलते अधिक से अधिक चीजों

और उनके गुणों के बारे में ज्ञानवृद्धि के साधन के तौर पर कुत्ते, सूअर, भेड़ें, बकरियाँ, मुर्गे और पक्षी भी रखे जाते हैं। फूलों का तो एक अच्छा खासा उद्यान हरेक बालोद्यान के साथ लगा होता है। इसके अतिरिक्त चाचिया अपने बच्चों की जमात को लेकर नगर के दर्शनीय कौतुकागारों (म्यूजियम), उद्यानों, प्राणि-उद्यानों तथा कितने ही ऐतिहासिक स्थानों तथा प्राकृत सौंदर्य की जगहों को दिखलाने के लिये ले जाती हैं। बालकों के लिये अपने सिनेमा भी होते हैं, जिनमें उनके समझने लायक विषयको ही प्रस्तुत किया जाता है। एक समय भूतों प्रेतों की कहानियों को मिथ्याविश्वास फैलाने में सहायक समझकर ऐसी किताबों को छापना बन्द कर दिया गया था, लेकिन पीछे पता लगा, कि मिथ्याविश्वास से आंख मीचने से काम नहीं चल सकता, उसके तो सामने जाकर मुकाबिला करने की आवश्यकता है, और वह मुकाबिला बुद्धि और परिज्ञान द्वारा ही हो सकता है। अब जहाँ पंचतंत्र की तरह की पशु-पक्षियों की कहानियों से बच्चों का मनोरंजन और ज्ञान-वर्धन कराया जाता है, वहाँ भूतों प्रेतों की कहानियों को कहने में भी परहेज नहीं किया जाता। बच्चों के मनोरंजन और ज्ञान-वर्धन का एक और साधन है, सोवियत के पुतली नाटक (कुक्ल्यो तियात्र)।

२४ फर्वरी को ईगर के साथ हम पुतली नाटक देखने गये। तमाशा था अलादीन और चिराग। नाट्यशाला दर्शकों से भरी हुई थी, जिनमें ८० सैकड़ा बच्चे थे, और २० सैकड़ा उनके साथ गये अभिभावक। हम लितनी के पीछे की नाट्यशाला में गये थे—नेव्स्की पथ पर भी एक पुतली नाट्यशाला थी। अभिनय ६ बजे से ८ बजे के करीब तक हुआ। लड़के तो देखते देखते लोट-पोट हो रहे थे। अलादीन के चिराग में कोई ऐसी बात नहीं रखी गई थी, जिसे कि ८-९ बरस तक की उमर वाले लड़के न समझ सकें। चाहे सिनेमा हो, चाहे नाटक, चाहे वयस्कों के मनोरंजन की वस्तु हो या शिशुओं की, हर जगह सोवियत के निर्माता और कलाकार अपनी सफलता अपनी नहीं, बल्कि अपने दर्शकों की मानसिक प्रतिक्रिया से नापते हैं। हरेक ऐसी प्रस्तुत की जानेवाली वस्तु को पहिले प्रेक्षकों के सामने परीक्षार्थ पेश किया जाता है, और उनमें

मनोभाव को देखकर काफी सुधार करने के बाद उसे जनता के सामने लाया जाता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि "अलादीन के चिराग" से बच्चों का बड़ा मनोरञ्जन हुआ, और वयस्कों का भी अच्छा मनोविनोद।

२६ फर्वरी को हमारे चौथे वर्ष की छात्रा बेर्या बड़ी प्रसन्न थी। बोली आज चीनी का दाम बिना कार्ड के १२० रूबल (८० रुपया) प्रति किलोग्राम (सवा सेर) हो गया। वह स्वय और उसकी सखिया यह खबर सुनते ही बिना राशन की दुकानों पर टूट पडीं। कहती थीं—बहुत आदमी होगये थे, इसलिये आधा किलोग्राम (ढाई पाव) चीनी ही मिल सकी। चौंसठ रुपया सेर, या चार रुपया छटांक चीनी हमारे लोगों के लिए तो बडे आश्चर्य की बात होगी, और यहां किसी को टूट पडने की आवश्यकता नहीं पडेगी। लेकिन वहा उस दिन सचमुच ही बडा आनन्द मनाया जा रहा था। इसका यह मतलब नहीं कि उनको चीनी मिलती ही नहीं थी। राशन मे चीनी सबको पर्याप्त मिलती थी, जिससे रोज की चाय के अतिरिक्त हफ्ते मे एकाध दिन मीठी पुडिंग भी बनाई जा सकती थी, लेकिन हमारे यहा की तरह रूसी भी मिठाई की चीजों के बडे शौकीन हैं, अबतक खुलकर चीनी इस्तेमाल नहीं कर सकते थे, और अब उन्हें मौका मिला था। राशन से मिलनेवाली चीनी बहुत सस्ती थी। और इससे पहिले बिना राशन की चीनी १६० रूबल किलो थी। प्रतिकिलो मूल्य मे ४० रूबल की कमी जरूर ही खुशी की बात थी। पूजीवादी अर्थशास्त्र के जाननेवाले या कम से कम वहा के साधारण शिक्षित बिना राशन की दूकानों को चोरबाजारी की दुकान कहने की गलती कर सकते हैं, लेकिन बिना राशन की दुकानो में जो अतिरिक्त चीजें १० गुने २० गुने दामपर बेची जाती थीं, उनका पैसा किसी चोरबाजारी सेठ के हाथ में नहीं जाता, बल्कि वह सरकारी खजाने मे जाकर नवनिर्माण की योजना मे लगता है। और जैसे ही जैसे टूटे हुए कारखानों का पुनर्वास और नये कारखानो का नवनिर्माण होता जाता था, वैसे ही उत्पादन बढता, और उसके ही अनुसार दाम गिराया जाता था। उसका ही फल था १६० रूबल मे चीनी के भाव का १२० रूबल पर पहुचना। इसमें उसकी विशेषता

इसलिये नहीं मालूम हो सकती थी, कि प्रोफेसर होने के कारण हमें विशेष राशनकार्ड मिला था, जिससे चीनी, मक्खन, मास, दूध, अंडा, बिस्कुट आदि चीजें राशन के दाम पर इतनी अधिक मिल जातीं थीं, कि राशन की दुकानों को देखने की आवश्यकता नहीं थी, और न खर्च मे सकोच करने की ही।

सोवियत के फिल्म देखने से मुझे उतना वैराग्य नहीं होता था, जितना भारत के फिल्मों को। यहां तो बरस में कभी एक बार गला दबानेपर यदि जाता भी हू, तो ऊबकर बीच में ही चले आने की इच्छा हो जाती है। सोवियत के फिल्म केवल यौन-आकर्षण को लेकर नहीं बनते, इसका यह मतलब नहीं कि उनमें स्त्री-पुरुषों के प्रेम सबध को छिपाने की कोशिश की जाती है। तो भी वह उतना ही रहता, जितना की दाल में नमक। सोवियत फिल्मों में भी मैं ज्यादा देखता था एसियायी फिल्मों को—उजबेकिस्तान, कजाकस्तान, आज़ुर्बाइजान, मगोल आदि देशों के फिल्मों को। नये एसियायी कलाकार तरुण अब अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त रूसी भाषा भी अच्छी तरह बोल सकते हैं, इसलिये अच्छे एसियायी फिल्मों को रूसी भाषा के साथ भी बनाया जाता है। अब मुझे भाषा कि उतनी दिक्कत भी नहीं रह गई थी।

२ मार्च को मैं उजबेक-फिल्म "ताहिर और जोहरा" देखने गया। यह आज़ुर्बाइजानी फिल्म था। ताहिर और जोहरा उस समय हुये थे, जब कि अभी बारूद का आविर्भाव नहीं हुआ था और तीर और धनुष चलते थे एक खान (राजा) अपने सेनापति से बहुत प्रसन्न है। जोहरा खानकी पुत्री और ताहिर सेनापति का पुत्र है। खान ने ताहिर को पुत्रवत् मान रखा है। बचपन में ही ताहिर और जोहरा साथ खेलते हैं। आगे किसी समय निरकुश खान सेनापति के ऊपर क्रुद्ध हो जाता है, और वह खान के इशारे पर जगल में शिकार के समय में तीरका शिकार हो जाता है। ताहिर को अपने पिता की निर्मम हत्या का पता लग गया है—खान की निष्ठुरता और अन्याय से बाप ही नहीं मरा बल्कि जनता भी त्राहिमां कर रही है। ताहिर के लिये अपने बाप के खून का बदला

लेना अवश्यकरणीय था, और उधर जोहरा का प्रेम भी वह छोड नही सकता था। खान को यह बात मालूम हो गई। वह ताहिर के मारने की फिक्र में पड़ा। एक समय ताहिर उसके पंजे में आगया। खान ने उसे सदूक में बन्द करके नदी में फिकवा दिया। आगे किसी खानजादी ने सदूक को निकलवा लिया। वह इस सुन्दर तरुण पर मुग्ध हो गई। ताहिर की जान बचाकर उसने बडा उपकार किया था, लेकिन ताहिर अपनी प्रेयसी जोहरा को छोडने के लिये तैयार नहीं था। उसने असमर्थता प्रकट की। खानजादी कुपित हो गई। ऊट के पीछे बाधकर उसे भगा दिया। किसी दोस्त ने रास्ते में बेहोश पड़े ताहिर को उठाया। ताहिर फिर जोहरा के पास पहुचा। फिर उसका अपने पिता के हत्यारे के साथ सामना हुआ। ताहिर ने उसे मारकर पिता के खून का बदला लेने गया, किन्तु पकड़ा गया। खान के हुक्म से उसे बन्ध उस स्थानपर ले गये। छुडाने के लिये मित्र आये, किन्तु चारुदत्त की तरह समय पर नहीं, तबतक ताहिर का क्लेजा भाले से छिद चुका था। उधर बापने जोहरा का भी गला घोंट दिया। दोनों एक अरथीपर कबरिस्तान गये। कथानक और अभिनय की दृष्टि से फिल्म बड़ा सुन्दर था, लेकिन सोबियत-फिल्मों में जो विशाल प्राकृतिक दृश्य देखने को मिलते हैं, वह इसमें नहीं थे—न वह अनन्त बयाबान और पवर्तमाला, न नदी की विस्तृत उपत्यका, न नगर के ही हर अग का प्रदर्शन।

ऐसियायी फिल्म अगर रोज-रोज भी नये नये मिलते, तो मैं देखने के लिये तैयार था। अगले ही दिन (३ मार्च) को "अबाय के गीत" (पीस्ने अबायेफ) कज़ाक-फिल्म दिखाया जा रहा था। मैं उसे देखने के लिये चल पडा। कजाकस्तान मध्यएसिया का सबसे बडा और सबसे धनी प्रजातत्र है। लेकिन यहा के लोगों में काफी सख्या १९१७ ई० तक घुमन्तू या अर्ध-घुमन्तू पशु-पालकों की थी। इसकी अपार खनिज सम्पत्ति पृथ्वी के गर्भ मे अछूती पडी हुई थी और कज़ाक नर-नारी लिखने-पढने से बिलकुल अपरिचित थे। बहुत थोड़े से मुल्ला और सरदार—उनमें भी पुरुष ही पढनालिखना जानते थे, सो भी अरबी-फारसी भाषा मे। अबायेफ कोई कल्पित नाम नहीं है। वह कज़ाक भाषा

का महान् साहित्यकार और साहित्य-पिता माना जाता है। वह पिछ शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुआ था। अबायेफ़ के त्रियाप्रेस न परम्परा से चली आ मुल्लों और सरदारों के शिक्षा-क्षेत्र तक ही उसे सीमित नहीं रखा, ब कजाकस्तान के भिन्न-भिन्न स्थानो मे बस गये रूसियो के सपर्क में आकर उस रूसी भाषा और साहित्य का अध्ययन किया। इस प्रकार कज़ाक-साहित्य आरम्भ करते ही उसने अपनी प्रौढ लेखनी से विनिसृत परिपक्व ग्रन्थों अपनी जाति के सामने रखा। जीवन मे उसको उतना मान नहीं मिला थ क्योंकि न उसने फारसी-अरबी और नहीं साहित्यिक तुर्की में अपनी पुस्तकें लिखीं थी उसकी लेखनी अपनी मातृभाषा में चली थी, जो कि उस समय एक बोल समझी जाने से हीन दृष्टि से देखी जाती थी। यही कारण था जो अबायेफ़ के अप जीवन में वह सम्मान न प्राप्त करने का, जो कि आज सोवियत काल में प्रा हो रहा है। आज वह कजाकस्तान का बाल्मीकि और अश्वघोष, कालिदास औ बाण है। "पास्ने अबायेफ़" इसी अमर साहित्यकार के जीवन सगीत को लेक बनाया गया था। प्राकृतिक दृश्य बडे सुन्दर थे, जिनको देखकर घर बैं कज़ाकस्थली की सैर हो सकती थी। कज़ाक घुमन्तू अपने तम्बुओ (किबितो में रहते घोडों के अतिरिक्त भेडें भी बहुत पालते थे, उनका किबितों का गाव उजड़ता-बसता रहता था और घोड़े नई चरागाहों में घूमते रहते थे। चरागाहे का बडा सुन्दर दृश्य दिखलाया गया था। कजाकस्तान के पहाड, नदियों की उपत्यकायें भी मनोहारिणी थीं। किसी विशाल जलाशय के नजदीक कज़ाकों का डेरा पडने लगा। लकडी के गोल ढाचे खडे किये गये, फिर नमदों और कपडों को तानकर तम्बू बना दिया गया। बाहरी खोल को जहां-तहा से हटाया जा सकता था। एक दृश्य कजाक न्यायालय का था—न्यायालय क्या घुमन्तू कज़ाकों के पास ता आलय ही नहीं होता। एक सिरे पर कुछ ऊचे से आसन पर कबीले का महापितर बैठा था, जिसके हाथ में न्याय का प्रतीक दण्ड था। उसके दाहिने बायें कुछ और सरदार बैठे हुए थे। साधारण जनता इन अभिजात लोगों से कुछ दूर बैठी थी। पास में कितने ही घुड़सवार भी पाती मे खडे थे। कवि

अबायेफ और उसके एक मित्र का पुत्र वहा लाया गया । मित्र का पुत्र भी कवि था। वह किसी कजाक तरुणी पर मुग्ध था। बिना बडों की आज्ञा के उसको प्रेम करने का अधिकार नहीं था, इसलिये वह अदालत में लाया गया था। कवि अबायेफ ने उसके पक्ष में भाषण दिया, जिसके कारण विचारकों को राय पलटनी पडी। दोनों प्रेमियों का विवाह हो गया। कजाक विवाह का वहा बडा सुन्दर दृश्य दिखाया गया था। घुमन्तू लोगों में उनके सरदार बडी मौज से रहते थे। लडकी के लिये बहुमूल्य वस्त्र-आभूषण प्रदान किये गये। जहा तक कजाक अमीरो का सबध था, वह सामन्तशाही अवस्था में थे। इस समय कजाक सगीत और नृत्य का भी आनन्द लेने का मौका मिला। गीतों मे बहुत से वही थे, जिनको अबायेफ ने बनाया था। लडकी का पिता इस विवाह को पसन्द नहीं करता था, लेकिन पचों के फैसले के विरुद्ध कैसे जा सकता था ? उसने अपना क्रोध अबायेफ के ऊपर उतारना चाहा, और उसके पान-चषक मे जहर मिला दिया। लेकिन गल्ती से विष के प्याले को उसने अपने ही पुत्र को दे दिया। पुत्र अपनी प्रेयसी की गोद में मर गया। प्रेयसी एक एक गहने को उतारकर फेंकने लगी। अबायेफ के शत्रु हैदर ने धर्म के नामपर अबायेफ के ऊपर मुकद्दमा चलाया। उसमें असफल होने पर दल बाधकर वह अबायेफ के ऊपर आक्रमण करने गया। इन हथियारबन्द खूंखार लोगों के भीतर अबायेफ निर्भय होकर चला गया। हैदर के साथ आये लोग उसकी बात मानने से आना कानी करने लगे, इसपर हैदर ने एक कटीली गदा अबायेफ के ऊपर चला दी। अबायेफ प्रहार से घायल हो गया। यह देखकर लोगों ने हैदर के दल को मार भगाया। फिल्म बडा ही सुन्दर और मेरे लिये बड़ा ही ज्ञानवर्द्धक था।

६ मार्च को युनिवर्सिटी जाते समय सडक पर पानी-पानी दिखाई पड रहा था—तापमान गिर गया था। मैं तो समझने लगा कि वसन्त आ गया, लेकिन रूस मे वसन्त अभी दो महीने बाद आने वाला था, मई मे जाकर नगे वृक्ष कलियों के रूप में अपनी पत्तियों को दिखलाने लगते हैं। ऋतुओं में परि-वर्तन अवश्य होता है, लेकिन हमारे यहा की प्राचीन परिपाटी की न ऋ ऋतुयें

वहा हैं, और न जाड़ा, गर्मी, वरसात जैसी तीन ऋतुओं का ही स्पष्ट अन्तर। मई के आरम्भ से लेनिनग्राद मे वसन्त का आरम्भ जरूर हो जाता है, लेकिन जो बात लेनिनग्राद में आज होती है, वह उससे दक्षिण मास्को में हफ्ता पहिले होती है। और दक्षिण जाने पर वह और भी पहिले होती है। वसन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा की ऋतुयें एक साथ मिली जुली सी हैं। नये फूलों और नये पत्तों के कारण मई-जून को हम वसन्त मान सकते हैं, लेकिन जुलाई से अगस्त के अन्त तक को यह कहना मुश्किल है, कि यह गर्मी है या वर्षा। दोनों का यह मिश्रित समय है। कभी कभी दो चार दिन जब वर्षा नहीं होती, आकाश निरभ्र दिखाई पड़ता है, तो उसे ग्रीष्म कह सकते हैं, लेकिन ग्रीष्म नाम से जो लू और गरमी हमारे यहा होती है, उसका वहा नाम नहीं। सितम्बर के आरम्भ से जब तक कि पानी अभी बरफ नहीं बूंदों के रूप में बरसता है, लेकिन कुछ सर्दी अधिक होने के कारण हरियाली पर असर होता जाता है, इसे वह शरद कहते हैं, उसके बाद चार पांच महीने का जाड़ा। इसप्रकार वसन्त, ग्रीष्म-वर्षा, शरद, और हेमन्त में वहां के साल को बांट सकते हैं, अथवा वसन्त, ग्रीष्म और हेमन्त इन तीन ही ऋतुओं में विभाजन कर सकते हैं। वसन्त सबमे छोटी ऋतु है, वर्षा उससे बड़ी और हेमन्त सबसे बड़ी। लेकिन अभी मार्च में वसन्त के आने की कोई समावना नहीं थी। तापमान की आख-मिचौनी में हम कईबार सड़क पर पानी फैलते देख चुके थे।

८ मार्च को सोवियत-काल के बनाये हुए, नये पर्वों में एक अन्तर्राष्ट्रीय महिला-दिवस मनाया जा रहा था। सोवियत की हों, या दुनिया के किसी देश की, आज की हों या प्राचीन काल की, महिलायें सदा उत्सव-प्रिया होती हैं। हमारे प्राच्य-विभाग में भी दिवस मनाया गया। प्राच्य-विभाग के दोकानात (डीनशाला) में भोज की तैयारी थी। भाषण, भोज, गीत और नृत्य उत्सव के यह चार अंग थे। विभाग के सारे ही अध्यापक नहीं आये थे। वहां २५ के करीब व्यक्ति मौजूद थे, जिनमे दोतिहाई स्त्रिया थीं। मगोल भाषा के विशेषज्ञ वृद्ध अकदमिक कोजिन (दोकानविभागाध्यक्ष) ने भाषण किया, फिर चीन

भाषा के विशेषज्ञ अकदमिक अलेक्सियेफ और मिश्रतत्ववेत्ता अकदमिक स्त्रूवे ने भी पर्व के महत्व पर भाषण दिया। दो तीन महिलायें भी बोलीं, फिर पान से भोज का आरम्भ हुआ। बिस्मिल्ला ही गलत–मैं ही अकेला पान-विरत था। लोगों को समझाने के लिये व्याख्या करने की जगह अच्छा तो यही था, कि प्याले को मुह में लगाकर जीभकी नोक को तर कर लेता, लेकिन मैं तो अपने जीवन के रिकार्ड को कायम करने की धुन में था। पीने का बहुत आग्रह हुवा, किन्तु मै कच्चा गुइया नहीं था। लोगों को कुछ अचरज-सा जरूर मालूम हुआ होगा, लेकिन किसी ने मेरे नियम के तोडने तक आग्रह नहीं किया। रोटी, मक्खन, पनीर, कलबासा (सौसेज), मछली का अडा, बिस्कुट, केक, मिठाइया, चाय, और नारगी के फल यह सब मेरे खाद्य थे, और वहा वह प्रचुर नहीं तो काफी परिमाण मे जरूर थे। भोज के लिये लोगो ने पैसे दिये थे, शायद राशन से अधिकतर चीजें ली गई थीं। भोजनोपरान्त गाना शुरू हुआ। दो प्राध्यापक महिलाओं ने सुन्दर गीत सुनाये। लोगों ने तालिया बजाई। फिर नृत्य आरम्भ हुआ। जहा बूढे बूढे तक नाच के अखाडे में उतरने से नहीं हिचकिचाते, वहा जवान सा दिखाई देनेवाला उस कला से अनभिज्ञ मैं कडे आग्रह के बाद चुपचाप बैठा टुक टुक देखता रहा। नृत्य के लियें मन तो ललचाता था, लेकिन अब तो चिडिया खेत चुग गई थीं। और तो और मैंने सोवियत सीमा के भीतर पैर रखते ही सिगरेट को भी छोड दिया था। वहा पुरुषों में तो कोई भी सिगरेट त्यागी नहीं था, और कुछ स्त्रिया भी उसका आनन्द ले रही थीं। महोत्सव से लौटकर डेढ बजे रात को हम घर पहुँचे।

१० मार्च को कमाल ऐनी शाम के वक्त हमारे घर आये। वह प्रसिद्ध ताजिक उपन्यासकार सदरूद्दीन ऐनी के सुपुत्र तथा द्वितीय वर्ष के छात्र थे। समरकन्द में पैदा होने के कारण मातृभाषा ताजिक (फारसी) होने के साथ उजबेक भाषा को भी मातृभाषा वत् ही बोल सकते थे। उनके लिये अपने नगर मे भी विश्वविद्यालय था, स्तालिनाबाद में ताजिकिस्तान का विश्वविद्यालय था जिसका माध्यम ताजिक भाषा थी। लेकिन वह समरकन्द मे दूर लेनिनग्राद के

विश्वविद्यालय में पढने आये थे। शायद उनका लक्ष्य ताजिक भाषातत्त्व के अध्ययन की ओर था, तब तो सस्कृत पढने की अवश्यकता थी। शायद वह चौथे पाचवें वर्ष में उसे पढें। कमाल से उनके पिता, परिवार और देश के बारे में बहुत देर तक बातें होती रहीं। कमाल का समरकन्द से लेनिनग्राद आना कोई अनहोनीं बात नहीं थी। सोवियत के सभी कालेजों और विश्वविद्यालयों में ९० प्रतिशत लडके सरकारी छात्रवृत्ति पाते हैं, जो इतनी काफी होती है, कि बिना माता-पिता की मदद के पढ सकते हैं। छात्रवृत्ति सखालीन से पोलेण्ड की सीमा तक अफगानिस्तान मे ध्रुवकक्षा तक फैले विस्तृत भूभाग के किसी भी विश्वविद्यालय या कालेज मे जानेपर सुलभ थी, इसलिये कश्मीर के सीमान्त के छात्र के लिये भी मास्को या लेनिनग्राद में पढना कोई बोझ का सवाल नहीं था। हा, अन्तर इतना अवश्य था, कि जब आने जाने में रेल पर दो हफ्ता लगता हो, तो केवल ग्रीष्म के बडे अवकाश में ही घर का मुँह देखा जा सकता था।

१२ मार्च को मैं युनिवर्सिटी गया, तो द्वितीय वर्ष के एक दर्जन छात्रों में केवल दो मौजूद थे। मैंने उस दिन झु झला कर अपनी डायरी में लिखा—"ऐसी बेपरवाही से पढना क्या अच्छा है? सचमुच ही यह मजाक है। सभी अध्यापकों को यह शिकायत है। माध्यमिक स्कूल समाप्त करने के बाद काम में जाने की आवश्यकता पडती, इसलिये कितनी ही छात्रायें, अपने पाच वर्ष युनिवर्सिटी में आकर बिता देना चाहती है।" उस दिन तीन बजे प्राच्य-विभाग के मजदूर सघ की बैठक हुई। लेक्चरर (दोत्सेन्त), प्रोफेसर, और अकदमिक जिस सभा के सदस्य हों, उसे मजदूर सभा कहना उपहास्पद मालूम होगा? किन्तु मजदूर शब्द का मूल्य उस देश में बहुत बढ गया है, और वह अपमान नहीं सम्मान का परिचायक है। अध्यापकों ने पढाने की कठिनाइयो पर भाषण दिये, फिर कुछ प्रश्नोत्तर हुए, पदाधिकारियों का चुनाव हुआ और सभा विसर्जित हो गई।

वर्ष के अन्त से ही मैं अब मध्यएसिया जाने की फिकर मे पडा था। मेरे मास्को के मित्र इसके लिये कोशिश कर रहे थे। कभी उनकी चिट्ठी

आशाजनक आती और कभी निराशाजनक। एक विदेशी को सोवियत के इस दूर भाग में जाने की इजाजत देना वैदेशिक मन्त्रालय के हाथ में था। तुर्कमानिया के प्रोफेसर के कहने के अनुसार मैं चाहता था, कि गर्मियों से पहिले ही अपनी यात्रा खतम करने के लिये मार्च में ही चला जाऊ, लेकिन १३ मार्च तक पता लगा, कि अप्रेल में भी शायद हो यात्रा हो सके।

१७ मार्च को अखबारों में पढा, कि अब से सोवियत के मन्त्रियों का बोल्शेविक क्रान्ति के समय से चला आतापद-नाम "जन-कमीसर" न रह, मन्त्री (मिनिस्तर) होगा। मन्त्री शब्द सारे दुनिया में चलता है, और जन-कमीसर कहने से बाहर वालों को समझने मे दिक्कत होती है, इसलिये सोवियत ने यह नयी व्यवस्था की।

जल्दी कराने के लिये मैंने मास्को जाने का निश्चय कर लिया, और २५ मार्च को नरम दर्जे के लिये २५० रूबल इन्तूरिस्त को दे आया। पास ही में सोचा इसाइकीसबोर है, इसलिये उसपर चढ गया। सोवियत का यह सबसे बडा गिरजा म्यूजियम के रूप में परिणत कर दिया गया है। पिछली यात्रा मे इसके भीतर घुसकर देख चुका था। अभी वह दर्शकों के लिये खुला नहीं था, इसलिये ऊची छतपर चढकर नगर-परिदर्शन करके हो सतोष किया। छत पर पहुच कर आस पास की चारतले की इमारतें भी बहुत नीची मालूम होती थीं। छतों और सडकों पर सफेद बरफ की चादर पडी हुई थी, नेवा भी सफेद चादर से लिपटी टेढी मेढी सोई थी। हमारे विभाग की सहाध्यापिका दीना मार्कोव्ना इस्पेरात (एम० ए०) थीं, और चाहती थी कि प्रेमचद के "सप्तसरोज" पर कन्दीदात (डाक्तर-उमेदवार) के लिये निबध लिख डालें। लेकिन अपेक्षित पुस्तकें नही थीं! वस्तुत पिछले २० वर्षों मे शायद ही कोई हिन्दी पुस्तक लेनिनग्राद पहुची हो। उन्होंने "सप्त-सरोज" का रूसी में अनुवाद कर डाला था। मुहावरेदार भाषा को केवल कोश की मदद से नहीं समझा जा सकता, इसके उदाहरण उनके अनुवादों में कई जगह मिले। तारीफ यह थी कि उसे वह डाक्टर बरान्निकोफ को भी दिखा चुकी थीं।

१०—मास्को में सवा महीना

२६ मार्च को युनिवर्सिटी से छुट्टी का कागज मिल गया। खर्च के लिये कुछ अग्रिम पैसा लेना चाहते थे, लेकिन कार्यालय में भीड़ थी, इसलिये बिना लिये ही चल पड़े। इतूरिस्तने लालतारा ट्रेन में सीट रिजर्व कराली थी। हा, नरम सीट नहीं मिली थी। १७५ रूबल में बिना गद्देवाली कड़ी सीट थी, जिस पर चादर और गद्दा ऊपर से उसी पैसे में मिल जाता था, इसलिये उसमें भी आराम गद्दीदार सीट जैसा ही था। सवा पाच बजे घर से निकले। किसी भी काम को समय पर करना लोला ने नहीं सीखा था, हमें तो डर लग रहा था, कि कहीं ट्रेन न छूट जाय। घर के पास ट्राम पकड़ी। तीन टिकान तक जाते जाते वह थौस कर बैठ गयी। भाग्य से पास से एक मोटर ट्रक निकली, जिसके ड्राइवर ने मेहरबानी करके स्टेशन पर पहुँचा दिया। ट्रेन सात बजे छूटनेवाली थी, हम आध घन्टा पहिले ही पहुँचे थे, यह जानकर आराम की सास ली। हमारे कम्पार्टमेंट मे इतूरिस्त के एक कर्मचारी भी जा रहे थे, जो अग्रेजी जानते थे, लेकिन अब भाषा की वैसी दिक्कत नहीं थी। उनके पास कुछ अमेरिकन समाचार-पत्र थे। मैंने तो सारा समय उन पत्रों को तचाने मे लगाया। यह कड़ा दर्जा भी नरम द्वितीय दर्जे ही जैसा था। गद्दी न

होने पर भी उतने ही लम्प और दूसरी चीजें थीं। पूरी की पूरी सीट मिलने से सोवियत में दीर्घयात्रियों को भीड़ का डर नहीं रहता।

२७ मार्च को सबेरे जब हमने गाडी के बाहर की ओर देखा, तो सफेद बरफ से ढँकी ऊँची-नीची भूमि मे जहाँ-तहाँ सदा-हरित देवदार दिखाई पड रहे थे। रेल के हरेक डब्बे में एक कंडक्टर होता है, जिसका काम बिस्तरा ठीक करना और डब्बे की सफाई करना ही भर नहीं है, बल्कि वह गरम चाय भी दे देता है। चाय से हम निवृत्त हो चुके। ट्रेन ठीक ११ बजे मास्को पहुँची। इंतूरिस्त को भी खबर दे दी गई थी और वोक्स तो हमारी यात्रा का प्रबन्ध करने ही वाली थी। दोनों के आदमी लिवाने के लिये स्टेशन पर आये थे, लेकिन विशाल स्टेशन मे नही मिल सके। मेरे पास सामान बिलकुल मामूली था, जिसके लिये भारवाहक की अवश्यकता नहीं थी, और भाषा की कठिनाई दूर हो चुकी थी, ऊपर से पहिले भी एक पखवारा मास्को रह गया था। मैंने मेत्रो (भूगर्भी रेल) पकडी और मास्को होटल के पास ही उतर कर पास के एक पुराने और अच्छे नेशनल होटल में पहुँच गया। नेशनल होटल जारशाही युग मे भी बहुत प्रसिद्ध होटल था। क्रेमलिन उससे बिल्कुल नजदीक है। कमरा ठीक रखने के लिये इंतूरिस्त वालों को नहीं लिखा था, इसलिये ३ घंटे ऑफिस में बैठे रहना पड़ा फिर २४० नं० का कमरा मिला। वोक्स के आदमी भी आये, उन्होंने कहा कि यात्रा का सारा प्रबन्ध हम कर देंगे, केवल विदेश-मंत्री की आज्ञा भर की अवश्यकता है। अगले दिन आवेदन पत्र देने का निश्चय हुआ। उस दिन तो ऐसी आशा बँधी, कि मालूम हुआ १५ अप्रेल तक हम अशगाबाद पहुँच जायेंगे।

इंतूरिस्त के दफतर से अंग्रेजों के अखबार मिले। पता लगा, लार्ड पेथिक लारेंस, स्टाफोर्ड क्रिप्स, और अलेक्जेंडर तीन ब्रिटिश मंत्री समझौता करने के लिये भारत गये हैं। बात चल रही है, समझौता हो जाने की आशा है। लेनिनग्राद मे अधिकतर रूसी पत्रों और रेडियो पर ही विदेशी समाचारों के लिये निर्भर रहना पडता था, जिसमें भारत की खबरें तो शायद ही कभी

निकलती थीं। समझौते की बात को वहाँ वाले महत्व नहीं देते थे। उनके राजनीतिज्ञों का भी विश्वास था भारत की स्थिति मे परिवर्तन नहीं होने पायेगा, मजदूर पार्टी उतनी ही साम्राज्यवादी है, जितनी की टोरी पार्टी। उनकी तरह मैं भी मानता था, कि अग्रेज प्रसन्नता-पूर्वक दान के तौर पर भारत को स्वतत्रता नहीं अर्पित करेंगे, लेकिन अंगुली पकडा देने पर वह पहुँचे को बचा नही सकेंगे। भारत मे स्वतंत्रता के लिये पागल जो शक्तिया पैदा हो गई हैं, वह अग्रेजों के मन्सूबे को सफल नहीं होने देंगी।

पहली बात चीत से इतना तो मालूम हो गया था, कि तीन हफ़्ते मास्को मे रहना ही पडेगा। इसमें शक नहीं, कि यहा काम की वही पुस्तकें मिल सकती थीं, जिन्हें कि मैं अपने बल-बूते पर ढूंढकर जहाँ-तहाँ से खरीद सकता था, लेकिन समाचार पत्र हर तरह के मिल सकते थे। ब्रिटिश-दूतावास से मैं विशेष सम्बन्ध नहीं रखना चाहता था। ब्रिटिश प्रजाजन होने के कारण उनका पत्र भी मेरे पास पहुँचता था, और मेरा नाम वहा दर्ज हुआ था। वहाँ से भी कुछ ताजा अखबार मिल सकते थे, किन्तु केवल एक बार दूतावास के एक कर्मचारी ने कुछ पाठ्य सामग्री दी थी, वह कर्मचारी इसी होटल में रहता था।

२८ मार्च को बैठे-ठाले रहने से मैंने सोचा, चलो मास्को की सैर भी हो जायगी, और माया से भेंट भी। माया बहुत दूर शहर के एक छोर पर रहती थी। उसके कॉलेज को ढूढने के लिये घटों की आवश्यकता थी। सवेरे दत्त भाई का पता लगाने गये, किन्तु उनका स्थान नहीं मिल सका। ट्रामों और पैदल की यात्रा करते काफी समय बाद आखिर उस छात्रावास में पहुँचे, जिसमें माया रहती थी। वह पढने गयी थी, इसलिये अपना कार्ड और पता रख आये। लेनिनग्राद से मास्को कम सर्द है, यह आज के सैर-सपट्टे से मालूम हुआ। लेनिनग्राद की नेवा जहा सफेद चादर ओढे हुए अभी उठने का नाम नहीं लेती थी, वहा मास्का नदी मुक्त-प्रवाह बह रही थी। नगर मे जहाँ-तहाँ अब भी बरफ थी, किन्तु ऐसी जगहों पर जहा दिन मे छाया अधिक समय तक रहती थी।

उस दिन की बात-चीत से तो मालूम होने लगा, कि शायद पहली या

दूसरी अप्रेल को ही अशकाबाद पहुँच जायें। हमारे पास वहा के लिये कपडों की कमी थी। वोक्स ने कहा कि हम यहीं तैयार करा देंगे।

२८ मार्च को कुछ बरफ पडी, लेकिन पडते ही गल गई। आधे अप्रेल तक सभी बरफ के गल जाने की सभावना थी।

अब की दत्त भाई के यहा कई बार जाता रहा। वह इस चक्र नगरोपान्त मे नहीं थे, बल्कि नगर में ही हमारी जगह से चार-पाच फर्लांग पर रहते थे।

३० ही मार्च को "लालसेना सामूहिक नाट्य मन्दिर" मे गये। मास्को की यह सबसे बडी रङ्गशाला है। बड़ी भीड थी। लोग एक टिकट के लिये ३० रूबल (२० रुपया) देने के लिये खुशी से तैयार थे। आज प्रोग्राम था जन-सगीत का लेकिन वह पड़ गया था उस्तादों के हाथ मे, और वह उसे मलिया-मेट कर रहे थे। हाँ, रूसी और कसाक नृत्य बडे सुन्दर थे।

अगले दिन (३१ मार्च) लेनिन की समाधि देखने गये। सामने से तो न जाने कितनी बार गुजरे होंगे, लेकिन वक्त निश्चित सो भी सक्षिप्त तथा दर्शनार्थियों की भीड़ देखकर क्यू मे खड़े होने की हिम्मत नहीं होती थी। आज निश्चय कर लिया था, कि दर्शन करके ही हटेंगे।

क्यु की दुहरी पंक्ति थी। मुझे काफी दूर खडा होना पडा, लेकिन द्वार खुला, तो लोग जल्दी जल्दी आगे बढने लगे, और दस ही मिनट बाद मैं भी समाधि के भीतर चला गया। समाधि लाल पत्थर की है, और पालिस के कारण चमकती है। वह लाल मैदान के एक ओर है। उसकी चौरस छत उत्सव के समय नेताओं के खडे होने के मंच का काम देती है। वह बाहर से देखने पर बहुत छोटी मालूम देती है, लेकिन उतनी छोटी नहीं है। साथ ही जितनी जमीन के ऊपर है, उससे कम नीचे नहीं है। लेनिन का शरीर एक शीशे के खोल के भीतर रखा हुआ है। शीशा इतना साफ है, कि दृष्टि को जरा भी बाधा नहीं होती। मास सूख जाने से शरीर छोटा हो गया है—वैसे लेनिन शरीर में नाटे थे भी। चेहरे का रङ्ग यथापूर्व कायम रखा गया है, आखे दब गई हैं, दाढी वैसी ही छोटी सी दिखलाई पडती है। सामने आते ही लोग टोपी उतार देते हैं। लेनिन

अद्वितीय महापुरुष थे, इसमें क्या किसी को शक है। यदि दुनिया के परिवर्तन से महान् पुरुषों की शक्ति को नापा जाता है, तो लेनिन जैसा जग-परिवर्तन दुनिया में आज तक किसने किया ? यह ठीक है कि लेनिन अपने को मार्क्स-का शिष्य भर ही मानते थे, और यह भी निश्चित है कि रास्ता दिखलानेवाला, सिद्धात खोज निकालने वाला कार्ल मार्क्स ही था। लेकिन क्रान्ति के सिद्धान्तों को व्यवहार में लाना और भी कठिन है, जिसे व्यवहार मे लाकर लेनिन ने साम्यवाद को धरातल के ऊपर साकार खडा किया। लेनिन ने साम्यवाद को अपनी आंखों फूलते फलते नहीं देखा, लेकिन वह उनके समय में ही दृढ मूल-बद्ध हो चुका था। दुनिया की सारी बडी बड़ी शक्तियां लग कर उखाडने की कोशिश ४ वष तक करती ही रह गईं, लेकिन वह उच्छिन्न होने की जगह और मजबूत होता गया। लेनिन के बारे में कहा जाता है, क्रान्ति के दुरूह समस्या-प्रवाहों में वह उसी तरह आसानी से तैरता था, जैसे जल में मछली। मानवता के उत्कर्ष में जिस महापुरुष का इतना बडा हाथ है, उसके सामने खड़े होते समय मेरे दिल में कितने ही अद्भुत भाव क्यों न पैदा हों। वह मृत शरीर अब बोल नहीं सकता, अपने सिंहनाद से शत्रुओं के दिल को दहला नहीं सकता था, किन्तु उसने जो काम किया, और उसकी लेखनी ने मानवता के लिये जो पथ प्रदर्शन दिया है, वह इतना मूल्यवान् है, कि एक कट्टर भौतिकवादी भी उसके सामने जाकर श्रद्धा से अत्यंत द्रवित हो जाता है। एक रास्ते से घुसकर दूसरे द्वार से मैं भी लोगों के साथ निकल आया। सामने लाल मैदान सूना पडा था।

२ अप्रेल आया। मैंने आज मास्को युनिवर्सिटी के नृतत्त्वीय संग्रहालय को देखना चाहा। इसके भाई को लेनिनग्राद मे देख चुका था। लड़ाई के कारण प्रदर्शनीय वस्तुएं सुरक्षित स्थानों में भेज दी गई थीं और अब उन्हें लाकर धीरे धीरे सजाया जा रहा था, अभी म्युजियम का एक ही कमरा खुला था। तब तक लडाई बीते ११ महीने ही हुए थे। मैंने तो लडाई बीतने के २७ महीने बाद लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम के एक ही हाल को सजा देखा था, और जिस गति से सजावट हो रही थी, उससे अभी वर्षों में सारे म्यूजियम के

खुलने की उम्मीद थी। यहा नक्शे टंगे हुए थे, जिनसे मनुष्य के वश की क्रमिक उत्क्रान्ति को देखा जा सकता था। मनुष्य का मस्तिष्क ही वह चीज है, जिसके कारण वह प्राणियों में सबसे ऊँचा उठा। अपने शरीर के अनुपात से मनुष्य के पास जितना मस्तिष्क है, उतना किसी जन्तु में नहीं है, यह नक्शे में दिखाया गया था— मनुष्य के कपाल में कितना अवकाश है, उसके पैर और पंजो मे दूसरे प्राणियों से क्या अन्तर है, नेअन्डर्थल, क्रोमयों, और आज के सपियन मानव के शारीरिक ढाचों में क्या भेद है। मैंने वहां के प्रोफेसर से शक-सिथियन जाति के बारे मे बात चीत की और अपने विचारों को भी प्रकट किया। उन्होंने बडी उत्सुकता से सुना और बतलाया कि डाक्टर ताल्स्तोफ आजकल यहीं हैं, जोकि इस विषय के माने हुए विशेषज्ञ हैं।

शामको " रोमन तियात्र " में सिगानुचूका (रोमनियां) नाटक देखने गये। रोमनी हमारे यहां के उन्हीं घुमन्तुओं के भाई-बन्द हैं, जो आज भी अपनी सिरकी या डेरों को लादे भारत में एक जगह से दूसरी जगह घूमते फिरते हैं। इस प्रकार मैं अपने भाई-बन्धुओं की नाट्यशाला में गया था, इसके कारण यदि वहां जाते समय मेरे मन में विशेष भाव पैदा हुए, तो इसमे आश्चर्य की बात नहीं। यह एक छोटी सी नाट्यशाला थी, जो १५ वर्ष पहिले ही स्थापित हुई थी। सदा की तरह आज भी वह नाट्यशाला दर्शकों से भरी हुई थी, इसलिये अभिनय बड़ा ही प्रभावशाली था यह कहने मे मुझे भाई बन्धों के प्रति पक्षपाती होने का दोष नहीं दिया जा सकता। मेरी भी यह इच्छा थी, कि सिगान भाई-बहनों से मिलू,लेकिन पहले तो नाटक देखना था। जिस तरह की छोटी सी दर्शकशाला थी, उसीके अनुसार रङ्गमंच भी छोटा सा था, और नट-मंडली भी। लेकिन उसे हम उसके आकार-प्रकार मे नहीं नाप सकते थे। कथानक था एक स्पेन का सामन्त (ठाकुर) तरुण एक सिगान लडकी पर मुग्ध हो गया। सिगानों की जीविका मे नाचना-गाना भी एक है, इसलिये यदि सिगानुचका (सिगान-कन्याका) अपनी कला मे निपुण थी, तो कोई असाधारण बात नहीं थी। वह बड़ी सुन्दरी थी। सिगानुचका भी ठाकुर

तरुण को प्रेम का प्रतिदान देने के लिये तैयार थी, लेकिन तब, जब कि वह भी सिगान बन जाय। तरुण तैयार हो गया। उसने अपनी सामन्ती पोशाक दूर फेंकी, सिगानों की मैली कुचैली बेढंगी पोशाक धारण की, और वह तबू का जीवन आरम्भ करके एक नगर से दूसरा नगर, एक देश से दूसरा देश घूमने लगा। धीरे धीरे घुमक्कडी, नाच, घोडे बेचने के व्यवसाय को भी सीख गया। वह इसी तरह घूमता फिर रहा था, फिर एक दूसरे सामन्त की कन्या उस तरुण पर मुग्ध हो गई। तरुण ने इन्कार किया। उसकी गठरी में चीज रखकर चोरी का इल्जाम लगा, जेल में भेजा जाने वाला था। इसी बीच में एक कप्तान आ गया। सिगान युरोप के दलित-अछूत समझे जाते हैं, इसलिये अगर कहीं चार गाली भी खा जायें, तो भी ही वह सन्तोष करने को भला समझते हैं। कप्तान ने भी इस तरुण सिगान को वैसा ही समझा था। लेकिन उसने द्वन्द्व-युद्ध के लिये ललकारा। द्वन्द्व-युद्ध से इन्कार करना १९ वीं सदी तक के यूरोप में भी सबसे अपमान की बात समझी जाती थी। इसे वीरता की शिक्षा का सुन्दर पाठ समझ कर युरोप के लोगों ने हाल तक कायम रखा था। द्वन्द्व-युद्ध मे सिगान तरुण ने कप्तान को मार डाला। तरुण पर हत्या का मुकदमा चला। न्यायाधीश मृत्यु-दण्ड देने जा रहा था। सिगानुचका अपने प्रेमी के लिये न्याया-धीश के सामने बहुत रोती रही, उसकी पत्नी के हाथ पैर जोडती रही। पत्नी ने भी अनुनय-विनय किया, लेकिन सिगान तरुण ने अक्षम्य अपराध किया था, उसने भद्रवर्गीय सामन्त तरुण को मार डाला था। उसे कैसे साधारण दण्ड देकर छोडा जा सकता था? इसी समय एक सिगान वृद्धाने बच्ची का एक आभूषण सामने रखा। न्यायधीश की पत्नी ने उसे तुरन्त पहिचान लिया यह तो १२ वर्ष पहिले गुम हुई मेरी लडकी का आभूषण है। जज की पत्नी ने कहा—यदि तू इस लड़की को लादे, तो मैं सिगान तरुण को मुक्त करा दूगी। लडकी लाई गई लेकिन उसने असली मा को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। आभूषण ने तो बतला ही दिया था, इसलिये मा-बाप अपनी लड़की को गले लगाकर अश्रुमोचन करने लगे। भला अपनी लडकी का जीवन-धन कैसे

फासी पर चढाया जा सकता था। तरुण मुक्त कर दिया गया, लेकिन माता-पिता इसके लिये तैयार नहीं थे, कि उनकी लडकी सिगानों का जीवन व्यतीत करे। वह इसके लिये भी तैयार नहीं थे, कि लड़की का व्याह किसी सिगान से हो। अन्त में लडकी परदा खोल देती है— अन्द्रेइ सिगान नहीं है। उभयपक्षीय मा-बाप अतिसन्तुष्ट। सिगान कुछ दिनों तक विवाह के आनन्द में सब कुछ भूल जाते हैं, लेकिन उनको तो किसी एक जगह में न रहने का शाप है। वह अपने डेरे को उखाडने लगते हैं और सिगानचूका और उसका पति आसू बहाने लगते, केवल अपने चिर-बन्धुओं के विछोह पर ही नहीं बल्कि सिगानों के मुक्त जीवन के छूटने पर भी। नाट्यशाला के परदे पर भी सिगानो का विशेष चिन्ह रुपयों की माला जहा तहा लगी हुई थी। नाटक की भाषा रूसी थी, लेकिन सज्जा सारी सिगानों जैसी थी। बीच बीच में सिगानपन को दिखलाने के लिये कोई कोई रोमनी शब्द भी आ जाते थे, और सगीत तो सारा का सारा रोमनी था। मैं अन्तराल में भी तियात्र के सेक्रेटेरी से मिला और उनसे कुछ बातें मालूम की। नाटक की समाप्ति के बाद तो सेक्रेटरी ने अपने कई अभिनेता और अभिनेत्रियो से भी भेंट करायी। यद्यपि वह सभी सेक्रेटरी की तरह शिक्षित थे, लेकिन उनमें से बहुत कम को मालूम था, कि वह हिंदू हैं। सेक्रेटरी ने कहा— हा, मैंने सुना है। सबने फिर मिलने के लिए आग्रह किया। मैंने कहा दूसरे नाटक के खेले जाने के समय में फिर आऊँगा।

लेनिनग्राद में तो पुस्तकों मे डूबा रहता था, यहा उसके लिये न उतना सुभीता था और न मैं चाहता था। मैं ज्यादा से ज्यादा सोवियत मध्य-एसिया सम्बन्धी साहित्य के पढने तथा जगहों और सस्थाओं के परिदर्शन मे लगा रहता था। वोक्स की ओर से कभी खबर आती कि जल्दी हो जायगा, और कभी सन्देह की बात होने लगती। वस्तुत सोवियत-शासन मे अगर कोई बडा दोष है, तो यही कि वहा सन्देह की मात्रा चरम सीमा तक पहुँच गई है। मुझे मध्य एसिया जाने का अनुज्ञापत्र न मिले, इसका कोई कारण नहीं था। वहा के पार्टी वाले चाहते थे, वोक्स सस्था हर तरह की सहायता देने के लिये तैयार

थी, लेकिन विदेश-विभाग किसी निर्णय पर ही नहीं पहुँच रहा था।

हमारे होटल के पास में ही कई म्यूजियम थे, जिनमें से एक इतिहास-म्यूजियम था। यहां पुराण-पाषाण युग तथा नव-पाषाण युग की भी सामग्री थी, हस्तलेखों का बहुत अच्छा सग्रह था, शकों की भी कुछ चीजें थीं। सबसे पुरानी पुस्तक ग्रीक भाषा की थी, जो नवीं सदी मे चरम-पत्र पर लिखी गई थी। देखने में वह पीले से पड गये सफेद कागज की तरह मालूम होती थी। रूसी भाषा की भी कितनी ही पुरानी पुस्तकें थीं, और सबसे पहिले छापे में छपी पुस्तकों का भी अच्छा संग्रह था, लेकिन मैं तो जप रहा था मध्यएसिया की माला, लिखना हो तो उसका इतिहास, और देखना हो तो उस की भूमि।

रात को (२ अप्रेल) बोल्शोइतियात्र (महानाटकशाला) मे बैले देखने गये। मारिन्स्की तियात्र जैसी ही इसकी भी इमारत है, हा यह उससे अधिक बडी है। बैले बड़ी आकर्षक थी। गृहस्वामिनी की लडकी और नौकरानी छोकरी—में छोकरी अधिक सुन्दर और निपुण थी, जिसे देखकर गृहस्वामिनी को अपनी लडकी की हीनता का भान होता, और फिर वह चण्डिका हो नौकरानी जीवन को दुर्भर करने पर उतारू हो जाती। तरुणी अपने भाग्य और जन्मको कोसती दिन काट रही थी। एक दिन घर में एक भिखमंगिन आई। साधारण भिखमंगिन ने प्रसन्न होकर अपने असली रूप को प्रकट कर दिया। वह तो परियों के देश की अप्सरा थी। उसने छोकरी को ले जाकर भिन्न-भिन्न ऋतुओं के नाच को दिखलाया। देखकर तरुणी भी आवेश मे आई, उसने भी सुन्दर नाच नाचे। कुछ समय बाद छोकरी पर एक राजपुत्र मुग्ध हो गया, लेकिन छोकरी राजपुत्रों के वर्ग से निराश हो चुकी थी, इसलिये वह घर से निकल भागी। राजकुमार उसे ढूंढते देश-विदेश मारा मारा फिरा। बैले का मतलब ही है मूक-अभिनय, इस-लिये रंगमच पर भिन्न भिन्न देशों की विशेषता दिखलाने के लिये वहाँ के वेश, वाद्य और नृत्य के सिवाय कोई उपाय नहीं था। राजकुमार इस भ्रमण मे उजबेकों, अफरीका के वन्तुओं और न जाने किन किन जातियों के देशों में गया। अन्त मे छोकरी अपने पुरानी मालकिन के घर मे मिली। नाटक सुखान्त था।

बोल्शोइतियात्र सोवियत रूस की सर्वश्रेष्ठ रंगशाला है। यह नाम बोल्शेविकों ने नहीं दिया, बल्कि रंगशाला के महान् होने के कारण ही उसे यह नाम मिला। इसका टिकट मिलना दुर्लभ है और मुझे तो स्थान भी मिला था पहली पंक्ति में रंग के बिलकुल पास। अभिनेता और अभिनेत्रिया दो सौ रही होंगी। उन्होंने अभिनय और नृत्य में कमाल किया था। दृश्य अंकित करने में और भी अधिक चमत्कार मालूम होता था। अंधेरी रात मे तारों का छिटकना देखकर किसी को संदेह नहीं हो सकता था, कि यह वास्तविक रात्रि और तारे नहीं हैं। रंग के सीमित अवकाश में मीलों तक के जंगल, पर्वत, नदियों के दृश्य थे। लेकिन सोवियत रंगमचों में पुराने साधनों के साथ साथ अब आधुनिक साधन भी व्यवहार किये जाते हैं, जिनमे पता न देते हुए कुछ यन्त्रों का भी उपयोग होता है।

अगले दिन (४ अप्रेल) दत्त भाई के यहा गये। वहा उनकी चौथे वर्ष की छात्राओं से बात चीत हुई। यह युनिवर्सिटी की पढाई नहीं थी, जहा कि पुरानी चली आती परम्परा को पालन करते हुए संस्कृत का पढना आवश्यक था। लडकिया केवल उर्दू-हिन्दी पढती थीं। वह काफी ज्ञान रखती थीं, और मुझे विश्वास है, यदि भारत में ६ महीने रहने का मौका मिले, तो वह शुद्धभाषा बोलने लगेगीं। हिन्दी पुस्तकों और पत्रिकाओं के अकाल की शिकायत थी। वस्तुत जो लोग इन विषयों में दिलचस्पी रखते हैं, वह तो लंदन जाते नहीं, नहीं तो वहा से भी कितनी ही पुस्तकें इकट्ठा कर सकते थे। भारत से दौत्य-सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद तो अब वह अभाव नहीं होगा, यह मुझे विश्वास है।

शाम को केन्द्रीय लालसेना तियात्र मे "कुतुजोफ" फिल्म देखने गये। यथार्थवाद में सोवियत का रंगमच चरम सीमा तक पहुचा हुआ है। कुतुजोफ रूसी सेनापति था, जिसने नेपोलियन को बडी दुर्गति के साथ रूस के बाहर जाने दिया। इस अभिनय मे नेपोलियन के समकालिन रूस का चित्रण था। सैनिकों और सेनापतियों, नागरिकों और ग्रामीणों की उसी समय की पोशाक

उसी समय के अस्त्र-शस्त्र थे। कहीं पर भी ऐतिहासिक या भौगोलिक अनौचित्य नहीं आने दिया गया था, यहा तक कि समकालीन चित्रों में नेपोलियन और कतुजोफ का चेहरा जैसा देखा जाता है, उनका पार्ट लेनेवाले अभिनेताओं का भी वैसा ही चेहरा-मोहरा बना दिया गया था। कतुजोफ एक आंख का काना था, इसलिये अभिनेता अपने सारे अभिनय में एक आँख बन्द कर काना बना रहा। इस फिल्म में एक भी स्त्री पात्र नहीं थी, शायद इसीलिये इस विशालशाला में १० सैकडा सीटें खाली थीं। जाडे की हिमाच्छादित भूमि, पर्वत में दूर दूर तक बसे गाव, देवदार और भुर्ज के वृक्ष ही नहीं, बल्कि बडे बडे रूई के फाहों जैसी पड़ती बरफ, और सनसनाती झञ्झा को भी इस फिल्म में दिखलाया गया था। सवाद और भी कमाल का था। नेपोलियन की परेशानी और कष्ट को दिखलाया गया था, लेकिन कहीं भी उसके अभिमान-पूर्ण चेहरे को दीन नहीं होने दिया गया। दर्शकों में लालसैनिकों की सख्या अधिक थी।

६ अप्रेल को फिर बोल्शोइतियात्र में "यूगे ओनेगिन" ओपेरा देखने गये। बोल्शोइतियात्र में अभिनय और महान् कलाकार चैकोप्स्की की कृति फिर उसकी साज-सज्जा और तैयारी के बारे में क्या कहना? लेकिन यह ओपेरा था, जिसमें सारे सवाद पद्यमय होते हैं और स्वर मे तो अगर श्रोता पहिले से दीक्षित और अभ्यस्त न हों, तो वह हमारी तरह कान फाडनेवाली चीख के सिवाय और कुछ न समझे। दृश्य अत्यन्त सुन्दर बने हुए थे। परिधान देश-काल-पात्रोचित थे। नृत्य या दूसरी बातें भी निर्दोष थी, लेकिन उस अस्वाभाविक पद्य-मय वार्तालाप ने मुझे मजबूर कर दिया, कि पहिला अक समाप्त होते ही वहा से उठकर चल दू। आज कुछ हलका सा बुखार भी था, शायद यह भी इतनी असहिष्णुता का कारण हो। मुझे इस नाट्यशाला के दो टिकट मिले थे, इसे बडा सौभाग्य समझना चाहिये। एक टिकट को तो मैंने पहिले ही अपने होटल के किसी आदमी को दे दिया था, दूसरे टिकट को बाहर निकलते ही एक तरुण को दे दिया। बहुत से चूके हुए लोग आशा लगाये बोल्शोइतियात्र के बाहर मडराते रहते हैं। तरुण कुछ पैसा देना चाहता था, मैंने कहा—नहीं तुम जाकर देखो।

जान पड़ता है, शरीर में धीरेधीरे कुछ विकार पैदा हो गया था, जो किसी बीमारी का रूप लेना चाहता था। हल्का बुखार, पेट में कब्ज, और सिर में मनमनाहट देखकर १० अप्रेल को ख्याल आया, कि अस्पताल चलना चाहिये। एक पथ दो काज— चिकित्सा भी हो जायगी, और सोवियत चिकित्सालय को भी देख लेंगे। ११ अप्रेल को एक वृद्ध डाक्टर ने आकर देखा। क्रान्ति के पहिले धनाढ्य और आभिजात्य कुलीन पुरुष थे, बोल्शेविकों के तेज को सहन करने के लिये आवश्यक आदर्शवाद की भारी घूट भी नहीं पी थी, फिर वह कैसे संतुष्ट हो सकते थे। आज उनकी लिखी हुई दवाओं को सेवन किया, और अस्पताल नहीं जा सका।

१२ अप्रेल को तापमान नहीं था, किन्तु पेट भी साफ नहीं था। बीमारी थी लेकिन पढ़ने की चीजों को छोड़ भी नहीं सकता था। शामको एक विख्यात डाक्टर आये, उन्होंने देखा, कुछ मैंने भी कहा, इसलिये अस्पताल जाना तै हो गया।

भी दो बार पिलाई जाने लगी। उस दिन दो प्रोफेसर-डाक्टरों और दो डाक्टरों ने देखा। मेडिकल कॉलेज के विद्यार्थी भी इस वार्ड में आते थे, लेकिन मेरे पास नहीं आये।

१४ अप्रैल को रविवार साधारण छुट्टी का दिन था, इसलिये केवल अपने डाक्टर मलेरिना आयीं। खून के दबाव को देखने पर कहा—तरुणों जैसा है। दिन में दो इंजेक्शन कल ही से शुरू हो गये थे। एकान्त अवश्य था, यद्यपि उसके तोड़ने के लिये डाक्टर मलेरिना तथा उनकी तरुण-सहायिका दूसरी डाक्टर आकर कुछ देर बैठती थीं। मैं अपने साथ कुछ पुस्तकें भी लाया था। अस्पताल के प्रत्येक कमरे में दो आदमी रखे जाते हैं, मगर मेरे कमरे में मैं अकेला था। अस्पताल में बहुत भीड़ नहीं थी। मुख्य नर्स् येष्ठा स्त्रसा (स्ताउ सैस्त्रा) परिमाण में अधिक स्थूल थीं। वह बराबर आकर पूछतीं रहती' कोई खास खाने-पीने की चीज चाहिये। मैं कहता— नहीं, धन्यवाद। डाक्टर मलेरिना से काफी बात होती। उन्होंने रवीन्द्र की कुछ किताबें पढी थीं, इसलिये भारत के बारे मे अधिक जिज्ञासा रखती थीं। मैं एक छोटी कोठरी में बन्द था, लेकिन मेरी बडी इच्छा होती थी, बोत्किन अस्पताल (बोल्नित्सा बोत्किना) के हरेक भाग को देखने की। १५ तारीख से अब कोई शिकायत भी नहीं थी। दस्त बाकायदा होता था। बुखार भी नहीं था।

१६ अप्रैल को दोपहर तक धूप रही, फिर आस्मान घिर आया। सभी की शिकायत थी, कि अब की साल बादल बार-बार लौट रहा है, शायद मई तक भी बरफ न पिघले। मैं चूंकि मध्य-एशिया जाने वाला था, और उत्तमाई में फरगाना की मलेरिया की बात सुन चुका था, इसलिये चाहता था, कि उसकी सुई ले लू। डाक्टर ने बतलाया, मलेरिया और इन्फलुयेन्जा की सुइयों की आवश्यकता नहीं, हैजा और टाइफाइड की ले लीजिये।

मुझे जगह-जगह परीक्षा के लिये जाना पड़ा। एक जगह रोन्तगिन (एक्सरे) के लिये, दूसरी जगह अंतड़ियों की परीक्षा के लिये जाना पड़ा। सभी परीक्षकों ने यही बतलाया— बहुत ठीक है, कोई विकार नहीं, फेफड़ा, आंतें

बिलकुल स्वस्थ हैं। यहा के चिकित्सक घोर प्रत्यक्षवादी हैं - केवल आख की देखी बात पर विश्वास करते हैं।

१२ अप्रैल को अस्पताल आया था, और २० अप्रैल को मैंने उसे छोडा। छोडते वक्त अस्पताल की ओर से एक पूरी रिपोर्ट तैयार करके दी गई और आगे के लिये क्या करना चाहिये, इसकी हिदायत भी। सोवियत-शासन की सफलता का एक बडा प्रमाण चिकित्सालयों की सुव्यवस्था है। नगर हो या ग्राम सभी जगह हरेक नागरिक नि शुल्क चिकित्सा पाने का अधिकार रखता है। आरम्भ में डाक्टरों की कमी से चाहे कितने ही गाव अस्पतालों से वचित रहे हों, लेकिन अब तो शायद ही कोई गाव होगा, जहा अस्पताल और डाक्टर न हो। किरगिजी-स्तान और कजाकस्तान मे क्राति के समय तक बहुत भारी सख्या मे लोग घुमन्तू या अर्धघुमन्तू जीवन बिताते थे। भेडों और घोडो का पालन उनका मुख्य व्यवसाय था। किरगिजिस्तान और कजाकस्तान के घोडे तुखारी घोडे के नाम से प्राचीन भारत मे भी मशहूर थे। आज भी उन्होंने अपनी कीर्ति को खोया नहीं है। सोवियत-काल मे तो बल्कि घोडो की परवरिश के लिये विशेष ध्यान दिया गया है, और अच्छी से अच्छी नसल के घोडों को जल्दी से व्यापक रूप में पैदा करने में कृत्रिम वीर्य-निक्षेप द्वारा भारी सफलता प्राप्त की गई है। आज वहा बडे स्वस्थ, मजबूत और सुन्दर जाति के घोड़े देखे जाते हैं। वहा हजार-हजार दो-दो हजार घोडों के रेवड का एक जगह देखा जाना आश्चर्य की बात नहीं है। घोडे रिसाले के लिये आवश्यक हैं, इसलिये भी सोवियत सरकार को उनकी ओर ज्यादा ध्यान देना पडा। अब तक किरगिज और कजाक लोग अपने स्वाभाविक जीवन मे घूमते हुए अश्वपालन करते थे। सभी चरागाहें एक समय चरने लायक नहीं होतीं, त्यानशान और अल्ताई की पर्वतमालाओं मे ऊचाई के अनुसार आगे पीछे बरफ पिघलती और हरियाली उगती है, इसलिये पुराने घुमन्तुओं ने किस चरभूमि में किस समय जाना चाहिये, इसका एक नियम बना रखा था। आजकल भी उससे पूरा फायदा उठाने की कोशिश की जाती है।

कल के घुमन्तुओं के अब अच्छे खासे गाव बस गये हैं, जिनमें अधिकाश मे मिट्टी के तेल की जगह बिजली जलती है । इन गावों में अब कोई निरक्षर नहीं मिलता। और गावों के आसपास कुछ साग-सब्जी, फल-फूल भी उगाये जाते हैं, लेकिन अश्व-पालन को छोड़ नहीं चुके हैं, अब भी वह अपनी पुरानी चरागाहो में करीब करीब उसी समय में पहुँचते हैं, लेकिन तब से अब भारी अन्तर है। अब रेवड़ों के जाने के रास्तों में हर मंजिल पर चारा-पानी, लोगों के रहने का ही इंतजाम नहीं होता, बल्कि उनके साथ खबर भेजने का रेडियो भी होता है, आदमियों और पशुओं के चिकित्सक साथ होते हैं, और साथ में चलती फिरती पाठशाला भी रहती है। कई जगहों में स्थायी घर भी बन गये हैं, लेकिन अधिकतर चारगाहों मे लोग तम्बुओं के भीतर ही रहते हैं। सोवियत के विशाल राज्य में कोई मनुष्य चिकित्सा से वचित न हो, इसका अब पूरी तौर से इतजाम हो चुका है। जैसा कि पहिले कहा, पशुओं की चिकित्सा का भी इसी तरह प्रबन्ध है। मुफ्त चिकित्सा से आदमियों को कितना सुभीता है, इसके महत्व को सोवियत के लोग नहीं समझते । हवा अनमोल चीज है, लेकिन अत्यन्त सुलभ होने के कारण हम उसके महत्व को नहीं समझते। पूंजीवादी देशों में मध्यम वर्ग के लोगों को बीमारी के पीछे बिकते देखा जाता है, वह इसके महत्व को समझ सकते है। नगरों में हरेक आदमी के लिये एक-एक नहीं तीन-तीन जगह नि शुल्क चिकित्सा का प्रबन्ध है। मेरा ही उदाहरण ले लीजिये। स्काचेड मुहल्ले में अलग डाक्टर थे, जोकि टेलीफोन पाते ही रोगी के पास पहुँचते थे, मैंने कभी उनके आने मे पन्द्रह मिनट से अधिक समय बीतते नहीं देखा । यदि डाक्टर कहता है अस्पताल चलो, तो वहा सारी व्यवस्था मुफ्त है । यदि हम आग्रहवश घर रहना चाहते हैं, और बीमारी छूत की नहीं है, तो डाक्टर जबर्दस्ती नहीं करेगा, हाँ घर रहने पर सरकारी दुकान से सस्ते दाम पर मिलनेवाली दवाइयों भर का दाम देना पडेगा। स्काचेड के अतिरिक्त विश्वविद्यालय मे भी नि.शुल्क चिकित्सा का प्रबन्ध था और तीसरा वैसा ही प्रबन्ध था तिरयोकी मे ।

१२--प्रतीक्षा और निराशा

२० अप्रैल को वोक्स की कार आयी और ४ बजे के करीब मैं फिर नेशनल होटल के उसी २४० न० के कमरे मे चला आया। इतने दिनों तक अनुपस्थित था, लेकिन कमरा रख छोडा गया था। एक जगह पडे रहने के कारण ही शायद कुछ कमजोरी मालूम होती थी। उस रात को कुछ बुखार सा भी मालूम हुआ। चाहे कुछ भी हो, मैं पढने को तो छोड नहीं सकता था। शाम को भूख नहीं लगी, कुछ सदेह होने लगा, लेकिन अब अस्पताल नहीं जानेवाला था।

२१ अप्रैल को कल के हलके बुखार के डर से मैंने बाहर निकलने का सकल्प छोड दिया। शाम के वक्त अपनी पत्नी सहित साथी समउन आये। जिस जावी मित्र से मैं तेहरान में आदिल खान के नाम से परिचित था, उन्हीं का नाम साथी समउन था। उनके साथ शाम को रोमन-तियात्र में "भट्ठी के वह" नाटक देखने गया। युरोप के सिगानों का जहा भीख मागना, हाथ देखना, घोडा फेरी करना व्यवसाय था, वहा नाचना गाना भी, विशेषकर शराब के भट्ठी खाने के सामने। शराब पीनेवालों को ऐसे सस्ते मनोरजन का साधन सिगान

ही दे सकते थे। नाटक में एक ऐसी बहू का वर्णन था, जो कि भट्ठीखाने से लायी गई थी। सिगानों का घुमन्तू जीवन बडा ही आकर्षक होता है। रूस के कालिदास कवि पुष्किन भी इस जीवन पर मुग्ध हो गये थे, और उन्होंने इस पर एक सुन्दर कविता लिखी थी। शराबखाने पर नाचना-गाना दिखलाया गया। सिगान नर-नारी अपनी कला दिखाकर पैसा माग रहे थे। एक सिगान तरुण दूसरी सिगान तरुणी पर मुग्ध हो गया। तरुण केवल कलाकार था। कन्या का हाथ मागने वाले दो दूसरे तरुण भी थे, जिन्होंने बडी वडी भेंट माता-पिता के सामने रखी। लेकिन जो नाचगाना तथा सिगानों की दूसरी विद्याओं को नहीं जानता 'तस्मै कन्या न दीयते'। पिता-माता ने गुण नहीं देख गृह और भेंट-सौगातपर फैसला करते हुए, एक बूढे के हाथ में अपनी कन्या को सौंपना चाहा, लडकी के विरोध करने पर— पिताने कोडों से मारा। प्रेमी तरुण ने फिर एक बार कोशिश की, लडकी भी रोई-कलपी, किन्तु पिता के सामने किसी की नहीं चली, जबरदस्ती विवाह कर दिया गया। सिगान धर्म के बारे में कट्टर कहीं नहीं रहे, जहा जिस धर्म की प्रधानता थी, वहा वही उनका धर्म हुआ रूस में वह ग्रीक-चर्च के माननेवाले बने, लेकिन दिखावे मात्र था, नहीं तो सिगानों की अपनी प्रथा सर्वत्र एकसी थी। उनका भोजन, गाना-नाचना भी एक ही जैसा था। लडकी का विवाह हुआ, जिसमें सारे नर-नारियों ने भाग लिया। नवबधू भी प्रथा के अनुसार नाचने के लिये वाध्य थी, किन्तु उसने रोदन नृत्य किया। घोडे की चौपहिया गाडी पर तरुणी को चढाये जाने के समय तरुण प्रेमी क्रिमिया के भूतपूर्व सुल्तान के रूप मे जादूगर बनकर आ गया। उसने चादर के नीचे से एक अनुपम सुन्दरी (परी) को निकाला, जिसने कुछ भविष्यवाणी की। सुल्तान ने घोडा गाडी मे उसे लुप्त कर दिया। वर-वधू उसी गाडी पर सवार हो विदा हुये। रास्ते मे परी चुडैल का रूप लेकर चढ पड़ी। सिगान बेचारे भूत-प्रेत के वड़े विश्वासी होते हे। सभी डर गये—बराती कहीं भागे, वर कहीं भागा। सुल्तान का वेष छोडकर तरुण अपनी प्रेयसी से मिला। बूढा वर पागल हो गया, जब उसने दोनों को चुम्बन करते देखा। लोग फिर लौट कर

आये । प्रेमी के साथी ने दोनों को गाडी में छिपा दिया, और लोगों को बहका कर दूसरी ओर ढूँढने के लिये भेज दिया । अन्त मे दोनों प्रेमी पकडे गये। बूढे-वर ने अपने श्वसुर पर बडा रोष प्रकट किया है । श्वसुर नाराज हो गया और उसकी बीवी ने सभी भेंटों को निकाल फेंका । अन्त मे प्रेमी और प्रेमिका का मिलन हुआ । सारी सिगान-मडली ने उनका स्वागत किया । सिगानों के इतने सुन्दर नाट्य को देखकर मुझे अफसोस होता था, कि उन्हें घर का तहखाना देकर क्यों छोड दिया गया । उनके लिये तो एक खास इमारत होनी चाहिये । इनका तियात्र सदा भरा रहता था । ग्रीष्म के दिनों में इनकी मंडली दूसरे शहरों में भी जाती । लेनिनग्राद में कई बार तो उनका टिकट नहीं मिलता था । अगर यहा बडी नाट्यशाला होती; तब भी वह खाली न रहती ।

यद्यपि अभिनेता सारे सिगान और सिगानिया थीं, लेकिन दर्शक प्राय सारे ही सिगान-भिन्न थे, इसलिये रूसी भाषा अनिवार्य थी । प्रौढा अभिनेत्री ने बतलाया कि अभी हम अपनी भाषा को भूले नहीं हैं । यह भी मालूम हुआ कि सिगानों को उनकी मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने की भी कोशिश की गई थी, लेकिन सिगानों का न कोई प्रदेश और न कोई गाव है । दूसरे लोगों के बीच मे यह बिखरे होते साथ ही सभी द्विभाषी हैं, इसलिये व्यवहारत- यह प्रयोग चल नहीं सका ।

अब की मास्को यात्रा मे नाटकों के देखने की मैंने छूट करदी थी । २४ अप्रैल को भी युरेई (यहूदी) नाट्यशाला मे एक सामाजिक नाटक देखने गये । उसके सगीत को देखकर मुझे मालूम हुआ, कि भारतीय फिल्मों मे जो मत्स्र, संगीत की इतनी अधिकता है, उसका कारण यही यूरेई प्रभाव है । गेमन तियात्र की तरह यह नाट्यशाला भी अल्पसख्यकों की नाट्यशाला थी । यूरोप मे सबसे अधिक यहूदी रूस मे शताब्दियों से रहते आये है, किन्तु जन साधारण मे हजम नहीं हो सके । इसमें यहूदियों की कठोर जात-पात की मर्यादा ही कारण नहीं रही, बल्कि ईसाइयों की भी ईसा के प्राण हरनेवाले बन्धुओं के प्रति घृणा भी कारण थी । क्रान्ति मे पहले तो वह एक तरह अछूत (ज़ूटी) जाति के

समझे जाते थे। शायद लहसुन का प्रयोग वह खाने में ज्यादा करते हैं, इसलिये लहसुनखोर कहकर रूसी उनके प्रति घृणा प्रकट करते थे। कोई आदमी अपनी लड़की को यहूदी को देने के लिये तैयार नहीं था, और न कोई रूसी यहूदी लड़की से व्याह कर अपने वर्ग और परिवार में सम्मानित रह सकता था। जन्म-भूमि से उजड़कर सूखे पत्तों की तरह दुनिया भर में बिखरे यहूदी शायद उसे चाहते भी नहीं थे, या चाहने पर भी उनको अवसर नहीं मिला जोकि वह खेती में नहीं लगे। बनिया-महाजन का व्यवसाय ज्यादा लाभप्रद था, इसलिये वह उसी तरफ आकृष्ट हुए और यूरोप के देशों के मारवाड़ी बन गये। उनकी अपनी भाषा इब्रानी अब केवल पढ़ने की भाषा रह गई, तो भी वह जर्मन-मिश्रित एक तरह की भाषा (यिद्दिश) आपस में बोलते हैं। शिक्षा का द्वार खुलने के साथ उन्होंने उस तरफ भी क़दम बढ़ाया और अच्छे अच्छे वकील, डाक्टर, प्रोफेसर और इंजीनियर उनमें होने लगे। उनके व्यवसाय सीमित थे, विवाह-सम्बन्ध सीमित थे, इसलिये उनका सामाजिक क्षेत्र भी बहुत संकुचित था। वह जेन्तील (अ-यहूदी) को चूसना अपना धर्म समझते थे, और दूसरे उन्हें तुच्छ दृष्टि से देखकर आत्म-संतोष कर लेते थे।

लेकिन क्रान्ति के बाद युगों से चले आये पक्षपातों को हटाने का प्रयत्न किया गया। आज वही लोग पुराने दुर्भावों को अपने मन के भीतर रखे हुये हैं, जो सोवियत शासन से भी प्रेम नहीं रखते। सोवियत-शासन ने यहूदियों के रास्ते की सभी रुकावटों को दूर कर दिया है, तो भी अभी ७० प्रतिशत विवाह सम्बन्ध उनके अपने ही धर्म-भाइयों में होते हैं और वह अपने आस्पदों— स्ताइन, मान आदि को कायम रखे हुये हैं। यूरोपीय रूस में उनकी कोई विशेष भाषा न होने के कारण उसमें तो प्रयत्न नहीं किया गया, लेकिन मध्यएसिया के यहूदी एक तरह की विशेष फारसी बोलते हैं, उसमें छपी हुई स्कूली किताबों को लोक पुस्तकालय (लेनिनग्राद) में मैंने देखा था। लेकिन यह तजर्बा उसी तरह असफल रहा, जिस तरह जिप्सियों को उनकी भाषा में शिक्षा देने का। वस्तुतः जब सभी यहूदी अपने गणतंत्र की भाषा को मातृ-भाषा की तरह बोलते हैं, तो वह क्यों

अपने क्षेत्र को सीमित रखते हुए थोडे आदमियो की भाषा मे पढना पसन्द करेंगे। यहूदियों की शुक जैसी नासा का जातीय चिन्ह पश्चिमी यूरोप की तरह रूस में ज्यादा नहीं मिलता, लेकिन उनके बाल काले आमतौर से देखे जाते हैं।

यह नाट्यशाला छोटी नहीं थी। इसका हाल विशाल था, जिसमे ऊपर नीचे ५०० (पाचसौ) से अधिक दर्शक बैठ सकते थे। यहा के गाने हमे, ज्यादा पसन्द आ सकते थे, क्योंकि इन में अरबी और भारतीय गानों के स्वर मिलते थे। पोशाक भी ऐसियायी-यूरोपीय मिली थी—वही शेरवानी थी, जिसका प्रचार मुसलमानों ने तुर्की का समझकर भारत में किया और अब महापुरुष नेहरू द्वारा जिसको भारत की राष्ट्रीय पोशाक के पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न हो रहा है। सक्षेप में वेष, वातावरण, सजावट आदि में यह तियात्र भारत के अधिक नजदीक था।

नाटक का कथानक था एक पुरोहित सनातनी विचारों का था। उसकी इकलौती लड़की का प्रेम एक तरुण विद्यार्थी के साथ हो गया। लेकिन पिता नास्तिक विद्यार्थी के साथ अपनी कन्या का विवाह कैसे करता? उसने वर के ढूँढने के लिये घटक दौडाये। घटकों ने एक धनिक परिवार के तरुण को पसन्द किया, जो कि लगडा, काना, और हकला भी था। लेकिन विद्यार्थी इतनी जल्दी अपने दावे को छोडने के लिये तैयार नहीं था। जब विवाह-पत्र लिखा जाने लगा, तो उसने पुरोहित को रिश्वत देकर अपना नाम लिखवा दिया, और जिस में पिता को मालूम हो, कि यह वही लँगडा-काना-हकला लडका है, उसने भी वैसा ही अपने को बनाया। लोग उसके अभिनय को देखकर लोट-पोट हो जाते थे। उसके चलने, बोलने की सभी बातें धनिक-पुत्र की तरह थीं। नाटक की भाषा यिद्दिश थी, लेकिन अभिनय इतना अच्छा था, कि भाषा जाने बिना भी आदमी नाटक का आनन्द ले सकता था। दूसरों की तरह हसते-हसते मेरे पेट में भी दर्द होने लगा। जब तक असली लगडा, किसी काम के लिये आने की तैयारी मे होता, तब तक नकली लगड़ा पहुँच जाता, और कोशिश यह करता कि दोनों एक समय सामने न आयें। यिद्दिश भाषा का उपयोग होने के कारण

यहा बहुत सी सीटें खाली थीं, शायद रोमन-तियात्र में भी सिगान भाषा का आग्रह किया जाता, तो वहा भी यही हालत होती।

२५ अप्रेल को एक ओर मन मारकर अनुज्ञापत्र की प्रतीक्षा कर रहा था, और दूसरी तरफ शाम को पैर केन्द्रीय बाल-नाट्यशाला की ओर चले। यह नाट्यशाला १२ सालसे ऊपर के बच्चों के लिये है। नाटक था "नगर के दो कुबड़े"। लड़कों के लिये मनोरंजन की चीज थी, यह इस नाम से ही प्रकट होता है। झाड़ू देनेवाला कुबडा तरुण करकाल बड़ा सुन्दर गायक, नगर भर के लोगों का प्रेमपात्र तथा ईमानदार था। नगर-वासी खान (राजा) के अत्याचार से पीडित थे। खान के अमीरका एक महामूर्ख लडका था, जिससे नगर की सर्व सुन्दरी कन्या का उसके पिता ने विवाह करना चाहा। पता पाने के बाद खान ने स्वय शादी करने का प्रस्ताव किया। उधर दुष्टोंने कुबडे तरुण का काम तमाम करने के लिये षड्यन्त्र रचा, लेकिन नगर के प्रेम-पात्र कुबडे के गड्ढे में न गिरने की जगह मूर्ख तरुण और खान दोनों उसमें गिरे। तरुण गायक कुबड़े ने उन्हें गड्ढे से बाहर निकाला। पहिले ही से उसके गान पर मुग्ध जगल के भालू, सिह, खरगोश देख रहे थे। लेकिन अपने प्राण बचानेवाले कुबडे तरुण के उपकार के लिये कृतज्ञ होने की जगह, खान ने उस पर अपराध लगाया। नगर के मैदान मे कचहरी लगी। उसी मूर्ख तरुण का पिता न्यायाधीश था। गवाहों की पुकार हुई, किन्तु एक भी गवाह कुबडे के खिलाफ बोलने के लिये तैयार नहीं हुए। इस पर न्यायाधीश ने कुछ बूढों को न्यायाधीश बना स्वयं मुद्दई और अपने मूर्ख पुत्र को गवाह बदकर अभियोग लगाया। तरुण अपराधी से गवाह के बारे मे पूछने पर उसने जगल के वासियों को गवाह के रूप मे पेश करना चाहा। विरोधी इस पर हस पड़े। गवाहों की पुकार का घोतू तीन बार बजा, और इसके बाद मृत्यु-दण्ड को कार्य-रूप मे परिणत करने के लिये भले कुबडे को ले ही जाने वाले थे, कि सिंह, भालू, खरगोश आ पहुँचे। लोग दग रह गये। जगल के वासियों की गवाही पर कुबडे करकाल को मुक्त कर दिया गया। तब खान ने स्वय मुकदमा देखना चाहा, किन्तु अब तक

अपराधी वहा से लुप्त हो चुका था। उसे फिर पकड कर लाने का हुक्म हुआ। स्वय दूसरों का हाथ न उठने पर खान ने स्वय उसे पकडना चाहा और छीना झपटी में करताल के हाथ मारा गया। इस पर खान के एक सेनापति विलियम ने जादू की तलवार से करकाल को मारना चाहा। जमकर लडाई हुई। खान के आदमी मारे गये, और विलियम भी बन्दी बना। अब जादू की तलवार करकाल के हाथ मे थी, फिर उसे कौन जीत सकता था? नगर की सर्वसुन्दरी कन्या ने उसी कुबडे से विवाह किया— रूप से गुण को उसने अधिक पसन्द किया। नगर खान के अत्याचार से मुक्त था। किसी बुढिया की भविष्यवाणी के अनुसार करकाल का कूबड़ भी गल गया। इस नाटक मे श्रमिक जनता की ईमानदारी और प्रभु वर्ग के अत्याचार का अच्छा चित्र खींचा गया था। १४ वर्ष तक के लडकों के लिये ही यह अधिक मनोरजन और शिक्षाप्रद नहीं था, बल्कि सयाने भी उसका आनन्द ले रहे थे। सभी अभिनेता कुशल थे। नाट्यशाला का मकान अच्छा था, कई कमरे थे। हाल मे ७०० सौ आदमियों के बैठने की जगह थी।

डाक्टर ताल्स्तोफ के बारे में मैं पहिले भी सुन चुका था। यह भी मालूम था कि कई वर्षों से उनके नेतृत्व मे सोवियत पुरातात्विक अभियान मध्यएसिया के उजडे नगरो के अनुसधान के लिये जा रहा है। २६ अप्रेल को ढाई बजे दिन को मैं उनसे मिलने गया। कराक-ल्पक और ख्वारेज्म के अपने अनुभवों के बारे में २ घटे तक वह बात करते रहे। यूची और शक लोग मगोल नहीं बल्कि हिन्दू-युरोपीय जाति के थे, इस बात से वह भी सहमत थे और कह रहे थे कि उनका सम्बन्ध मेसागित (महाशक) जाति मे था। वो-सुनो की भूमि (सप्तनद) तक ही नहीं बल्कि दन्यूब मे लेकर तरिमउपत्यका तक शक-जाति का निवास था। शक और हिन्दू-ईरानी जाति का परस्पर बहुत नजदीक का सम्बन्ध था। ईसा-पूर्व तीसरी चौथी सहस्राब्दी के अरजित मृत्पात्र-काल मे शायद शक और आर्य शाखायें अलग हुई। फिनो-उइगुर और मुडा-द्रविड जाति का भी उसी तरह का सम्बन्ध था। भाषा की समीपता मे जो बात मालूम होत हैं, उसको पुराना-

कुमारियां इन विलासियों से गर्भवती होतीं, और पीछे उनको बड़ी बुरी अवस्था में अपने गांव में रहना या नगर में जाकर वेश्या बनना पड़ता। वृद्ध ग्राफ की तरुण नौकरानी इस घोर परिणाम को जानती थी, इसलिये वह बूढ़े से घृणा करती थी। ग्राफ-पुत्री के तीन प्रेमी थे— एक पैंतालीस साल का कर्नल, जिसकी सैनिक हेकड़ी मूर्खता की चरम सीमा तक पहुँच गई थी, दूसरा चापलूस तरुण जो ग्राफ-पुत्री से भी अधिक तरुण नौकरानी पर लट्टू था, और तीसरा एक स्वतन्त्रता-प्रेमी नवयुवक चाम्स्की, जिसका साहित्य और मानवता पर बहुत प्रेम था, और प्रेमिका के ऊपर दिलोजान से फिदा था। पिता कर्नल को दामाद बनाना चाहता था, पुत्री लम्पट तरुण को चाहती थी। साहित्य और स्वातन्त्र्य के प्रेम में पागल तरुण को न पिता चाहता था, न पुत्री।

पिता और पुत्री के साथ तीनों उम्मेदवारों ने कई बार बातचीत की थी। बूढ़े ने एक बड़ी दावत की, जिसमें बीसों क्न्याज (राजुल), ग्राफ (काउन्ट) अपनी पत्नियों और पुत्रियों के साथ आये थे। उनकी पोशाक बड़ी भड़कीली थीं जैसी कि १९ वीं सदी के आरम्भ में होती थी। रत्नों और आभूषणों की प्रदर्शनी सी खुल गई थी। पुरुष सम्मान प्रदर्शित करते हुए महिलाओं का हस्त-चुम्बन और किसी का मुँख-चुम्बन भी करते थे। स्त्रियां घाघरे को कमर के पास से पकड़कर जरा-सा झुककर अभिवादन करती थीं। देश-काल-पात्र में किसी तरह का अनौचित्य न हो, इसका ध्यान सोवियत नाट्यकला में बहुत दिया जाता है और इसके लिये भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञ परामर्श के लिये बुलाये जाते हैं। रूसी उच्च-वर्ग के हरेक व्यक्ति की अलग-अलग रुचि थी, जिसे अभिनय में बड़ी अच्छी तरह दिखलाया गया था। स्त्रियां वृद्धा हों, प्रौढा या तरुणी, सभी का व्यवहार इतना अस्वाभाविक था, कि जान पड़ता था मानव-शरीर नहीं बल्कि पुतलियां हिल-डोल रहीं हैं। चौथे और अन्तिम दृश्य में ग्राफ के दरवाजे का प्रदर्शन किया गया था। जाड़े का समय था। परिचारक अपने मालिक और मालकिनों के बहुमूल्य समूरी ओवरकोट और टोप लिये बाहर प्रतीक्षा कर रहे थे। मालिक और मालकिन एक एक करके बाहर निकल नौकरों के हाथ से अपने

कोट और परिधान लेकर सवारियों पर सवार हो जाने लगे। कर्नल भी विदा हुआ। चास्की में और गुण थे, लेकिन बोलने में वह सीमा पार कर जाता था, इसलिये उसका लम्बा भाषण अभी खतम नहीं हुआ था। वह आकर नौकरो-वाली कोठरी में रुक गया। दरवाजे पर कोई नहीं था। चिराग गुल हो चुके थे। ग्राफ कुमारी ने अपने लम्पट प्रेमी को बुलाया। परिचारिका उसे लेने गई, लेकिन प्रेमी परिचारिका से ही प्रेम का प्रस्ताव करते आगे बढ़ा। कुमारी ने देख लिया। उसने कुपित हो झकझोरकर उसे त्याग दिया। इसी समय चास्की पहुँच गया उसने स्मरण दिलाया, किन्तु कुमारी मौन रही। पिताने आकर दोनों को देखा, और उसने शक करके उन पर कोप प्रकट किया। तरुण ने पहले कुमारी को सबोधन कर खरी-खोटी सुनाई, उससे अन्तिम नाता तोड़ा, और अन्त में बूढ़े पिता को भी चार सुनाकर अपना रास्ता लिया।

सोवियत के नाटक केवल सुन्दर कला और सुरुचिपूर्ण मनोरंजन के ही उत्कृष्ट उदाहरण नहीं होते, बल्कि वह इतिहास, समाज-विज्ञान की सुन्दर पाठशाला का काम देते हैं। जिस समय का नाटक देखने का आपको अवसर मिला है, वहाँ उस समय का इतिहास आपके सामने बिलकुल असली रूप मे आ जाता है, और ऐसे रूप में जिसे आप जल्दी भूल नहीं सकते। हमारे यहा की तरह नहीं है कि अशोक के समय उस विक्रमशिला के भिक्षु पेश कर दिया जाय, जिस ८
विक्रमशिला का अस्तित्व अशोक के ११ शताब्दियों बाद हुआ। रेडियो नाटकों में कलिंग-विजय के समय बारूद का धड़ाका दिखाया जाय, जिसको कि बाबर के आने से पहिले हिन्दुस्तान के लोग जानते नहीं थे। हमारा ही देश क्या इस विषय मे पश्चिमी यूरोप और अमेरिका वाले भी अभी सोवियत रूस से बहुत पीछे हैं। माली और बोल्शोइ तियात्र की नाटक-परम्परायें बहुत पुरानी हैं, और आज भी दोनों चोटी के तियात्र समझे जाते हैं। देश के सर्वोत्तम अभिनेता और अभिनेतिया यहीं हैं। बहुत से उन नाटकों को आज भी खेला जाता है, जिन्हें कि आज से शताब्दी पहिले खेला गया था, हा उनसे अनौचित्य के दोष को हटाकर और सामग्री और अभिनेताओं के परिणाम और गुणको बढ़ाकर। सामन्त-युग के

समाजक के विलासमय जीवन को दिखलाने में आज के शासक कोई सकोच नही करते, उनसे उन्हें कोई खतरा नही है। हाँ, अब भी पुराने सामन्तवर्ग की सन्तानों में से कुछ हीरा, रत्न, रेशम और समूर के प्रदर्शनो को देखकर ठडी सास लेकर कह उठते हैं— "कला तो यह है। सौंदर्य तो यह है" जिसकाअर्थ है— 'ते हि नो दिवसा गत ।"

बोल्शोइ की तरह माली-तियात्र का टिकट मिलना भी सौभाग्य की बात है। उसके तीनों तल और फर्श की सीटें बिलकुल भरी हुई थीं। मैं फर्श पर तीसरा पक्ति मे रंगमच के बिलकुल नजदीक होने से सभी चीजों को साफ साफ देख-सुन सकता था।

२८ अप्रेल आया। मन नही लग रहा था। दुविधा में पडा हुआ था। यात्रा का प्रबन्ध करनेवाले देर होने से शकित जरूर थे, किन्तु अब भी आशा छोड़ नहीं बैठे थे। उस दिन मैं मास्को के ओपरेता-तियात्र मे डरते-डरते गया। मैंने समझा था, ओपरेता भी ओपेरा का ही छोटा भाई होगा और सिरदर्द मोल लेना होगा। लेकिन यहाँ ओपरेता का मतलब है नृत्य-सगीत सहित सुखान्त नाटक, अर्थात् ऐसा नाटक जिसे भारतीय रुचि ज्यादा पसन्द करती है। इसका ओपेरा से कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ के सभी गीत, नृत्य और सवाद स्वाभाविक थे। नृत्य में बेले का उच्च नृत्य भी शामिल था। नाटक में आधुनिक समाज को चित्रित करते हुए नौसैनिक के प्रेम को दिखलाया गया था। इसमें विनोद की मात्रा भी बहुत थी। अत्यत स्थूला अभिनेत्री साविस्कया का अभिनय बडा विनोदकारी था। निकुलकीना अभिनय में और उजमिना नृत्य में परमदक्ष।

२८ अप्रेल ही से चारों ओर मई-महोत्सव की जोरों से तैयारी होने लगी। कितने-ही मकानों पर नेताओं के चित्र लगा दिये गये थे, दीपमालाए भी जग गई थीं। ७ नवम्बर के (क्रान्ति-दिवस) के बाद सोवियत का दूसरा सबसे बडा त्यौहार मई-दिवस है।

लेनिनग्राद छोड़े महीना भर हो गया था, इसलिये वहा के बारे मे क्या

कह सकता था ? लेकिन मास्को मे तो २९ अप्रेल को वसन्त का आगमन सा मालूम हो रहा था। प्रथम मई त्यौहार के लिये वसन्तारम्भ से बढकर सुन्दर समय कौन सा मिल सकता था ? उसदिन तीन-चार घंटा हम शहर में टहलते रहे। मास्क्वा नदी में कहीं बरफ का नाम नहीं था, वह मुक्त-प्रवाह बह रही थी। छत या जमीन पर भी बरफ का पता नहीं था, सिर्फ दत्त भाई की गली मे एकाध घरों के निचले स्थानों में हिम नहीं बरफ (यख) दिखाई पडती थी। मास्क्वा के उस पार बच्चों की हाट लगी हुई थी, जिसमे खिलौने, बिस्कुट, चाकलेट आदि की बेचनेवाली संस्थाओं ने अपनी अपनी छोटी-छोटी दुकानें खोल रखी थीं। दुकानें लकडी की थीं, लेकिन सुचित्रित, सुसज्जित, और शीशे के गोल केस के साथ। पानी का ख्याल रखना जरूरी था, इसलिये वर्षा का असर न पडनेवाली छतें बनाई गई थीं। सारा बाजार चित्रशाला सा मालूम होता था, और चित्र भी वैसे ही जिनकी ओर बालक बहुत खिंचते हों। यहा पर कई झूले और कठघोडवा भी लगे हुए थे। मन्दिरनुमा छतदार स्थान बाजे के लिये सुरक्षित था। बरफ-मलाई बेचनेवाले कितने ही ठेले भी पहुँच गये थे, लेकिन अभी दुकानों में चीजें सजाई नहीं गई थीं। नगर के बड़े बडे घरों को भी सजाया गया था। जगह जगह पर लेनिन और स्तालिन तथा दूसरे नेताओ के भी विशाल चित्र टगें हुए थे। लेनिन पुस्तकालय के ऊपर लेनिन और स्तालिन का चित्र इतना ऊंचा था कि वह नीचे से चौतल्ले के ऊपर तक पहुचता था। कोई जगह ऐसी नहीं थी, जिसमे स्तालिन का चित्र न हो। जहा-तहा "स्लावा वेलीक्म स्तालिन" (महान् स्तालिन की जय) बड़े-बडे अक्षरों में लगे हुए थे। एक जगह वर्तमान पच वार्षिक योजना के आँकड़ों का रेखाचित्र भी लगा हुआ था।

इतने दिन रहे, तो बिना मई-महोत्सव देखे जाना अच्छा नहीं, इसलिये इतुरिस्तवालों को २ मई के लिये लेनिनग्राद की ट्रेनों मे सीट रिजर्व कराने को कह दिया और लेनिनग्राद तार भी दे दिया। अब मेरा मन बिलकुल उकता गया था। मध्यएसिया की यात्रा को मैं बड़ी लालसाभरी दृष्टि से देख रहा था, जिसके लिये टका-सा जवाब मिल गया। उक्त खबर को सुनाने के लिये एक उच्चपदस्थ

भद्र पुरुष आये, और संकोच करते हुए कहने में झिझक रहे थे। मैंने कहा—कोई परवाह नहीं। लेकिन प्रभाव तो पड़ा था। अब मेरी यही इच्छा थी, कि कब भारत लौट चलूं। केवल पढ़ाना मुझे पसन्द नहीं आ सकता था। पुस्तक की सामग्री काफी जमा कर चुका था, लेकिन लिखने के लिये कलम नहीं उठती थी, क्योंकि कई सेन्सरों के भीतर होकर प्रेस-कापी भारत में प्रकाशक के पास पहुंच भी सकेगा, इसमें संदेह था।

२६ अप्रेल को फिर प्रोफेसर ताल्स्तोफ के पास जाकर दो घंटे तक बातचीत की। आज अधिकतर मध्यएसिया के मानवतत्व, पुरातात्विक सामग्री के प्राप्ति स्थान, पुरापाषाण-अस्त्र, तेशिक्ताश (नेअन्डर्थल-मूस्तेर) मानव आदि के बारे में बातें हुईं। उन्होंने बतलाया, कि पुरा-पाषाण युग का अवशेष तेशिक ताश में मिला है।

मध्य-पाषाण और पश्चात्-पुरापाषाण युग के अवशेष तेशिकताश वाले बाइसुन इलाके में मिले हैं, जिनकी खोपड़ी हिन्दो-यूरोपीय, कपाल दीर्घ और मुंह पतला है।

आरम्भ नवपाषाण— इस काल के शिकार के चित्र दराउत्साई में मिले हैं, जिनमें मनुष्य, पशु, धनुष, चमड़ा-परिधान अंकित हैं। चित्र बनानेवाले ने पहिले रेखाओं को पाषाण में खोदा, फिर उस पर रंग लगाया। ओश (मध्यएसिया) के पास के पर्वतों में भी इस काल के चित्र मिले हैं, पाषाणास्त्र और मृत्पात्र जो मध्यएसिया की और जगहों में भी प्राप्त हुए हैं।

दो संस्कृतियां— प्रोफेसर ने बतलाया कि मध्यएसिया में प्रागैतिहासिककाल में दो संस्कृतियां थीं। जिनमें दक्षिणी संस्कृति की दो शाखायें थीं—(१) अनाउ तेरमिज-फरगाना में नव-पाषाणयुग में हिन्दू-यूरोपीय संस्कृति थी। यहाँ के लोग कृषि जानते थे। इनके मृत्पात्र रंगीन होते थे। (२) अराल-श्रेणी निम्न-वक्षु में उत्तरी नवपाषाण (४००० ई० पू०) संस्कृति थी। लोग शिकारी और पशुपालक थे। इनके मृत्पात्र अरंजित और उत्कीर्ण होते थे।

आदिम पित्तल-युग— ईसा-पूर्व द्वितीय सहस्राब्द के इस काल में यहां

के लोग पशुपालन के साथ कृषि भी किया करते थे। मृत्पात्र पहिले लालरंग के थे, फिर उनके ऊपर काली रेखाओं से चित्रण करने लगे। दोनो दक्षिणी और उत्तरी संस्कृतिया भेद रखती थीं। इनका संगम-स्थान ख्वारेज्म था।

मानव—इसके बारे में उनका मत था, कि तीसरी-दूसरी सहस्राब्द ईसा-पूर्व के आदिम पित्तल-युग मे उत्तर (कजाकस्तान) में जो मानव रहता था, उसका चेहरा पतला था। उसी प्रदेश में ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी मे पित्तल-युग के समय क्रोमियों जाति से सम्बन्ध रखनेवाला दीर्घकपाल चौडे मुँहवाला मानव रहता था। उत्तर हो या दक्षिण सिर-वक्षु उभय-उपत्यकाओं मे ईसा-पूर्व द्वितीय और प्रथम शताब्दियो मे हूण से पहिले मंगोलायित मानव का कोई पता नहीं था। ईसा-पूर्व १०००-५०० ई० पू० में दक्षिणी सिबेरिया (खकाशिया) ओइरोद, क्राम्नोयार्स्क मे मगोलायित मानव के अवशेष मिले हैं।

हूण— हूणों के आक्रमण काल ई० पू० द्वितीय-प्रथम शताब्दियों मे पहिले पहल मगोलायित मानव अलताइ से पश्चिम दिखाई पडता है। उस समय अल्ताई-एनीसेई मगोलायित और हिन्दी-यूरोपीय जातियों की सीमा रेखा थी। शुद्ध हूण लक्षण आजकल याकूतों, और तुगूतो में ही अधिकतर पाया जाता है।

श्वेत-हूण— मेरी रायका समर्थन करते हुए श्वेत-हूण या हैफ्तालों के बारे में उनका कहना था ग्रीक लेखक भी इस शब्द को भ्रामक कहते हैं। श्वेत-हूण का चेहरा मुहरा हिन्दी-यूरोपीय जैसा है। श्वेत-हूण की भाषा मे एकाध प्रत्यय हूणों के मिलते हैं जैसे मिहिरकुल में कुल (कुल्ली, दास)।

पश्चिम मे मगोलायित—प्रोफेसर ताल्स्तोफ ने पश्चिम में मगोलायितो की तीन लहरें आती बतलायीं। (१) लाप— यह नवपाषाणयुग मे भुन्न-कक्षीय भू-भाग से होते पश्चिम मे फिन्लैंड और नार्वे तक पहुंचे, इन्हीं के वंशज आज के लाप हैं।

(२) हूण — ई० पू० द्वितीय-प्रथम शताब्दियों मे हूण अपनी पुरानी भूमि (हवाग-हो से मगोलिया) छोड पश्चिम की ओर चले। यह लहर अतिला के हूणो के रूप मे चौथी सदी मे मध्य-दन्यूब-उपत्यका (हुगरी) तक पहुची, जहाँ

कि आजकल उनके यूरोपीय मिश्रित वंशज रहते है। इसी लहर के अवशेष वोल्गा के आसपास चुवाश, बोलगार और कजार थे, चुवाश आज भी मौजूद है, लेकिन उनकी भाषा मे मंगोलियत प्रभाव अधिक है, शरीर-लक्षण में वह हिन्दी यूरोपीय मिश्रण से अधिक प्रभावित हैं।

(३) तुर्क— यह लहर छठवीं सदी मे पश्चिमाभिमुख प्रयाण करने लगी और द्नियेपर के तट तक पहुँची। इसके दो भाग थे (क) किपचक (ख) आगूज। मंगोलायितों के भाषा-विकास के बारे मे उन्होने बतलाया कि तुर्क पहले दो भागों में बँटे, एक सप्तनद (इली-छू-सरेसु) में जो कि पहले आये थे। इन्ही के वंशज वर्तमान कजाक और किरगिज हैं, जिनमें कजाकों का लिखित साहित्य १६ वी सदी से पहिले का नहीं मिलता। तुर्कों की दूसरी शाखा सिरवक्षु उपत्यका मे आई। इसका प्रथम लेखक ११ वीं सदी का महमूद काशगरी है जिसने अपनी समय की भाषाओ और जातियो पर बहुत ज्ञातव्य बातें बतलाई हैं। यही उजबेक-भाषा का मूलरूप है। उजबेक भाषा पर ईरानी भाषा का बहुत प्रभाव पड़ा है, केवल उधार के शब्दो में ही नहीं, बल्कि भाषा के ढांचे पर भी।

तुर्कों से भिन्न गूज (या आगूज) हूण शाखा के ही वशज वर्तमान तुर्कमान, आजुरबायजान और उस्मानी (तुर्कीवाले) तुर्क हैं।

तुर्कमानों के बारे में उन्होंने बतलाया कि इनपर हिन्दी-यूरोपीय प्रभाव ज्यादा, मंगोलायित कम है। इनकी भाषा मंगोलायित है और सस्कृति ईरानी। उजबेकों की भी यही बात है। कजाकों में जितना ही पश्चिम की ओर जायें उतना ही हिन्दी-यूरोपीय अंश अधिक होता जाता है। यह छठी से दसवीं शताब्दी के तुर्कों के वंशधर हैं। किरगिजों मे मंगोल रक्त अधिक है।

ई० पू० द्वितीय शताब्दी में सप्तनद के निवासी शक-वंशज वूसुन आयत-कपाल थे।

फिनिश और मुंडा-द्रविड़ भाषाओं का सादृश्य भाषा-तत्व की एक बडी समस्या है। यह सादृश्य बतलाता है, कि किसी समय ध्रुवकक्ष में रहनेवाले फिनों, और भूमध्य-रेखा के पास रहनेवाले द्रविड़ो का एक वंश था। प्रोफेसर

ताल्स्तोफ के अनुसार इस वंश का विभाजन शायद नवपाषाण युग में हुआ—ख्वारेज्म और भारत के तत्कालीन पाषाणास्त्रों की समता भी इसी बात को बतलाती है,लेकिन मृत्पात्रों को अभी देखना है। इस वंश की एक शाखा—फिनो-उइगुर और दूसरा द्रविड। द्रविड-शाखा भी दक्षिणी, (मलयालम, तमिल, तेलुगु, कन्नड, तुलु,) और मुंडा (कोल, गोंडी, मुंडा, कुवी, कुरुख, कुई, मल्तो) में विभक्त है।

ताल्स्तोफ का ज्ञान बहुत ही विशाल है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं मैंने चलते वक्त बहुत कृतज्ञता प्रकट की और उन्होंने फिर मिलने के लिये निमन्त्रण दिया। उसी दिन मैंने दत्तभाई की जीवनी के लिये नोट भी लिये।

अब मैं भारत लौटने की सोच रहा था। किंतु आये रास्ते से लौटना मेरी आदत के विरुद्ध है, इसलिये ईरान के रास्ते जाने का ख्याल नहीं होता था। अब दो रास्ते रह जाते थे। सबसे नजदीक का रास्ता अफगानिस्तान होकर था। मैं अफगानिस्तान की सीमा तक तो आसानी से पहुँच सकता था, आगे के लिये मेरे पास जो पौंड में चेक थे, उनका यदि यहीं पर पौंड मिल जाता तो मैं निश्चित रह सकता था, नहीं तो आमूदरिया तट से काबुल तक के यात्राव्यय का प्रबन्ध किये बिना जाना ठीक नहीं था। मैं ब्रिटिश-कौंसिल के पास गया। उन्होंने कहा कि चेक के बारे में मैं कुछ नहीं कर सकता लेकिन यदि तीस पौंड का रूबल जमा करदें, तो हम अपने स्टाकहोम दूतावास में या काबुल में तार दे देंगे, जहाँ पैसा मिल जायेगा। उन्होंने सलाह दी, कि लेनिनग्राद से स्टाकहोम होते हुए लंदन जाना ही अच्छा है, खर्च ३० पौंड से अधिक नहीं पड़ेगा। हमारे पासपोर्ट पर स्वीडन और अफगानिस्तान का नाम भी लिख दिया गया। काबुल का रास्ता मुझे पसन्द था, लेकिन तेरमिज से काबुल पहुँचने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। लंदन के रास्ते जाने में एक यह भी सुभीता था, कि हम रूबल में किराया चुकाकर सोवियत जहाज से जा सकते थे। उस वक्त बातचीत करने से तो यही मालूम होता था, कि दो-ही-तीन महीने में यहाँ से चल देना है, लेकिन जल्दी करते-करते भी पन्द्रह महीने और रह जाने पड़े।

८ बजे रात को सरकस देखने गये। कोई खास विशेषता नहीं थी। कई सिंह अपना खेल दिखाते रहे। बाजीगर ने खाली अखबार मे बहुत सी कागज की चिटें निकालीं, जरा ही देर मे उनका ढेर लग गया, फिर आग लगा के जला दिया। एक चीनी बाजीगर ने तीली से चीनी मिट्टी की तश्तरिया उछालकर दिखलायीं। फिर सरकस की कई कसरते हुईं। आज भी शामको शहर मे दीपमालिका थी।

मई-दिवस—लाल मैदान मे मई-महोत्सव का परिदर्शन देखने जाना था। पास के बिना कोई वहा पहुँच नही सकता था। वोकस ने पास का इतिजाम कर दिया था। यद्यपि लाल मैदान हमारे होटल से सडक पार करके कुछ ही कदम आगे शुरू होता था, लेकिन आज का रास्ता उतना सीधा नहीं था। चारों ओर जबरदस्त सैनिक प्रबन्ध था। कुछ जगहों पर तो जाने पर यही जवाब मिला—जाओ, यहा से नहीं जाने देंगे। फिर किसी ने कहा "तीसरी धार मे जाओ"। एक दर्जन से भी अधिक बार पास और पासपोर्ट दोनो दिखलाने पडे। लाल मैदान मे आज बहुत कीमती जानें आई हुई थीं, पूजीपतियों का कोई गुन्डा पहुँच कर पिस्तौल न चलादे, इसीलिये इतना प्रबन्ध था। अन्त मे आध घन्टा चक्कर काटने मैदान में पहुँचे। नेताओं के खडे होने के स्थान की दाहिनी ओर सीमेंट की गैलरिया बनी हुई थीं, जिनमे १४ न० की गैलरी में हमारा स्थान पिछली पक्ति में था। सभी लोग खडे थे, इसलिये हमे भी खड़ा होना पडा। मैदान के परले पार विशाल मकान पर सबसे ऊपर विशाल सोवियत लाछन लगा हुआ था, जिसके नीचे मई का अभिनन्दन तथा दूसरे नारे अकित थे। लेनिन और स्तालिन के विशाल चित्र भी वहीं लगे हुए थे। मकान के ऊपर सघ के १६ प्रजातत्रों के अपने लाछनों सहित झंडों की पक्तिया फहरा रही थीं। इतिहास-म्यूजियम के मकान के ऊपर भी नारा लगा हुआ था, जिसके बायें विशाल हसिया, हथौड़ा, और दाहिने तारा था।

६ बजे से ही जगह भरने लगी। मैदान मे भिन्न-भिन्न वर्ग की सेनायें पक्ति-बद्ध खडी थीं। १० बजे नेता लोग आये। सबसे पहिले सैनिक वेश मे

स्तालिन, मार्शल रोकोसोवस्की फिर मंत्रीगण, कितने ही मार्शल और जेनरल। मार्शल रोकोसोवस्की आज की परेड के प्रमुख थे। स्तालिन का वक्तव्य रोकोसोवस्की ने पढा, फिर प्रदर्शन शुरू हुआ। पहिले पैदल, फिर नौसेना के जवान मार्च करते निकले, फिर सवार तथा दूसरी सेनाए, घोडोंवाला तोपखाना, मोटर और टैंकवाली सेनाए। आकाश में ६ गिरोह विमानों के इसी समय दिखलाई पडे। डेढ घन्टा सेना-प्रदर्शन मे बीता। दर्शकों के सामने से अपार सेना गुजरी। नाना भाति की तोपें थीं— छोटी तोपें, एक ही साथ पाच-पाच सात-सात गोलों की माला छोडनेवाली कनूसा, विशाल तोपें फिर पराशूटी जवानों से भरी लोरिया निकलीं। मौसिम बड़ा अच्छा रहा। देशी-विदेशी-सम्वाददाता, और फिल्मवाले चित्र लेने मे लगे हुए थे। साढे ग्यारह बजे नागरिको का प्रदर्शन शुरू हुआ। हम आखिर तक नहीं ठहर सके, प्रदर्शन को दो घटे ही देखा। कितने ही दर्शक तो सेना के प्रदर्शन के बाद ही लौटने लगे थे।

यद्यपि हमारा होटल बिलकुल नजदीक था, किन्तु लौटना आसान नहीं था। लौटते वक्त भी कितनी ही सैनिक पक्तियों में पास दिखाना पडा। १० सैंकडे सैनिक रूखे भी मिले, नहीं तो वह बडी मुलायमियत से रास्ता बतला देते थे। नागरिक प्रदर्शन-पक्तियों से सारी सड़क भरी हुई थी। इस चलायमान नर-समुद्र को पार करना आसान काम नहीं था। पता लगा कि नगर के केन्द्र का रास्ता बन्द है। नेशनल होटल नगर केन्द्र में ही था। तो क्या शाम तक होटल नहीं जा पावेंगे ? लेकिन आध घंटे में हम अपने होटल मे पहुँच गये। भोजन के लिये जावी मित्र सिमाउन के यहा निमन्त्रित थे, साथी सिमाउन का पुत्र करीम लेने के लिये आया था। ६ बजे बाद दीपमाला देखने गये। लेकिन हम नगर के एक छोर पर थे, इसलिये अच्छी दीपमालिका नहीं देख सके, और आतिश-बाजी से तो बिलकुल वंचित रह गये। भूगर्भ रेल से आकर पुश्किन चौरस्ते पर लडकों के बाजार को देखा। अपार भीड़ थी। पता लगा ७ बजे ही सारे रास्ते खुल गये थे। जगह-जगह दीपमालिकायें थीं, किन्तु सभी घरों और निवों पर नहीं। केन्द्रीय तार घर पर चलती फिरती रङ्ग-बिरंगी रोशनी बडी सुन्दर

मालूम होती थी। मोटे प्रकाशाक्षरों में "प्रथम मायां" और बीच में घूमता हुआ भू मंडल, लहरदार दीपपंक्तियां जल रहीं थीं। हमारे होटल के सामने वाले मैदान में भी दाहिने ओर पर नागरिक नृत्य-गान और कसरत दिखाने में लग्न थे। मई का अपूर्व महोत्सव देखकर साढे ग्यारह बजे रात को हम अपने कमरे में लौटे। आज ही हरी हरी पत्तियां भी देखीं, वसन्त आ गया।

१३–फिर लेनिनग्राद में

२ मई को ७ बजे शाम की गाडी पकडी और अगले दिन लेनिनग्राद पहुच गये। ब्रिटिश कौंसल ने बहुत से समाचार पत्र दे दिये थे, जिनको रेल मे भी पढते रहे, और यहा भी। लेनिनग्राद मे भी अब वृक्षों के ऊपर कलियों जैसी पत्तिया निकल रहीं थीं, नेवा की धार मुक्त हो गई थी, लेकिन अब भी उसमें बरफ की शिलायें बह रही थीं। ६ मई को वनस्पति की हालत देखकर कहना पडा कि वृक्षों पर पत्तिया बहुत धीरे धीरे निकल रही हैं। सरदी अभी गई नहीं थी। लदोगा झील अपनी बरफ की सौगात को नेवा द्वारा समुद्र में भेज रही थी, जो ६ मई को भी उसी तरह चली जा रही थी। १० मई तक निश्चय कर लिया, कि साल भर और यहीं रहा जाय। मध्यएसिया नहीं गये, मध्यएसिया के इतिहास की सामग्री इतने में और जमा हो जायगी, लेकिन फिर एक साल बिना रेडियो के नहीं रहा जा सकता, इसलिये १० मई को ही साढे तीन हजार रूबल मे एक नया रेडियो खरीद लाये। हमारे पास राशन जैसा एक कार्ड था, जिसके कारण ७०० रूबल कम देने पडे। हमारे साथी और विद्यार्थी कह रहे थे—यदि छ महीना रुक जायें, तो आधे से दाम पर

था। हो सकता है, कुछ समय और उनका नाम लिया जाय, लेकिन काल के महासमुद्र मे हजार-दो-हजार वर्ष भी तो कोई हस्ती नहीं रखते। आदमी के हाथ से काल कितनी जल्दी निकलता चला जाता है। जिनको हमने बच्चा देखा था, वह हमारे सामने ही जवान हो बाल भी पका बैठे। हमारे बचपन के कितने ही तरुण और वृद्ध तो न जाने कब से अनन्त मौन की गोद में लीन होगये। सबको एक दिन उसी रास्ते जाना है। मरने के बाद भी अमर होने की चाहे कितनी ही इच्छा हो, लेकिन सभी को रेतपर पडे पद-चिन्ह की तरह आखिर मे लुप्त होजाना है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर और जीवनक्षण नि सार है, तुच्छ है, घृणास्पद है, परित्याज्य है। आखिर इन्हीं क्षणों मे जीवन जैसा बहुमूल्य रत्न भी है। उसको तुच्छ नहीं कहा जा सकता। जीवन मे सबध रखनेवाला हरेक क्षण—जो कि वर्तमान क्षण ही हो सकता है—अनमोल है, सत्य है।

अगले दिनों मे हमारा रेडियो भारत की बहुत सी खबरें लाता रहा। क्राचेइ के हमारे कमरे के वायुमडल मे हिन्दी और भारतीय सगीत का बराबर प्रसार होता रहा। दिल्ली-रेडियो के कमरे मे बैठा गायक या वक्ता क्या जानता होगा, कि उसकी आवाज ६ हजार मील दूर इस अज्ञात नगर के अज्ञात घरके भीतर गूज रही है।

२२ मई को जिज्ञासावश हम सोवियत् अदालत देखने गये। अदालत हो, चाहे सरकार, सभी के रोब को सोवियत-शासन-प्रणाली ने खतम कर दिया है। यह मुहल्ले की अदालत थी। आज प्रधान-जज के बीमार होने के कारण हमने कार्यवाही नहीं देख पाई, यहा की हरेक अदालत मे तीन जज बैठते हैं, जिनके लिये लाल कपडे से ढकी मेज के पीछे तीन कुर्सिया इजलास के रूप में कुछ ऊपर रखी थीं। छोटा सा कमरा था जज अधिकतर निर्वाचित होते हैं, जो कुछ समय के लिये उस पदपर रहते हैं। वकीलों की सख्या कम हो गई है, क्योंकि पूंजीवादी वैयक्तिक सपत्ति की सीमा उस देश मे बहुत सकुचित है, तो भी वकील हैं और वह प्रेक्टिस भी करते है, लेकिन

अधिकतर सरकारी वेतनभोगी नौकर के तौरपर। हर मुकद्दमे में उन्हें तकलीफ करने की आवश्यकता भी नहीं पडती। उनके आफिसों पर साइनबोर्ड लगे रहते हैं। जिनको कानूनी सलाह लेनी होती है, वह नियत समय पर वहा जाकर ले सकते हैं। भला जहा जज को देखते ही लोग सास न बन्द करलें वह भी कोई अदालत है, जहा जिला मजिस्ट्रेट का नाम सुनते ही, आदमी की सास ऊपर न टग जाये, वह भी कोई जिला-शासक है? सोवियत में तो बस वही एक नमूना है। गाव के १८ वर्ष से अधिक उमर के लोगों ने मिलकर वोट दे गाव का शासन करने के लिये अपनी सोवियत (पचायत) चुन ली, जिसका एक मुखिया सोवियत चुन लेती है। गाव की तरह ही तहसील (रायोन) और जिले के भी सोवियतें चुनी हुई होती हैं। लेकिन जिले की सोवियत का सभापति—जिसको हमारे यहा का मजिस्ट्रेट कहना चाहिये—को देखकर किसी की सास ऊपर नहीं टगती, बल्कि कोई भी जाकर उसके साथ बेतकल्लुफी से बात कर सकता है। रोबदाब सचमुच ही उस देश से उठ गया है। लेनिनग्राद जैसे उच्च विश्वविद्यालय की प्रोरेक्तर (वाइसचासलर) महिला को कमरे की झाड़ू देनेवाली अथवा टायपिस्ट स्त्रियों के साथ बैठा देने पर आप पहिचान नहीं सकते, कि वह प्रोरेक्तर है। विद्यार्थियों, अध्यापको ही नहीं साधारण नौकर भी उसको सबोधन करने में न बहुत आदाब-अलकाब का प्रयोग करते हैं, न बहुत सम्मान ही। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं, कि वहा सब धान बाईस पसेरी हैं। योग्य स्थान पर योग्य आदमी ही पहुचने पाता है।

२६ मई को देखा, फिर शुक्ला रात्रि आगई ६ बजे शाम तक धूप थी। मालूम होता है, जब से दिन १८ घटो को अपनी जेब मे रख लेता है, तब से वह बाकी ६ घटे को भी रात्रि के पेट मे जाने नहीं देता। शुक्ला रात्रि मे घर के बाहिर १२ बजे रात्रि को भी आप अखबार पढ सकते हैं। शुक्ला रात्रि दीर्घ दिन का पता देती थी। दीर्घ दिनका मतलब है सूर्य अधिक समय तक अपने प्रकाश और ताप को फैला रहा है। लेकिन सर्दी तो अब भी गई नहीं थी। हा, नेवा अब मुक्त-धार बह रही थी। यह समुद्री मछलियों के अंडा देने का समय

था। लेनिनग्राद में ही नेवा समुद्र में मिलती है, इसलिये अंडा देने के ख्याल से करोड़ो मछलियां नेवा से ऊपर की ओर चढ़ आयी थीं। मछुओं की पाचों अगुलिया घी में थीं, लोगों को भी सुभीता था मछली ३० रूबल (२० रूपये) किलोग्राम (सवा सेर) लग गई थीं।

मास्को में तो नाटको के देखने में मैंने हद करदी थी। लेनिनग्राद में उतनी जाने की इच्छा नहीं होती थी। मास्को का ओपेरा देख आये थे, पहिली जून (१९४६) को हम यहा के माली औपेरा थियेटर में गये, जिसमे "काल्पनिक वर" बैले खेला जा रहा था। ओपेरा होता तो मैं नहीं जाता, या गला दबानेपर ही जाता, किन्तु बैले को तो मैं पसन्द करता था। अभिनय और नृत्य बहुत सुन्दर था। यह नाट्यशाला भी मारिन्सकी ही जैसी किन्तु छोटी है। इसमें ७-८ सौ आदमी बैठ सकते हैं। बाहर से देखने पर तो बिलकुल साधारण घर सा मालूम होता, किन्तु भीतर काफी अवकाश है। दर्शकों की भीड़ थी। नाटक का कथानक था पारिवारिक बाधा के कारण तरुण तरुणी विवाह नहीं कर पाते और दोनों अलग अलग घर से भागकर इताली के किसी शहर में अज्ञातवास करते हैं। तरुणी पुरुष वेश में भगी थी। वह इस अज्ञातस्थान में दूसरी तरुणी के परिवार के सपर्क में आई। पिता उसे उपयुक्त वर समझकर अपनी पुत्री को विवाह के लिये मजबूर करने लगा। सूखने के लिये डाले कपडे से भेद खुल गया। कुशल भृत्य प्रेमी को उसकी प्रियतमा के मरने की और नवविवाहिता को उसके नवीन वर के मरने की खबर दे देता है। दोनों छुरी लेकर आत्महत्या के लिये निकलते हैं, और एक दूसरे को पाकर आनन्द-पारावार में डूब जाते हैं। चतुर भृत्य दूसरी लडकी का पति हो जाता है, और एक ही समय दोनों विवाह-सम्पन्न होते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के नृत्य नाटक की खास विशेषता थी। दोनों नायक नायिका और उनके मित्र इस कला मे बड़े निपुण थे। इतालियन नृत्य में गणनृत्य, बालनृत्य, तथा और कितने ही प्रकार के नृत्य थे। हमने तीन टिकट लिया था, लेकिन तीसरे व्यक्ति न आने से २५ रूबल बरबाद गये।

३ जून १९४६ को सोवियत भूमि में आये मुझे १ साल होगया।

आज लेखा जोखा का दिन था। मध्यएसिया न जा सकने के लिये दिल उदास अवश्य था। मैं चाहता था, कि मध्यएसिया जाकर अपनी आखों देखी बातों पर एक पुस्तक लिखू, और अपने देशभाइयो को बतलाऊ, कि पहिले हमारी ऐसी परिस्थिति में रहा मध्यएसिया कितनी जल्दी आगे बढा है, और आगे बढता जा रहा है। लेकिन वह नहीं हो पाया। मध्यएसिया के इतिहास के सबध में मैंने पिछले सालभर मे काफी अध्ययन किया, काफी नोट लिया और आशा है कि उनके बलपर विश्वास के साथ कोई पुस्तक लिख सकूगा।

३ जून को दिनभर वर्षा होती रही। ४ को भी वर्षा जारी रही। ३ को सोवियत के भूतपूर्व राष्ट्रपति कालनिन का देहान्त होगया। उसके उपलक्ष्य में ४ को सारे नगर की तरह युनिवर्सिटी ने भी शोक मनाया। शोक सभा हुई। कालनिन ने वृद्धापन के कारण कुछ ही समय पहिले हुए चुनाव के बाद राष्ट्रपति पद नहीं सभाला था। वह बहुत जनप्रिय थे। एक साधारण साईस और मजूर की स्थिति से बढते बढते वह राष्ट्रपति बने थे। जून के प्रथम सप्ताह के बाद युनिवर्सिटी में मेरे पढाने का काम खतम सा होगया था, इसलिये पुस्तकालय या और जगह कोई काम होनेपर ही मैं वहा जाता था, नहीं तो अधिकतर घर पर रहकर ही पुस्तकें पढता रहता।

मध्यएसिया यात्रा का भूत उतर गया था, लेकिन मध्यएसिया इतिहास का भूत तो सिरपर चढा रहता ही था। ताल्स्तोफ से कितनी ही बातें मुझे मालूम हुईं, और कितनी ही अपनी कल्पनाओं की सत्यता का पता लगा। १३ जून को मैं मध्यएसिया के इतिहास के एक दूसरे विशेषज्ञ प्रो० बेर्नश्ताम के पास गया। पता कुछ ऐसा ही वैसा था, लेकिन मैंने कोशिश करके किसी तरह उनके घर को ढूढ निकाला। यदि स्थान पहिले से ही निश्चित होता, तो ढूंढते ढॉढते निश्चित समय से पोन घटा बाद उनके पास जाने का अपराधी न होता। डाक्टर बेर्नश्ताम और उनकी पत्नी दोनों ही पुरातत्व और इतिहास के विशेषज्ञ हैं। ढाई घटे तक किरगिजिया और कजाकस्तान के बारे में बातचीत होती रही। उन्होंने बतलाया कि सोवियत-काल में वहा बहुत जगह खुदाइया हुई है, और बहुत सी

ऐतिहासिक चीजें मिली है

पुरापाषाण युग—इस युग के हैंडलवर्गीय (मूस्तेर) मानव के हथियार दक्षिणी उजबेकिस्तान (तेशिक ताश) के अतिरिक्त समरकन्द और कुदाई (र्तिश-उपत्यका) मे भी मिले हैं। ऊपरी पुरापाषाण युग के सलातुर-मदलिन मानव के भी हथियार कोपितदाग (तुर्कमनिया) और हिसारताग (उज़बेकिस्तान) म प्राप्त हुए।

सूक्ष्मपाषाण (मैक्रोलिथ)—इस युग के यायावरों के हथियार दक्षिणी कज़ाकस्तान में तुर्किस्तान-शहर, अरालतट, सिर-उपत्यका, कराताउ, म्युनकम (जम्बुल के पास), वेत्पकदला (अल्माअता के पास) में मिले हैं।

नव-पाषाणयुग—इस काल के हिन्दू-यूरोपीय मानव के कपाल और हथियार एलातान (फरगाना), अनौ (तुर्कमानिया) और ख्वारेज़्म से मिले हैं। उन्होंने यह भी बतलाया कि ख्वारेज्म जैसे कपाल मध्य-पाषाण युग के घुमन्तुओ और नवपाषाण युग के कृषकों में भी पाये गये हैं।

सप्तसिन्धु में सप्त, जान पडता है, हिन्दू-यूरोपीय, या शकार्य-जाति के "सप्त" शब्द और नदियो के प्रेम को बतलाता है। भारतीय आर्यों के देश को ईरानी लोग सप्त-सिन्धु कहा करते थे, जोकि सिन्धु और उसकी छ शाखा नदियो का पर्याय था। मुसलमानों ने सप्तसिन्धु को "पजाब" नाम दिया, लेकिन उससे पहिले ही शायद ताजकिस्तान का पंजाब मौजूद था। उत्तरी मध्यएसिया में भी सप्तसिन्धु मौजूद है, जिसका पर्याय तुर्की में भी कुछ होगा, जिससे कि रूसियों ने उसका अनुवाद सेमीरेके (सप्तनद) किया। हमने भी अपने इतिहास में सप्तसिन्धु को भारत के लिये छोड़कर इसके लिये सप्तनद इस्तेमाल किया है। डाक्टर बेर्नश्ताम के कथनानुसार यह सात नदियां हैं—अरिस, अतलस, चू, इली, कोकसु—करातास, लेप्सा और यागूज़। यह सभी नाम तुर्की हैं, जिसमें चू और सू जल और नदी वाचक शब्द हैं। कोकसु का अर्थ है नीलनद और करातास का काला समुद्र।

छटी सदी से लेकर दसवीं ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दी तक के बहुत से

बौद्ध अवशेष सप्तनद में मिले हैं। चू-उपत्यका मे क्रुन्जे के पास अस्सिक-अता में बारहवीं शताब्दी तक बौद्धों के निवास थे, यह वहा के पुरातात्विक अवशेषों से पता लगता है। सारिग (क्रास्नयारेच्कालोहित नदी) की उपत्यका मे भी छठी सदी के बौद्ध भित्तिचित्र और मानी धर्म के भित्तिचित्र मिले हैं। बलाशागून मे भी बुद्ध की मूर्त्तियाँ मिली हैं। तलस मे छठी-सातवी सदी के मानी धर्मी अवशेष मौजूद हैं। सप्तनद में नेस्तोरी ईसाईयो की बहुत सी मुहरें तथा दूसरी चीजें प्राप्त हुई हैं। डाक्टर बेर्नश्ताम ने बहुत से फोटो दिखलाये, जिनमें एक सातवीं-आठवीं सदी की एक पीतल की बौद्ध मूर्त्ति पर उत्कीर्ण था—"देयधर्मोय श्री " साफ पढा जा रहा था। उन्होंने बतलाया कि और भी अभिलेख वहा से प्राप्त हुए हैं। बौद्ध सामग्री के परिचय मे वह चाहते थे कि मैं सहायता करू। मैंने भी अपने मध्यएसिया-सबधी अनुसधानो के बारे में कहा और आधुनिक जातियाँ किस तरह से प्राचीन जातियों के विकास और समिश्रण से बनीं, इसे भी बतलाया। उन्होने उसे युक्ति-युक्त बतलाया। डा० तालस्तोफ की तरह डा० बेर्नश्ताम भी बहुभाषाविद्, बहुश्रुत, विद्याप्रेमी पडित पुरुष हैं। रूसी विद्वानो मे मुश्किल से कोई मिलता है, जो कि अग्रेजी या दूसरी विदेशी भाषा मे अपने विचारों को प्रकट कर सके। असल मे बोलना अभ्यास से आता है लेकिन ये विद्वान अग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन का इतना काफी ज्ञान रखते हैं, कि अपने विषय-सबधी शोध-पत्रिकाओ और ग्रथों को पढ सकते हैं।

१४ जून को पुश्किन-तियात्र मे बर्नार्डशा का नाटक "पिगमैलियन" देखने गये। रूसी स्वदेशी विदेशी, का कोई भेदभाव किये बिना कला के साथ प्रेम दिखलाते हैं। इसके कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शा के नाटक का रूसी अनुवाद था, जिसको रगमच पर खेला गया। हाल खचाखच भरा था। लोला जैसी कितनी ही महिलाओं को वह उतना पसन्द नहीं आया। बूर्ज्वा समाजपर शा ने बडी तीखी बाण-वर्षा की थी, इसलिये भूतपूर्व मध्यमवर्गीय विचारधारा के पोषक उसे कैसे पसन्द करते? भीख मागने के लिये फूल बेचने-वाली लदन की एक लडकी सिखा पढा कर लेडी बना दी जाती है। अब जैसा

जीवन उसे विताना पडता है, उसको अनुभव करने के वाद कहती है—"मैं फूल वेचा करती थी, लेकिन अपने को तो नहीं वेचती थी।" लेडी वन जाने के वाद वह विना अपने को वेचे जीवन-नैया को खे नहीं सकती थी। मुझे नाटक और अभिनय दोनों वहुत पसन्द आये।

१५ जून को अपने साढे चार सौ रूवल के विशेष राशनकार्ड से अपने लोगों की विशेष दूकान में चीज खरीदने गये। वहा से वहुत सा सामान लिया। दूकान से त्रामवाय तक सौ गज से ज्यादा नहीं रहा होगा, कुली करते तो नाहक १०–१५ रूवल चले जाते, और फिर त्रामवाय छोड अपने घर आने में भी उतना ही पैसा देना पडता। शायद पैसे की उतनी परवाह नही थी, लेकिन दूसरे प्रोफेसरों और अध्यापकों को देख रहे थे, वह भी २०–२५ किलोग्राम का वोझा उठाये आनन्द से चले जा रहे हैं, तो हमीं क्या घास-फूसके वने हुए थे? रास्ते में मास्को के परिचित रोमन-तियात्र के एक अभिनेता मिल गये। उन्होंने वतलाया, कि आजकल हमारी नाटक मडली यहीं आयी हुई है। उन्होंने आने के लिये वहुत आग्रह किया। वह लोग अस्तोरिया होटल मे ठहरे हुए थे।

१६ जून के भारतीय रेडियो से वायसराय की घोषणा सुनी, जिसमें उनकी कार्यकारिणी (मन्त्रि मडल) का भार काग्रेस, लीग, सिक्ख और ईसाई प्रतिनिधियों के हाथ में सौंपा जानेवाला था। काग्रेस की ओर से थे— जवाहरलाल नेहरू (उत्तर प्रदेश), राजगोपालाचार्य (मद्रास), वल्लभ भाई पटेल (वम्वई), म० प० इजीनियर (वम्वई), राजेन्द्रप्रसाद (विहार), जगजीवनराम (विहार), हरेकृष्ण महताव (उडीसा) और लीग के थे— मुहम्मद अली जिना, (वम्वई), लियाकत अली (उ० प्र०), मुहम्मद इस्माइल (उ० प्र०), नजीमुद्दीन (वगाल), अव्दुर्रव नश्तर (सी० प्रा०), सिक्ख प्रतिनिधि वलदेवसिंह (पजाव) और ईसाई थे जान मथाई (मद्रास)।

मुस्लिम लीग पाकिस्तान के सवाल को लेकर तनी हुई थी, इसलिये वायसरायने घोषित कर दिया था, कि यदि कोई पार्टी इन्कार करेगी, तो उसके स्थान पर दूसरे आदमी नियुक्त कर दिये जायेंगे।

राष्ट्रीय मंत्रि-मण्डल भारत में समाजवाद स्थापित करेगा, या आर्थिक समस्याओं को हल करेगा, इसकी संभावना तो थी नहीं, किन्तु गोरे हाथों से काले हाथों मे यदि शासन चला आये, तो क्रान्तिकारी शक्तियों को सीधे लडाई लडने में बहुत सुभीता हो जाता, इसलिये विदेशी काटे को रास्ते से निकलना अच्छी बात थी, इसे मैं मानता था। १७ जून की सूचनाओं से मालूम हुआ, कि कांग्रेस और लीगने अभी अपना निश्चय प्रकट नहीं किया। निश्चय करने में काफी समय लगा, लेकिन यह तो मालूम हो गया, कि अंग्रेज शासक युद्धपूर्व की स्थिति में लौट नहीं सकते।

२० जून को अस्तोरिया होटल गये। वहा से कुछ अंग्रेजी पत्रो को लेना था। कुछ चिट्ठिया हवाई डाक से भेजना चाहते थे, लेकिन अभी हवाई डाक का कोई इंतजाम नहीं था। हवाई डाक से भी उसे लंदन होकर जाना पड़ता और दोहरे तेहरे सेंसर भी काफी समय लेते। वहीं हमारी सिगान नाटक-मंडली के कलाकारो नीकोलाय नरोड्नी, लीना इवानोव्ना चीजेन्को तथा दूसरों से बडी देर तक बात होती रहीं। उस वक्त तक मैंने सिगानन-भाषा के सम्बन्ध में कुछ पुस्तकें पढ ली थीं, और हिन्दी तथा सिगान के सम्मिलित सौ के करीब शब्द मेरे पास थे। पहिले उन लोगो का विश्वास नहीं था, कि उनका भारत से कोई सबन्ध है। अब वह देख रहे थे, कि मैं और वह एक ही रंग-रूप के थे। जब मैंने उन शब्दों को पढकर सुनाया जो रूसी मे नहीं है, और हिन्दी मे जैसे के तैसे मिलते हैं, तो उन्हें विश्वास हो गया, कि वह भी इन्दुम् (हिन्दू) हैं। फिर उन्होंने भारतीय सिगानों के बारे मे पूछा। उनकी भाषा, संस्कृति, शिक्षा, पेशा, नृत्य-संगीत आदि के बारे मे कितने ही प्रश्न किये, लेकिन मैं अपने देश में यहा के सिगानो के सम्पर्क मे कभी कभी जेल मे आया था और तब भी मैंने इन बातो के सबन्ध मे विशेष पूछताछ नहीं की थी। लीना एक प्रौढा अभिनेत्री थी। सिगान नाटक मंडली की स्थापना मे उनका विशेष हाथ था और आज भी वह मंडली की ज्येष्ठा समझी जाती थी। वहा उनके साथ दो तरुण अभिनेत्रिया भी थी, जिनमे से एक असाधारण सुन्दरी तथा भौंहो, बालों

चेहरो पर मधुर सौन्दर्य के साथ अधिक गोरी भारतीय लड़की जैसी मालूम होती थी। उन्होंने यह विश्वास हो जाने पर कि भारत की मिट्टी से उनका बहुत घनिष्ठ संबन्ध है, भारतीय कला के बारे में पूछा और यह भी कि भारतीय कलाकार यहा क्यों नही आते? मैंने कहा— अंग्रेजों का राज्य हटने दीजिये फिर भारतीय कलाकार भी यहा आएगे, और आप लोगों को भी तो जाना चाहिये। लीना ने अपनी परम सुन्दरी लडकी की ओर देखकर विनोद करते हुए कहा— मैं तो चाहूगी अपनी बेटी को किसी इन्दुस् से व्याह दू। मैंने कहा- हमारे यहा तो अभी तक विवाह करने का अधिकार माता-पिता को ही है, यहा क्या यह तुम्हारी लडकी इस तरह के कन्यादान को पसन्द करेगी। इस पर लडकी ने कहा— हा, मैं इन्दुस् को पसन्द करूगी। वस्तुत सिगानों के रग और मुखमुद्रा मे भारतीयों से अब भी इतनी समानता है कि बाज वक्त लोग मुझे भी सिगान समझ लेते थे। ईगर को तो उसके साथी लडके लडकिया जब सिगान नहीं कहते थे, तो यूरेई (यहूदी) कहते थे, जिसका वह सदा प्रतिवाद करते हुए अपने को इदुस् कहता था। एक दिन मैं सास्कृतिक उद्यान में घूम रहा था। वहा दो सिगानिया मिलीं। उनमे से एक ने कहा— हाथ दिखा लीजिये। मैंने कहा— क्या रोमनियां रोम का भी हाथ देखा करती हैं? उसकी सखी ने कहा— हा, देख नहीं रही है, हमारे रोम (डोम) तो हैं। फिर उन्होंने कितनी ही बाते पूछीं और उनकी बातों से मालूम हुआ, कि अब भी हाथ दिखलानेवाले उन्हें कुछ मिल जाते हैं। पहिले सास्कृतिक उद्यान के पास ही उनका एक छोटा सा मुहल्ला बसता था, जिसमे इधर-उधर घूम कर वह आके रहा करते थे, लेकिन अब वह मुहल्ला उजड गया है। नवशिक्षित सिगान तरुण-तरुणियां अब सोवियत के साधारण जन-समुद्र में मिलते जा रहे है। यदि वह मुहल्ला रहता, तो मुझे तो अवश्य फायदा होता, मे उनके यहा कुछ समय देकर बहुत सी बातें जान सकता था।

२३ जून को ईगर कहीं से एक छोटी बिल्ली पकड लाया। वह जल्दी ही घर की बन गई, लेकिन खाती थी केवल मास, रोटी । तो छूती भी नहीं थी।

भला ऐसी मंहगी बिल्ली को कौन रखता। कुछ ही समय बाद वह जिसकी थी, उसके पास चली गई।

उस दिन अतवार था। हमारे साथी अध्यापक व्लादीमिर इवानोविच कलियानोफ के यहा दावत थी। ईगर और लोला के साथ हम वहां गये। भोजन के उपरान्त प्याले आये। ऐसे तो ईगर कह देता था मेरे पापा नहीं पीते, इसलिये मैं भी नहीं पीता, लेकिन आज मडली मे वह भी शामिल हो गया और चषक के लिये आग्रह करने लगा। जब कुएं में ही भाग पडी हो, तो बच्चा कैसे अपने को रोक सकता था। लेकिन कलियानोफ ने लाल रंग के शरबत को शराब कहकर उसके हाथ में दे दिया। थोडी ही देर में लोग कहने लगे- ईगर तेरी आखे लाल हो गई हैं। वह भी अनुभव करने लगा कि नशा चढने लगा है।

रातके एक बजे हम घर लौटे। वस्तुत- अब रात थी ही कहा? आधी-रात को भी हम लाल रग को पहिचान सकते थे। यह शुक्ला रात्रि का मौसम चल रहा था।

२५ जून को एक दिन के विश्राम का टिकट लेकर हम किरोफ संस्कृति उद्यान मे गये। खाने मे अभी कोई अन्तर नहीं आया था, वह फीका फीका था। वही काली रोटी वही काली खिचडी (काशा) और वही फीकी चाय। आजकल मास्को की रोम (सिगान) नाटक मडली उद्यान के थियेटर मे अपना खेल दिखा रही थी। नाटक का नाम था "गुरुमिका"। हमारे टिकट मे दर्ज स्थान रगमंच से बहुत दूर था, लेकिन सिगान मडली तो अपनी थी, इसलिये अभिनेताओं ने हम तीनों को पहिली पक्ति मे लेजाकर बैठा दिया। ३ घटे नाटक देखते रहे। ११ बजने लगा, तो घर जाने का भी ख्याल आया, इसलिये बिना अन्त तक देखे ही वहा से चल पडे। ईगर को तो तरुण सिगानुचकाओं ने इतना मोह लिया था, कि वहा से हटने का नाम ही नहीं लेता था। इस नाटक मे भी सिगान जीवन को ही दिखलाया गया था। इसमें इन की सिगान स्त्रियो की पोशाक पश्चिमी उत्तर प्रदेश की स्त्रियों के घाघरे कुर्ते, मलूके जैसी

१५—तिरयोकी में

युद्ध से पहिले तिरयोकी फिन्लैंडकी भूमि मे था । १६४० मे फिन्लैंड की सीमा लेनिनग्राद से १४-१५ मील पर थी, जिसे हमारी ट्रेन आधा घंटे मे ही पार हो गई । लेनिनग्राद शहर मे इतनी नजदीक एक अमित्र सरकार की भूमि रहने से खतरा था, इसीलिए रूस ने चाहा था, कि भूमि के बदले ड्योढी भूमि लेकर फिन्लैंड अपनी सीमा को कुछ दूर हटा ले, लेकिन फिन्लैंड ने इसे स्वीकार नहीं किया । जर्मनों का खतरा सामने देखते हुए, रूसियो को हथियार उठाना पडा । तिरयोकी और आगे विपुरी तक युद्ध की ध्वसलीला के चिन्ह अब भी बहुत दिखायी पड रहे थे । स्टेशनों और बस्तियों की इमारतें ध्वस्त थीं । उस समय की भीषण गोलाबारी में प्रकृति को भी बहुत हानि उठानी पडी थी, लेकिन उसने अपने सौंदर्य को फिर से स्थापित करने मे बडी शीघ्रता से काम लिया । लेनिनग्राद के शहर से निकलते ही पहिले कुछ खेत और बस्तिया आयीं । फिन्लैंड की पुरानी सीमा में घुसते ही वह दृश्य सामने आया, जिसके लिये फिन्लैंड विख्यात है । चारों ओर देवदार और भुर्ज के हरे जगल थे, घास की हरियाली भी फैली हुई थी, नाना प्रकार के सुन्दर फूल खिले हुए थे । जहा-तहा जल और छोटी छोटी

नदिया दिखाई पडती थीं। यह सौंदर्य लेनिनग्राद के बाहर मे शुरू हुआ, और आगे बढते हुये अपनी चरम अवस्था को पहुचा। रेल का किराया २ रूबल २० कोपेक था, बच्चों का किराया केवल ५५ कोपेक। प्रकृति के सौंदर्य को देखते हुए हम अंत में तिरयोकी स्टेशन पर पहुचे। वहा पर युनिवर्सिटी की बस आयी हुई थी—बस क्या खुली लोरी थी, जिसपर बेंचें लगा दी गई थीं। अभी लड़ाई का प्रभाव था, लेकिन हमारे लौटते समय कुछ नई बसें भी काम में आने लगीं थीं। थी तो युनिवर्सिटी की बस, लेकिन किराया तो देना ही था। ५–५ रूबल देकर हम आध घटे मे स्टेशन से अपने विश्रामोपवन मे पहुचे, जो वहा से सात आठ किलोमीतर था। यह महावन आदिकाल से कभी उच्छिन्न नहीं हुआ था। स्टेशन के पास बाजार था, उसके बाद बस्तियों का अभावसा, और ऊंची नीची पहाडी जैसी धरती पर घने जगलों के बीच से सड़क चली गई थी। समुद्र के किनारे के घने देवदार-वनों को मीलों तक भिन्न-भिन्न सस्थाओं ने आपस में बॉटकर वहा अपने विश्रामोपवन स्थापित किये थे। युनिवर्सिटी ने भी दस हजार एकड के करीब जगल घेरा था। हमारे पास ही इतूरिस्त ने भी अपना विश्रामोपवन कायम किया था और लडकों-लडकियों (प्योनीर, प्योनिर्काओं) के तो कई दर्जन सेनीटोरियम यहा मौजूद थे। लेनिनग्राद या त्रिपुरी की तरफ मीलों चले जाइये, जगल के बीच मे उसी तरह के कितने ही विश्रामोपवन मौजूद थे।

युनिवर्सिटी का विश्रामोपवन वस्तुत प्राकृतिक जगल था। प्रकृति की शोभा को बिगाड़ने की कमसे कम कोशिश की गई थी। इसी वन मे जहां-तहा कुछ छोटी-बडी इमारते थीं, जिनमे अधिकाश काष्ठ की थीं, और सोवियतकाल से पहिले की अर्थात् फिन् लोगों की बनाई हुई थीं। तिरयोकी जारशाही काल मे भी अपने प्राकृतिक सौंदर्य के लिये प्रसिद्ध थी, इसलिये धनी लोगों ने यहा अपने लिये बगले बनवा रखे थे। विश्वविद्यालय के उपवन की इमारतें भी अधिकतर उसी समय की बनी हुई थीं। नई इमारतों के बनाने की योजना तो बन चुकी थी, लेकिन अभी नगर में काम अधिक होने के कारण यहा काम बहुत

क्रम शुरू किया गया था। हम पहिले प्रबन्ध कार्यालय में गये। पता लगा लोला बिना अनुमतिपत्र के ही इगर को अपने साथ लायी थी। टीना गोल्डमान ने अपने लड़के का प्रबन्ध बालोद्यान में कर दिया था। बालोद्यानवाले ऐसे समयों में अहोरात्र के लिये लड़कों को ले लेते हैं, लेकिन लोला बेचारी अपने बच्चे को आंखों से दूर रखने के लिये तैयार नहीं थी, इसलिये अनुमति मिले या न मिले वह अपने साथ उसे लेती आयी थी। मैंने मनमें कहा—कागरू माता की जिम्मेवारियां नहीं जानती है। मुझे यह जानकर कुछ बुरा तो लगा, लेकिन चारा क्या था। प्रबन्धकों ने साथ रहने के लिये इजाजत दे दी, लेकिन कहा कि खाने का प्रबन्ध स्वयं करना पड़ेगा। लोला से यह भी नहीं हो सका था, कि शहर से चलते वक्त कुछ खाने की चीजें और रोटी लाये होती। नाम लिखा गया, फिर उपवन के छोटे से चिकित्सालय में डाक्टर ने भी परीक्षा करके वजन आदि के साथ कितनी ही बातें अपने रजिस्टर में लिखीं।

हमें तो यहां गंगोत्री की जाड़गंगा के किनारे का वह रम्य देवदार वन याद आरहा था, जिसे तीन वर्ष पहिले हमने देखा था। उसी तरह देवदार की घनी छाया थी, उसी तरह देवदार की भीनी भीनी सुगंध आ रही थी, यद्यपि यहां १० हजार फुट ऊंचा पहाड़ नहीं था, बल्कि हम फिन्लैंड खाड़ी के समुद्र के तटपर थे। वृक्षों में यहां देवदार-जातीय केलू अधिक थे। भुर्ज भी नजदीक में नहीं थे। आफिस के कामों से छुट्टी पाते तक हमारा सामान, हमारे कमरे में पहुंचा दिया गया। कमरा कहना उस शब्द का अपमान करना होगा। वस्तुत वह बड़ी बड़ी दियासलाई के दो मंजिला डब्बों जैसा लकड़ी का दरबा था। सभलकर न चलने पर सिर में टक्कर लगने का भी डर था। उद्यान में कुछ इमारतें अच्छी भी थीं। उनके कमरे बड़े बड़े थे, लेकिन वह एक एक आदमी को नहीं दिये जा सकते थे। उनमें से कुछ भोजनशाला के रूप में परिणत किये गये थे, और कितनों में एक-एक दर्जन चारपाइयां रखकर अधिक आदमियों के विश्राम का इंतिजाम किया गया था। हमें अलग कोठरी लेनी थी, सो कोठरी मिली। वह ५ हाथ लम्बी और ५ हाथ चौड़ी थी, जिसमें दो पतली पतली

लोहे की खाटे पडी हुई थीं, सिरहाने एक छोटी सी मेज और एक कुर्सी रख दी गई थी। इतनी छोटी होने पर भी जाडे मे गरम करने का इतिजाम था। तिरयोकी में जाडों में भी लोग आया जाया करते हैं। हमारे छात्र-छात्राओं मे से भी कुछ यहाँ दिसम्बर में चन्द दिनों के लिये आये थे। देवदार की लकडियों का मकान तो बुरा नहीं होता और यदि वारनिश न हो, तो एक तरह की उससे सुगन्ध आती। हमें ऊपरी मजिल पर कोठरी मिली थी। कोठरी की दो पतली चारपाइया तीन प्राणियों के लिये थीं। कोठरियों का द्वार एक पतले से बरान्डे की ओर खुलता था, जिसके एक सिरे पर नीचे उतरने की सीढी थी। कोठरी में जगला काफी बड़ा था, इसलिये हवा की कमी नहीं थी। कुछ वृक्षों के बीच से एक ओर समुद्र लहरें मार रहा था। यहा के समुद्र का जल उतना खारा नहीं था।

भोजन तीन बार मिलता था। आठ से दस बजे तक प्रातराश का समय था। भोजनशाला मे सभी एक साथ नहीं बैठ सकते थे, इसलिये कई टोलियों में होकर लोग अपनी निश्चित मेजपर बैठ जाते थे। मध्यान्होत्तर एक से तीन बजे तक मध्यान्ह-भोजन और सात से नौ बजे तक रात्रि भोजन। भोजन सुस्वादु नहीं था, इसकी सभी शिकायत कर रहे थे। लडाई के समय जो अभाव और अव्यवस्था हुई, वह अभी तक ठीक नहीं हो सकी थी। पाचिकायें कहती थीं हमें उतनी और वैसी सामग्री नहीं मिल रही है। कुछ महिलायें कह रहीं थीं यह स्वय खा जाती हैं।

मनोरजन का प्रबन्ध अच्छा था। समुद्र में तैरना और बालूपर धूप लेना, देवदार के जगलों मे मीलो घूमना तो था ही, इनके अतिरिक्त यहा कूलनघर की शाला में सौ कुर्सियां पड सकती थीं। वहा छात्र-छात्रायें, अध्यापक अध्यापिकायें दिन में जाकर अखबार और पुस्तकें पढ सकते थे, शतरज खेल सकते थे। शाला शाम के बाद नृत्य और गीत के अखाडे के रूप में परिणत हो जाती थी। हमारे पासपडोस मे कितनी ही दूसरी सस्थाओं के भी उपवन थे। भारत में यदि पुरी के समुद्र और गगोत्तरी की भैरवघाटी को इकट्ठा कर दिया जाय,

तो यह प्राकृतिक सुषमा मिल सकती है।

दिन में थोड़ा ही सोये, रात को तो खूब सोना ही था, लेकिन रात थी कहा ? यहा १० बजे शाम तक तो सूर्य की पीली पीली किरणें देवदार के शिखरों पर झलकती रहीं, फिर बेचारी गोधूलि आयी, सूर्यास्त हुआ, लेकिन उसके बाद ही उषा आ पहुची।

३ जुलाई को तिरयोकी आकर अब हम प्रकृतिस्थ हो गये थे। दो व्यक्तियों के भोजन का प्रबन्ध था, उसी पर तीनों का गुजारा करना मुश्किल था, इसलिये एक के भोजन का अन्वेषण करना जरूरी था। किसी ने आशा दिलायी, कि शायद राशन का काली रोटी मिल जाय। काली रोटी कहने से पाठकों को एक प्रकार की दुस्वाद रोटी याद आयेगी। हा, ऐसी भी रोटी है, लेकिन रूस में एक और भी कोयले जैसी काली रोटी होती है, जिसको एकबार खालें तो मुह से छूटेगी नहीं, वह इतनी सुमिष्ठ होती है। खैर, रोटी की चिन्ता तो थी ही और वह हमारी अपनी गलती से, क्योंकि अतिरिक्त राशनकार्ड से हमें बहुत रोटी मक्खन, मांस-मछली तथा दूसरी चीजें मिलती थीं, जिन्हें हम लेनिनग्राद से साथ ला सकते थे। यदि विश्वविद्यालय की लोरी में आते, तो यहा उपवन के फाटक के भीतर तक वह पहुचा देती। लेकिन अब तो फिर वहा से जाकर लाना था।

हमारे आगे पश्चिम की ओर समुद्र था। जिसके आगे कुछ कगार-सा था जिसके बाद यह देवदारों का जगल कुछ समतल भूमिपर था। क्लबघर करीब-करीब समुद्र तटपर था। बालू उसके बिलकुल पास तक चली आयी थी। इसके बाद हजारो वर्ष के प्राकृतिक परिवर्तन से एक के बाद एक छोटी छोटी पहाड़ियों की समतल सीढियाँ सी बन गई थीं, जिनके ऊपर देवदार के जगल खड़े थे। हमारे फाटक के बाहर ही लेनिनग्राद जानेवाली सड़क थी। युनिवर्सिटी का उपवन सड़क की दोनों तरफ था। सडक पर चलना मुश्किल था, क्योंकि अभी सड़क पक्की करके कोलतार नहीं किया गया था, जिसके कारण लोरिया धूल उडाती चलतीं थीं। इसीलिये सडक के किनारे से टहलना और धूल फाकने

का प्रयत्न करना एक ही था। टहलने को समुद्र के तटपर भी चल सकते थे, किन्तु वहा रास्ते में डले और पत्थर बहुत थे, भूमि भी ऊबड़-खाबड थी, इसलिये चलना सुखद नहीं था। हा, सडक के ऊपर की कम चलती एक दूसरी सडक टहलने के लिये बहुत अच्छी थी। वन में मलीना और जैम्ल्यान्का (स्ट्रा-बरी) के फूल फूल चुके थे, और जाने से पहिले यह खट-मीठे फल मिलनेवाले थे। खुम और गुच्छियों की फसल अगस्त मे आनेवाली थी, जबकि हम यहा से चले गये रहेंगे।

हमारे वासे से समुद्र की ओर देखनेपर उसके भीतर गधर्व नगर की तरह दूर क्रोन्स्तात् का मशहूर सामुद्रिक अड्डा था। जर्मन चारो ओर से प्रहार करते हार गये, लेकिन वह अजेय क्रोन्स्तात्को नहीं ले सके। खाड़ी बहुत उथली थी, बहुत दूर चले जानेपर भी पानी कमर-कमर तक ही मिलता था, जिससे तैरनेवालों को बहुत आगे जाना पड़ता। नीचे बालू अगर होती तो चलने मे अच्छा रहता, किन्तु पानी में पत्थरों के डले ऊमड-खावड बिछे हुए थे। हमारा काम था दिन में एक या दो मर्तबे समुद्र-स्नान करना, कभी क्लब की छोटी लाइब्रेरी मे जाकर अखबार पढना या दूसरों को नाचते-गाते मनोविनोद करते देखना। हमने यह बहुत जानने की कोशिश की, कि फिन लोगों ने इन इमारतों को किस अभिप्राय से बनाया था, लेकिन फिन्लैंड की लडाई के समय ही यहा के जितने फिन—नौकर-चाकर या आसपास की बस्तियों के किसान—थे, सभी अपने सकुचित होते हुए देश की ओर भाग गये। सौभाग्य से एक नौकरानी—जो बारहों महीना यहीं रहती थी, और हमारी कोठरी के नीचे रहती थी—उस युग को भी देख चुकी थी। उससे पता लगा, कि पहिले यहा फिन लोगों का एक होटल और रेस्तोरा था। जिन दियासलाई के दरबों मे हम लोग रह रहे थे, उनमे अतिथियों के लिये वेश्यायें रखी जाती थीं। मेहमान अलग-अलग बगलों मे रहते थे, मैनरहाइम-राज्य में इस उपवन की यह स्थिति थी। यह भी प्रश्न होता था, कि यहा के मकान युद्ध मे क्यों नहीं ध्वस्त हुये? शायद यहा जमकर लड़ाई नहीं हुई, लेकिन आसपास घूमनेपर मालूम हुआ कि ऐसी

आन नहीं थी। अब भी कितनी ही जगहों पर नोटिसें लगी हुई थीं—"माइनों से खबरदार"—अर्थात शत्रु को उड़ा देने के लिये धरती के नीचे बिछाई बारूद भरी माइनों को निकालने का पूरा प्रयत्न किया गया था, तो भी कहीं कहीं उनके होने की सम्भावना थी। भूतपूर्व चकलेवाले होटल की कायापलट देखते हुए मेरे मनमें तरह तरह की कल्पनायें आती थीं। कुछ ही वर्षों बाद जब यहां के मकानों की योजना कार्यरूप में परिणत हो जायेगी और भोजन की व्यवस्था भी ठीक हो जायगी, तो यह स्थान कितना सुन्दर और सुखद होगा।

८ जुलाई को समुद्र स्नान करने गये। पानी खारा नहीं था। वस्तुतः यह समुद्र भी तो नहीं था, समुद्र की एक मूंछ निकली हुई थी, जिसमें बहुत से नदी नाले मीठा पानी ला-लाकर डाल रहे थे। बहुत भीतर तक घुसे, किन्तु पानी पहिले घुटनों तक फिर जांघ तक आया। तैरने का आनन्द कहां था? यदि बहुत भीतर तक दीवार खड़ी करदी जाय, तो बहुत सी सूखी धरती समुद्र के उदर से निकाली जा सकती है, किन्तु इस देश में धरती की कमी थोड़े ही है, यहां अगर कमी है तो लोगों की। शाम को २ घंटे टहलने के लिये "पहाड़ी" से गये। यह स्थान और भी रमणीय था। देवदार और केनू के वृक्ष ही ज्यादा थे, जो बतला रहे थे, कि जाड़ों में आनेपर खाड़ी और भूमि सभी श्वेतहिम से ढकी होनेपर भी देवदार इसी तरह हरे भरे रहेंगे, अर्थात् उस वक्त लेनिनग्राद की तरह यहां हरियाली के लिये तरसने की जरूरत नहीं रहेगी। मकान की कमी अवश्य थी, स्थान जनाकीर्णसा मालूम होता था, पाखाना गंदा था, फ्लश का इंतिजाम नहीं था। इस समय सारी तिरयोकी के लिये सीवरेज के पाइप बैठाये जा रहे थे। अभी तो पाखाना जरूर बुरा लगता था। साफ करने का अच्छा इंतिजाम नहीं था। लकड़ियों को खड़ा करके जैसे तैसे पखाना खड़ा कर दिया गया था। तख्ते के ऊपर बैठकर पाखाना जाने को मन नहीं करता था। यद्यपि कुछ दवाइयां डाली जातीं थीं, लेकिन बदबू नहीं हटती थी। हमारी कोठरी के ठीक सामने और नजदीक होने के कारण हमें तो कभी कभी बदबू अपनी कोठरी तक में मालूम होती थी, इसके लिये हमें बरान्डे की

खिडकी और अपने दरवाजे को बन्द रखना पडता था। खैरियत यही थी, कि हम उस देश में नहीं थे, जहापर लोग लोटे में पानी भरकर पाखाने जाते हैं, नहीं तो न जाने गदगी कहा तक पहुचती। उपवन मे बिजली की बत्तिया भी एकाध ही जगह पर थीं। पीने के पानी की भी दिक्कत थी, लेकिन पहाडीपर उसके लिये नलके भी विछाये जा रहे थे। पानी और पाखाने की दिक्कत अगले साल तक खतम हो जायगी, यह रग ढग से मालूम हो रहा था।

पहाडी से मतलब हमारा है ऊपर की ओर कुछ ऊचाई पर दूर तक चली गई समतल भूमि और उसे ढाके हुए देवदार-वन। पहाड़ी पर जहा तहा छोटी छोटी कुटिया थी, जिनके पास साग सब्जी के खेत थे। पहिले इन कुटियों मे फिन किसान रहते होंगे, अब उनमे रूसी भूतपूर्व सैनिक परिवार आ बसे थे। लेकिन वह अभी थोडे ही खेतों को आबाद कर सके थे। इस अक्षाश मे अच्छे सेबों के होने की सभावना नहीं है, लेकिन साग-सब्जी और आलू तो प्रचुर परिमाणों में पैदा हो सकता है। पहाडी पर घूमते समय मुझे याद आरहा था सिकिम में तिब्बत जानेवाले रास्ते पर १० हजार फुट की ऊचाई पर बसा लाछेन गाव, जहाँ फिन-जातीय मिशनरी बुढिया डेरा लगाये हुए है। यदि मुझे यहा हिमालय याद आता था, तो उसे फिनलैंड की देवदारु वनाच्छादित भूमि याद आती होगी।

तिरयोकी में मेरी दिनचर्या थी—सवेरे साढे आठ बजे उठना, हजामत कर मुह-हाथ धोना। लोला को अपने प्रसाधन और ईगर को खिलाने मे काफी समय देना पड़ता था। प्रातराश का समय ८ से १० बजे तक था, मगर १० बजे से पूर्व हमारा वहा पहुचना मुश्किल था। हम आखिरी बेच मे भोजनशाला मे जाते। तीन-चार बड़े बडे कमरे भोजनशाला का नाम दे रहे थे, जिनमें से एक एक में आठ-आठ नौ-नौ मेजें, और हरेक मेज पर चार-चार आदमियों के बैठने के स्थान थे। प्रातराश मे मिलते टोस्ट, मक्खन और चाय या काफी। चाय काफी में इतनी चीनी डाली जाती थी, जिसमें नाम होजाय, लेकिन वह मीठी न होने पाये। भोजन सुस्वादु बनाने के लिये लोग अपने साथ लाई चीजें लाते थे।

२ बजे तक का समय लिखने पढने या पास की देवदारुवनि अथवा समुद्र की बालुका पर बिताते थे। फिर मध्यान्ह भोजन के लिये जाते। घास-पात का सूप, छुन्द रोटी, शोकलात (चॉकलात, चोकलेट) और कोई कम मीठी दूसरी चीज। एक तश्तरी मांस सहित होती थी। जहा तक मात्रा का सवाल था, वह पर्याप्त थी, लेकिन गुण के लिये अपनी सामग्री को इस्तेमाल करना पडता था। दु:स्वादु भोजन तैयार करने मे यहा की सूपकारिणिया पारितोषिक पाने की अधिकारिणी थीं, इसमें कोई सदेह नहीं। भोजनोपरान्त फिर समुद्र की ओर जाते, जहा कुछ देर तक नहाना होता, फिर आकर लिखने-पढने में लग जाते। ७ से ६ बजे तक ब्यारू का समय था, लेकिन सूर्यदेव का दर्शन १० बजे तक होता रहता था—यह जुलाई का प्रथम सप्ताह था। कहने की अवश्यकता नहीं कि आजकल सर्वश्वेता रात्रि थी, इसलिये निद्रा के आवाहन के लिये अधेरे का सहारा प्राप्य नहीं था। हम ब्यारू से साढे आठ बजे के करीब निवृत होते, फिर टहलने के लिये "पहाडी" पर जाते। समुद्र-तट पर रोड़े दु:खदायक थे, और राजपथ पर लगातार आती जाती मोटरें धूल उडाती थीं।

६ जुलाई— समुद्र आज भी कल की तरह शान्त था। हमारी फेकल्टी के डीन प्रोफेसर स्ताइन से भारत के सबन्ध में कितनी ही देर तक बातचीत होती रही। भारत मे अग्रेज नई नीति स्वीकार करने जा रहे हैं, जिसमें शासन और-शोषण मे वहां के मध्यवर्ग को शामिल करना चाहते हैं। लेकिन कितने ही और अध्यापकों की तरह इस बातपर उनका भी विश्वास नहीं था, इसलिये अभी वह भारत को विश्वराजनीति में कोई महत्व नहीं देना चाहते थे।

स्टेशन के लिये सवारिया कभी कभी मिलतीं, इसलिये लेनिनग्राद आनेवालों को पाच-छ मील का रास्ता पैदल काटना पडता। वैसे लेनिनग्राद के लिये भी कभी कभी बसें या लारिया मिल जाती थीं। माल ढोनेवाली लारिया तो लगातार चलती रहती थीं, किन्तु उनमें बैठने की जगह ड्राइवर के परिचय बिना मुश्किल से मिलती थी। आज लोला को रसद लाने के लिये लेनिनग्राद जाना था। पैदल गई, हम भी कुछ दूर तक धूल फाकते हुए पहुचाने गये।

मध्यान्ह—भोजन के समय आज मलाई-बरफ का ठेला भोजनशाला के बाहर खडा हो गया था। सौ-डेढ-सौ मेहमान जहा खरीदने को तैयार हों, वहाँ क्यू की पाती क्यों न लग जाती? हमने भी ४ ८० रूबल में ईगर के लिये बिस्कुट मलाई ली। रुपये का हिसाब करने पर यह तीन रुपया होता, लेकिन विनिमय के इस हिसाब को हमें ख्याल में नहीं लाना था। चीजों के सस्तेपन का प्रमाण हम इस बात को मानते थे, कि उनके ऊपर खरीदार कितने टूट रहे हैं। बात की बात में ठेला खाली हो गया। ठेले का आना अच्छा सगुन था। राशन से भिन्न और भोजनशाला से अलग भी स्वादिष्ट खाद्य वस्तुए तो खरीदी जा सकती थीं।

रेडियो से दूर होने के कारण मैं जैसे तिब्बत में आ गया था। दो-एक-दिन बाद लेनिनग्राद की "प्राव्दा" आ जाती थी। तिरयोकी से भी हमारे साप्ताहिकों के आकार के दो पृष्ठों का तिरयोकी पार्टी का पत्र निकलता था, लेकिन उसमें केवल स्थानीय कलखोजों (पचायती खेतीवाले गावो) की बातें ही भरी रहती थीं, और विदेशी क्या स्वदेशी समाचार भी नहीं आते थे। हा, खेतो मे कैसी फसल है, क्या काम हो रहा है, कारखानों की क्या हालत है, पुन-र्निर्माण के बारे में क्या हो रहा है, तथा स्थानीय पार्टी क्या कर रही है—यही सब बातें उसमें रहती थीं। ऐसे दो पृष्ठवाले अखबार सोवियत रूस मे देहातों मे आमतौर से निकला करते हैं, और स्वावलम्बी हैं, इसके कहने की अवश्यकता नहीं। आज रातको अमेरिकन फिल्म "चोचका चार्लि" दिखलाया गया। रूस के गावों मे भी चलते-फिरते फिल्म बराबर दिखलाये जाते हैं, कोई हफ्ता नहीं जाता कि गाव मे सिनेमा की लारी न आती हो। लारियों मे बिजली का भी प्रबन्ध रहता है, इसलिये अगर गाव बिजलीवाला न भी हो, तबभी फिल्म दिखलाने में कोई दिक्कत नहीं होती। हमारे यहा बाकायदा सिनेमावाली लारी नहीं आयी थी। खबर सुनते ही लोग अपनी कुर्सियों पर आ डटे थे। ईगर को भी भनक लग गई थी, लेकिन मैंने किसी तरह समझा-बुझाकर उसे सुला दिया, ११ बजे गोधूलि थी, जब कि फिल्म आरम्भ हुआ।

[illegible] का दिन था। [illegible] रात की थी। वर्षा हो गई थी, जिससे [illegible] थी। सागर उद्वेलित था। निग्गोरी का यह [illegible] सेनिटोरियम [illegible] था। उद्यान में [illegible] और कम्पौण्डर [illegible] था। [illegible] के पास छोटा पुस्तकालय था, जिसकी शाला [illegible], [illegible] और बीन में आया करते थे। क्रीडाशाला अलग थी। अभी [illegible] करना पड़ रहा था, क्योंकि पांच हाथ लम्बी पांच हाथ [illegible] कोठरियों में दो-दो आदमी भरे हुए थे, लेकिन लोग आशा कर रहे थे [illegible], जबकि स्थान की योजना कार्यरूप में परिणत हो जायेगी, [illegible] प्रत्येक [illegible] को एक एक कमरा मिल जायेगा। आज एक छोटा सा नाटक और [illegible] हुआ, जिसके [illegible] हमारे छात्र थे। बचपन से ही नाटक [illegible] का अभ्यास होने के कारण छात्रों को अपना पार्ट अदा करने [illegible] नहीं होती थी, इसलिये उस मनोरंजन को निम्न कोटि का नहीं कह सकते थे। [illegible] दिन भी बूंदाबांदी रही, रात को तो काफी वर्षा हुई। [illegible] और [illegible] हो गई। सागर भी उच्छ्वास ले रहा था। उपवन में [illegible], और टेनिस खेलने के क्षेत्र थे। हम कभी कभी देखने के लिये चले जाते थे। खेलनेवालों में लड़कों की संख्या कम और लड़कियों की अधिक थी। बोलाबाल के कई क्रीडा-क्षेत्र थे। पास ही लक्ष्य गाडकर एक बन्दूक रखी रहती थी। लोग वहां निशाने का अभ्यास करते थे। एक रूबल में १० "गोलिया" मिल जाती थीं—वस्तुतः यह गोलिया नहीं बल्कि छोटासा बाण होता था। लोगों को लक्ष्यवेध की कोशिश करते देख मैंने भी दो एक रूबल खर्च किये, लेकिन लक्ष्यवेध कभी नहीं कर सका। यह अभ्यास केवल मनोरंजन के लिये नहीं था, क्योंकि अभ्यास करनेवालों को समय पडने पर बन्दूक लेकर रण-क्षेत्र में उतरना होगा। वैसे यह मनोरंजन के सिवाय उतनी आवश्यक चीज नहीं थी, क्योंकि सोवियत के हरेक नागरिक के लिये बरस-दो-बरस की सैनिक शिक्षा अनिवार्य है, तथा स्कूलों से ही लड़के लड़कियों को कवायद परेड सिखाई जाने लगती है।

ईगरको अपने दोस्त मिल गये थे, समवयस्क नहीं बल्कि युनिवर्सिटी की छात्रायें और प्रौढायें, जिनसे वह कहानी सुनता गाने याद करता। इन "दोस्तों" का कहना था। यह लड़का गायक और अभिनेता होगा। गायक होने मे संदेह है, लेकिन अभिनेता शायद अच्छा-बुरा हो जाय, यह मैं भी मानता था। उसके स्कूल का प्रथम वर्ष मा के दुराग्रह के कारण बरबाद हो रहा था, लेकिन नये दोस्तों के संपर्क मे आने के कारण उसको अक लिखने का शौक हो गया था और कुछ ही दिनों में १०० से ऊपर पहुच गया। अक्षर और नाम लिखने को उसका मन नहीं करता था। वह केवल अपने मन का काम करना पसन्द करता था। उस दिन लोला को लेनिनग्राद से लौटना था। १०-११ बजे रात तक प्रतीक्षा करके निराश हो गये थे, जबकि १२ बजे रातको वर्षा में भीगती खाद्य-सामग्री से लदी-फदी चार पाच किलोमीतर की पैदल यात्रा करके लोला रानी पहुचीं। समय की पाबन्द होती, तो इतनी देर करने की अवश्यकता नहीं थी, लेकिन १२ बजे रात्रिका मतलब अधेरा नहीं था।

टहलने के लिये एक-दो मील जाकर लौट आते थे। ९ जुलाई को हमने कदम कुछ आगे बढाया। ९ बजे निकले। अधेरे का डर नहीं था, इसलिये सारी रात घूम सकते थे। सडक से तीन किलोमीतर से ऊपर समुद्र के पासकी सडकसे गये। क्लिोमा स्टेशन मिला। पानी बरस जाने से गर्द नहीं उड़ रही थी, इसलिये हमने सडक पर टहलने की हिम्मत की थी। लारियों और मोटरों की दौड बराबर जारी थी। एक जगह आमने-सामने से आने वाली दो लारिया लड गई थीं, जिसमे एक ड्राइवर और उसकी सहायिका घायल हो गई थी। पुलिस बयान ले रही थी। आगे बाई ओर से पहाडी की ओर मुडे। "पहाडी" के द्वार पर मचान बंधा था, जिसपर से लडाई के समय छिपे हुए बन्दूकची शत्रुओं पर निशाना लगाते रहे होंगे। जहा तहा खाइया अब भी वैसी ही पटी थीं। पहाडी चौरस मैदान जैसी थी। यहा बहुत सारे मकान खडे थे। पहिले मकान का हाता बहुत विशाल था, उसके कोने पर छतरी सी थी, जहा बैठकर फिन-देवियां समुद्र की लहरें गिना करती थीं। आज वह लेनिनग्राद के

[illegible] की [illegible], [illegible] में पहिले जिन [illegible] और धनिकोंने भी [illegible] किया था। [illegible] । एक विशाल प्रासाद [illegible] [illegible] थी। पहिले यहा [illegible] [illegible], किन्तु आजकल [illegible] [illegible] धरती पर उतरते [illegible] भिन्न-भिन्न संस्थाओं [illegible] बन रहे थे। आदमी [illegible] था। [illegible], [illegible] जैसे नाम अब [illegible] [illegible] था। उसकी नदी [illegible] लेनिनग्राद [illegible] के रास्ते में दूर [illegible] है। १२ बजे टहल [illegible] मालूम होता था।

[illegible] — [illegible] बनाली, ऊची नीची [illegible] भूमि और अपनी [illegible] झीलों के लिये विख्यात है। [illegible] ११ बजे [illegible] हम मेनरहाइम दुर्गपंक्ति देखने गये। [illegible] में लड़ाई के समय मेनरहाइम पंक्ति को जर्मनी "सिग्फ्रिड" और फ्रान्स के "मजिनो पंक्ति" [illegible] कहा जाता था, इसलिये जब उसे देखने का [illegible] साथियों ने किया, तो मैंने बड़ी उत्सुकता से उनका साथ दिया। लेनिनग्राद से ६८ वें किलोमीतर पर पहाड़ समुद्र से बहुत नजदीक आगया है। यहां से यह दुर्गपंक्ति शुरू होती है, और पूरब मे लाडोगा महासरोवर तक चली जाती है। टैंकों और दूसरे युद्धवाहनों को रोकने के लिये तीन तीन टनकी बगैर [illegible] चट्टानें चौड़ाई में ३–३, ४–४ रखी हुई थीं। इन चट्टानों को तोड़े बिना कोई युद्धवाहन आगे नहीं बढ सकता था। नीचे कहीं कहीं, भूगर्भी तोपस्थान थे, जिनके उपर बहुत मोटी सीमेन्ट की तह थी। एक जगह तो इस मैली पहाडी मे इतना मजबूत दुर्ग बना था, कि उसको उडानेपर वहा गहरी खड्ड बन गई, तब जाकर पर्वत-समुद्र द्वार को पार करने मे सोवियत टैंक समर्थ हुए। यहां से हम दुर्गपंक्ति के साथ साथ पहाड़पर चढे। पहाड चढने का

मतलब कोई हिमालय या विन्ध्याचल जैसा पहाड चढना नहीं था। हैं तो यह भीतर पत्थर के ही पहाड, किन्तु ऊपर की मिट्टी इतनी धुल नहीं पाई कि वह पहाड का रूप लेते। हाँ, समुद्र की तरफ से जाने पर थोडी सी चढाई जरूर चढनी पडती है। इसी वजह से इन्हें पहाड कहने में सकोच होता है। धरती यहा चढाव-उतार चली गई है, जिसके नीचे पत्थर की चट्टानें ढकी हुई हैं। मैनरहाइम दुर्गपंक्ति इस चढा-उतार पहाडी भूमिपर चलती चली गई है। पंक्ति के परले पार एक गाव दिखाई पडा। कुछ लकडी और एक लाल खपरैल से छाया मकान भी था। गाव में अब रूसी रहते हैं, घरों के बनाने वाले तो, कबके उन्हें छोडकर चले गये। मलीना और जिम्ल्याका (स्ट्रावरी) बहुत थीं, लेकिन अभी पकी नहीं थीं। याग्दी (एक जगली मकोय) बहुत थी, जिसका स्वाद करोंदे जैसा मालूम होता था। इस गाव मे आलू के खेत ज्यादा थे, लेकिन सिंचाई का प्रबन्ध न होने से दैव भरोसे ही खेती की जा सकती थी। लौटकर लारी से फिर दो फर्लांग आगे ६६ वें क्लिोमीतर तक गये। यह सडक त्रिपुरी (वीबुर्ग) जा रही थी। ६६ वें किलोमीतर पर एक टूटा हुआ गिरजाघर मिला, जिसकी दीवार पर अब भी क्रास (सलेब) लगा हुआ था। यहा युद्ध द्वारा ध्वस्त बहुत से घर कंकाल रूपे में या जमीन दिखलाये पडे हुए थे। शायद फिनोंने इस ऊंचे स्थानको दुर्गके तौरपर इस्तेमाल किया, जिसके कारण गिरजा को बरबाद होना पडा। कितने ही लोग अपनी बहुज्ञता का परिचय देते कह रहे थे यह "माइनरग्रीम" का महल है। फिनो से माइनरहाइम का ही नाम जानते थे, इसलिये हर बडी इमारत उनके ख्याल मे माइनरहाइम का महल था। इससे जरा नीचे एक छोटी सी पर्याप्त पानीवाली नदिका बह रही थी, जिसका पानी काला था— उसे आसानी से काली नदी कहा जा सकता था। काली नदीने भी उस समय रक्षापंक्ति का काम दिया होगा। यहा कुछ आलू के खेत थे। एक स्त्री केवल स्तनबन्ध और घाघरा पहिने अपने आलू के खेतो मे काम कर रही थी। कई दृश्यों के फोटो लिये थे, लेकिन हमारे परिचित वृद्ध फोटोग्राफर की असावधानी के कारण वह खराब हो गये। ढाई घंटे की यात्रा के बाद हम लौटे।

[illegible] विश्रामस्थान चले गये थे। [illegible], [illegible] जनशालायें [illegible], [illegible] संस्थाओं ने अपना [illegible] जमाया था। भोजन-[illegible], [illegible], सभी जगह मौजूद था।

२२ [illegible] को [illegible] फिर [illegible] गरम हुई। अभिनेता [illegible] थे। आखिरी अभिनय था [illegible] सोच रहा है, फिर [illegible] पीने बैठ जाता है। एक [illegible] दूसरी बोतल उठाता है। इसप्रकार [illegible] बोतल के अनुसार उसकी [illegible] जाता था। देखकर लोग लोट पोट हो रहे थे। [illegible] इतना जोर से हसने लगा, कि उसके [illegible] हो गया। अन्त में छठी बोतल खतम कर वह प्रेमिका के पास पहुँचता है। [illegible] झिड़कती है। न कोई साज सामान था, न रंगमंच पर [illegible] के सिवा और कोई पर्दे का प्रबन्ध था, न अभिनेता छात्र-छात्राओं ने विशेष पोशाक ही इस्तेमाल की थी, लेकिन अभिनय मनोरंजक था।

सरोवर [illegible]—१२ जुलाई को प्रोफेसर स्ताइन, उनकी पत्नी तथा एक दूसरे सपत्नीक प्रोफेसर के साथ हम सरोवर देखने गये। हमारे उपवन से वह तीन-चार किलोमीतर पर अवस्थित था, इसलिये पैदल ही चल पड़े। रास्ते में लेनिनग्राद से विपुरी जानेवाली रेल सड़क मिली। कुछ आगे बढ़ने पर देवदारों का घना और सुन्दर जंगल आया। यहां केवल देवदार (योल्का) के वृक्ष थे। एक जगह बायीं ओर जमीन के कुछ ऊंची हो जाने के कारण दृश्य बिलकुल हिमालय जैसा मालूम होता था। घने जंगल में दो किलोमीतर चले गये। फिर केलू (सरल) के वृक्षों की प्रधानता आयी। यहां युद्ध के अवशेष—खाइयां और भूधरे बहुत से मौजूद थे। सरोवर खुकड़ी के आकार का था। जान

पडता था, युद्ध से पहिले सैलानियों की यह प्रिय भूमि थी, इसीलिये सरोवर के पास दो कमरो का एक अच्छा खासा बगला था, जिसको जाडों में गरम करने का भी प्रबन्ध था। शायद युद्ध के समय यहां अफसर रहे हों। सरोवर काफी लम्बा था। पानी नमकीन नहीं मीठा था, जिसमें मछलिया बहुत थीं, कुछ नावें भी थीं। पुराने निवासी फिन लोग चले गये थे, और नये निवासियों से युद्ध के पहिले की अवस्था के बारे में, जितना जाना जा सकता था, हम उसे अपनी कल्पना से जान सकते थे। रास्ते में कितने ही झोपडों को हमने उजाड देखा था। कितने ही खेतों में, जान पडता था, १९४० के बाद फसलें नहीं बोई गयी थीं, इसलिये घास उग रही थी। कुछ में गेहू भी लगे हुये थे, लेकिन आसपास आदमियों का पता तथा जुताई का चिन्ह लुप्त होने के कारण यही कह सकते थे, कि न कटे हुए गेहू झडकर यहा स्वय जगली गेहू के रूप मे फसल तैयार करने लगे। ऐसे लाखों एकड खेत और सैकडों हजारों गाव इस भूमि में परित्यक्त पडे हैं, आबाद करने के लिये आदमी मिलने मुश्किल हैं। सोवियत रूस का क्षेत्रफल ७ भारत के बराबर है, और आबादी भारत से आधी। मुझे कभी कभी ख्याल आता था—यदि हमारे यहा की एक साल की जन-सख्या की वृद्धि यहा भेज दी जाती, तो यह सारी भूमि आबाद हो जाती। लेकिन हमारे मैदानी लोग यहा की सरदी आसानी से बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। खैर, भारत के लिये अपनी आबादी को कहीं बाहर भेजकर अपनी समस्या हल करने का द्वार चारों ओर से बन्द है। रूस मे नहीं जा सकते, यद्यपि वहा काले गोरे का प्रश्न नहीं है। आस्ट्रेलिया के एक करोड गोरों ने एक महाद्वीप को दखल कर लिया है, जिसमे कालों का प्रवेश निषिद्ध है इसलिये वहा भी नहीं जा सकते। दक्षिणी अफ्रीकावाले हमारे उन बन्धुओं को भी निकाल बाहर करने पर तुले हुए है, जिनके जागर मे वह भूमि आदमियों का सुख-निवास बनी।

लेनिनग्राद से ६६ किलोमीतर तक की भूमि को देखने से मालूम हो गया, कि कुछ ही वर्षों मे यह भव्य ग्रीष्मनिवासों की भूमि बन जायगी, लेकिन इस तरह की जो कितनी ही झीलें कितने ही परित्यक्त ग्राम या रमणीय स्थान

हैं, उनको कब तक बसाया जायगा? सोवियत में तो हर जगह खाली जमीन पडी हुई है। युद्ध में ७०–८० लाख आदमी मारे गये, जिनकी पूर्ति करना भी समयसाध्य है, तो भी इस भूमि के महत्व को यहा के शासक जानते हैं, इसीलिये दूसरी जगहों से लाकर लोगों के बसाने की कोशिश कर रहे हैं। इनमें कितने ही भूतपूर्व सैनिक हैं। सरोवर के तट के काठमाएडव में नया मछुवा-परिवार आकर बसा था। मछुवाही के अतिरिक्त उन्होंने खरगोश भी पाल रखे थे, कुछ साग-सब्जी भी लगा रखी थी। सामने उस पार एक "दाचा" (ग्रामीण विश्राम-गृह) दिखाई पडा, जहा नाव से पहुचा जा सकता था। अतिहरित देवदारों के बीच मे यह काला सरोवर बहुत ही सुन्दर मालूम होता था, लेकिन इस सौंदर्य का आनन्द लेने के लिये यहा कितने ही और घरो और मछुवे परिवारों की अवश्यकता होगी। जगल में इन लकडी के घरो की खिडकियो मे भी शीशे लगे थे। उनके विना जाडे में घरको गरम कैसे रखा जा सकता था? रूस मे तो सरदी के मारे सभी दरवाजे और खिडकियां दुहरे बनाये जाते हैं। आज पकी चोर्नीया (काली) यागदी (मकोय) यहा बहुत थी। सारे विश्रामविहारी उसे जमा करने में लगे थे। यहा आनेवालों मे हमीं सात आदमी नहीं थे, वल्कि भिन्न-भिन्न विश्रामोपवनों के सैकडो नर-नारी और बच्चे पहुचे हुये थे। दो बच्चियों ने मकोय खा खा कर अपने होठों और दातो को काला कर लिया था। जहा पाव भर मकोय का दाम दो तीन रुपया हो, वहा जगल मे उन्हें मुफ्त जमा करने और खाने मे कितना आनन्द आता होगा, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। आस-पास की ग्रामीण स्त्रिया मकोय लेकर हमारे यहा पहुचा करती थी, और नाप नाप कर अपने फलों को बेंचा करती थीं।

छात्र-छात्राओं को विश्राम का टिकट १५ दिनों का मिलता था। पन्द्रह तारीख को अब पहिले के आये छात्र-छात्रायें लौट गये, जिससे उद्यान में उदासी भी आ गई। उनके रहने से कभी संगीत, कभी अभिनय और खेल द्वारा मनोरंजन रहता था। उनमें से बहुत से परिचित हो गये थे। परिचित लोगों के अभाव के कारण मनुष्य का हृदय एकान्त अनुभव करता है। लेकिन [illegible]

एक महीने के लिये आये थे, इसलिये हमारे सहकारी परिचित अभी रहनेवाले थे। समुद्र-स्नान प्राय रोज ही और कभी कभी दिन मे बार होता था।

१७ जुलाई तक नये आने वाले आ पहुचे। मकान तो फिर भर गये, किन्तु अभी पहिले जैसी धूम नहीं थी। दो-तीन दिन तो परस्पर परिचय के लिये चाहिये। परिचय-स्थान क्रीडा-क्षेत्र और नृत्यशाला थी। विद्यालय मे पाच छात्राओ के पीछे एक छात्र का क्रम भी नहीं था, इसलिये छात्र दुष्प्राप्य थे, तो भी मुँहदब्बू तरुण सहभागिनी तरुणी पाने में समर्थ नहीं होते थे। मात्रा से अधिक मुहजोर तरुण भी निराशा का मुह देखते थे। छात्रों को यहा एक-एक कोठरी मे सात-सात आठ-आठ की सख्या मे रखा जाता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि छात्र-छात्राओ की कोठरिया अलग-अलग होती थीं। स्नान के स्थान मे, समुद्र मे या रेत पर अर्धनग्न तरुण-तरुणियां नहाते या धूप में शरीर सेकते, बिना सकोच अकृत्रिम भाव से घटो पडे रहते। १२ बजे रात तक उन्हे हाथ में हाथ मिलाये वनस्थली मे घूमने की स्वतत्रता थी। चुम्बन भी इन देशों में कोई महार्घ वस्तु नहीं है. उसे तो अधिक परिचित व्यक्तियो का परस्पर साधारण शिष्टाचार माना जाता है। लेकिन हाथ मे हाथ डालकर घूमने, चुम्बन या पार्श्वालिंगन का यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि सबध यौन-ससर्ग तक पहुच गया है। वस्तुत स्वच्छन्द नर-नारियों के इन जैसे देशों मे भारतीय तर्कशास्त्र बेकार हो जाता है। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं, कि वहा सभी अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करते है।

हमारी कोठरी के नीचे रहनेवाली परिचारिका का छोटा सा लडका अलेक करीब करीब उसी उम्रका था जितना कि ईगर। कद मे वह छोटा था, उसके बाल बिलकुल पीले, और रग अत्यत गोरा था। फिन माता का पुत्र होने से नाक और चेहरा वैसा ही था, जैसा कि हमारे यहा के किसी शुद्ध द्रविड का। अलेक ने हाथ-मुह धोने का एक नया आविष्कार किया था। अभी नल और बिजली का प्रबध अच्छी तरह नहीं हुआ था, उसने अपने मुह को तराका बना लिया था। टमलर मे पानी ले बाहर आता, फिर मुह ने पानी

हिटलर के अत्याचारों से पीडित कुछ जर्मन विज्ञानवेत्ता भागकर पश्चिमी युरोप और अमेरिकाके देशों में चले गये थे, जिनकी सहायता और अपने अपार यान्त्रिक साधनों का प्रयोग करके अमेरिका सबसे पहिले अणुबम बनाने मे समर्थ हुआ और ट्रूमन और चर्चिल जैसे महान् राक्षसों ने यह निर्णय करते जरा भी आनाकानी नहीं की, कि हारने के लिये तैयार जापान के दो नगरों के लाखो निरीह मनुष्यों पर अणुबम छोडा जाय । यद्यपि सोवियत में यह बडी गुप्त बात थी, तो भी यह पता लगता था, कि सोवियत विज्ञानवेत्ता अणुबम और अणु-शक्ति के आविष्कार की तैयारी मे लगे हुए हैं । जिन परिवारो के व्यक्ति इन अनुसधानों मे भाग ले रहे थे, और अपने नगरों से दूर गये हुए थे, उनको किसी न किसी तरह अपने आदमियो का पता लगता था, जिससे लोग जानते थे कि सोवियत में इस दिशा मे काम बडी तत्परता से हो रहा है ।

१९ जुलाई को भी समुद्र उत्तरंगित रहा । हम भी नहाने नहीं गये । तिरयोकी मे अब मच्छरो की सेना आ पहुची थी । खटमल और पिस्सू पहिले भी कुछ सख्या में मौजूद थे, लेकिन तब तो केवल रातको ही अपना प्रभुत्व दिखलाते थे । यह मच्छर (कमारोफ) देवता न तो दिन को दिन गिनते थे, न रात को रात । तीनों की मार मे अब मन परेशान रहने लगा । पाखाने खुले हुए थे । पानी के निकलने का प्रबन्ध नहीं था, यही कारण मच्छरों की अधिकता का हो सकता था । मोरी के नल बैठाये जा रहे थे, उस समय शायद जल से बहाये जाने वाले पखाने के कारण मच्छरों की कमी होजाय । लेकिन जहां तहां दलदली भूमि भी थी, जिसमें सडती हुई घासों पर पानी उछलना दिखाई पडता था । मच्छर वहा अपना बसेरा कर सकते हैं ।

२० जुलाई को अब कुछ निठल्लेपन की एकान्तता सी मालूम होती थी । कोई ऐसा काम नहीं कर रहे थे, जिससे आत्मसतोष होता । २० को नहाने गये । दो दिनों के उत्तरंगित समुद्रने अपने भीतर की कितनी ही चीजें बाहर किनारे पर वमन कर दिया था और वहा हरी काई की मोटी तह पड़ी हुई थी, जिसमें कुछ घोंघों जैसे सामुद्रिक प्राणियों के अवशेष भी मौजूद थे । हमारे उदर

बहुत आती थी। गदे पानी मे नहाने से शरीर का कपडा भी गंदा हो जाता। किनारे से काफी दूर भीतर घुसने पर पानी कुछ कुछ साफ था। आज स्नान के शौकीन कम दिखाई पडे। समुद्र के उथले पानी में छोटी छोटी मछलिया अक्सर दिखाई पडती थीं। ईगर भी कुछ मछलिया पकड लाया था और उन्हें उसने पानी डालकर टीनमें रखा था। तीन मछलियों में एक गुम हो गई थी, एक मरणासन्न मालूम हो रही थी। हमने कहा— इन्हें समुद्र में डाल दो। लेकिन पालने का आग्रह था, किन्तु तो भी उसने इस बात को अनुभव किया, कि मछलियों को तड़पाकर मारना अच्छा नहीं है, इसलिये मछलियो को समुद्र में छोड आया।

खाने-पीने का प्रबन्ध अभी अच्छा नहीं था, यह हम कह आये हैं। साथ ही निजी तौर से पकी पकाई चीजों को छोडकर कोई इतिजाम करना भी मुश्किल था,तो भी लोगोने कुछ कर ही लिया था। हमारे तो तीन व्यक्तियो पर दो टिकट थे, इसलिये एक के भोजन का पृथक प्रबन्ध करना आवश्यक था। लोला अबकी बार एक पाकेट चूल्हा लायी थी, जिसपर ईंधन की टिकिया जलती थी। वर्षों रहने वाला चूल्हा चार रूबल का था, और टिक्की का दाम भी चार रूबल टिक्की चार घटे तक जल कर खतम हो जाती। चार रूबल का अर्थ था ढाई रुपया, चार घटे तक जलने वाला ईंधन ढाई रुपये का और सो भी जेबी चूल्हे में। किन्तु सचमुच ही टिक्की देखने से पता नहीं लगता था, कि यह इतनी देर तक जलेगी। उसी पर हम अडे उबालते। प्याले भर मकोय का दाम पाच रूबल था अर्थात् ईंधन या चूल्हे से भी ज्यादा। यहा इस देश मे आकर सारे अर्थशास्त्र को छोड़ना पडता है और यही देखकर सतोप करना पटता है — यहा कोई आदमी बेकार नहीं है, कोई आदमी ऐसा नहीं है, कि जिसको खाने-कपड़े, मकान तथा लडको की शिक्षा देने मे कठिनाई हो और जब सस्ते दाम में राशन की चीजे पर्याप्त मिल जाती हैं, तो आप शिकायत करना क्यों चाहेंगे। प्रोफेसर, मत्री या जनरल साढे चार हजार रूबल मासिक पाते हैं, वह तो रोज सो रूबल से अधिक खर्च कर सकते हैं।

विपुरीकी यात्रा—२१ जुलाई के लिये लोगो ने विपुरी चलने का

प्रबन्ध किया। १९४० से पहिले विपुरी (वीबुर्ग) फिनलैंड के अच्छे शहरों में से था। यह तिरयोकी से प्राय १०० किलोमीतर पर था। इतनी दूर के सैर सपट्टेका अवसर मिला था, फिर मैं कैसे अपने को वचित रखता? लारी पौने ग्यारह बजे हम लोगों को लेकर चली। रास्ते में पौन घटा विश्राम करना पड़ा, फिर तीन बजे हम वहा पहुच गये। जाते समय हमारा रास्ता समुद्र तट से दूर-दूर से था, लेकिन लौटते वक्त हम समुद्र की पासवाली सड़क से आये। दो तीन जगह कुछ बस्तिया मिलीं, नहीं तो सारी भूमि जगलो से ढकी पर्वतस्थली थी, जिसमे जहा तहा कितने ही छोटे बडे सरोवर थे। देवदार, केलू और भुर्ज के वृक्ष ही जगलों में देखे जाते थे। रास्ते मे एक जगह उसी जगल मे आग लगी हुई थी। यह जगल लगातार हमारे उपवन तक चला आया था। आग बुझाने की चिन्ता छोड चुपचाप बैठे हुए आदमियों को देखकर हमें आश्चर्य होता था, आग बढते बढते कहीं हमारे पास न चली आये। देवदार, केलू, भूर्ज के हरे हरे वृक्षों को जलाने मे अग्निदेवता को सूखे गीले की परवाह नहीं थी। लेकिन जगलों में जहा-तहा चौडी पटिया कटी थीं, इसलिये आशा थी कि शायद आग वहीं पहुचकर रुक जाय। सडकें वैसे सडक का सारा स्मरण रखतीं थीं, लेकिन उनमे वृक्ष की बहार थी। सत्तरवे किलोमीतर के पास ऊची नीची किन्तु कुछ खुलीसी भूमि आयी, यहा अनेक गाव और बहुत सारे खेत थे। खेतों का आबाद करना कितना मुश्किल था इसके बारे मे कह चुके है, लेकिन तब भी कई जगह ट्रैक्टरों की हराई पडी थी, जिसमे आशा होने लगी। पुराने बाशिन्दों के घरों मे अब आकर रूसी नर-नारी बस गये थे, ज्यादातर स्त्रियों का होना आश्चर्य की बात नहीं थी। जिस मैनरहाइम दुर्ग पक्ति को हम पहिले देख आये थे, उसकी दो-तीन और सरक्षा-पक्तिया मिलीं। कई टैक गस्ते मे टूटे पडे थे। स्वय मैनरहाइम-पक्ति पर ही ४ बडे बडे टैकों की लाश पडी थीं। सीमेन्ट की कक्रीट के दुर्ग, मुडचे सभी जगह दिखाई पडते थे। फिनोंने विपुरी तक डटकर लडाई की थी। इधर की फिलमन्दों का बहुत नुकसान था। जहा जहा सरोवर थे, वहा उनके तीन-तीन टन की शिलाओं का गा़ड दिया

तैयार की गई थी। तैयार फसल ज्यादातर आलू की थी, उसके बाद जई और फिर गेहूं का नम्बर था। घरों के पास बन्द गोभी के खेत भी दिखाई पडते थे। लौटानके रास्ते में चुकन्दर के खेत भी मिले। जान पडता था, सभी सोवखोज (सरकारी खेती वाले गाव) थे। खेती मे मशीनों को बहुत इस्तेमाल किया गया था। उनके बिना इतनी भूमिको थोडे से आदमी आबाद भी नहीं कर सकते थे। दो घंटे के बाद जगल में विश्राम करने के लिये हमारी लारी खडी हो गई। यहा याग्दी (मकोय) बहुत थी, मकोय जैसा स्वाद था, वैसे वह हमारी मकोय नही, कोई दूसरा फल था। आज जिम्ल्याका (स्ट्रावरी) भी खाने को मिली। लारी के खडे होते ही लोग उतर कर फलोंपर टूट पडे। जहा घास ज्यादा थी, वहा मच्छरों की सेना भी यात्रियो से भिड़ने के लिये फिन-सेना मे कम खूंखार नहीं थी।

पौन घटे बाद फिर हमारा काफिला चला, वही नीची-ऊंची जगलों की पर्वतस्थली, सरोवरो की भूमि। जहा तहा दो साल पहिले हुए युद्ध के चिन्ह दिखाई देते थे। तीन बजे हम विपुरी पहुचे। पहिले एक चौमजिला मकान आया, जिसकी दीवारें स्वस्थ खडी थीं, लेकिन खिडकिया और दरवाजे नदारद—सभी लकडी की चीजें युद्धाग्नि मे स्वाहा हो गई, ईंटो का मुह झुलसा हुआ था। नगर में घुसने से पहिले ही ईंटें पाथने का बहुत बडा यान्त्रिक भट्ठा दिखाई पडा, जिससे पता लगा कि सोवियत शासक पुनर्निर्माण के सबध मे बडी गभीरता के साथ कदम उठा रहे हैं। रास्ते मे हमने दो बार लेनिनग्राद से यहा आनेवाली रेल को पार किया था। नगर में घुसते ही ट्रामकी लाइन बिछी मिली, लेकिन उसके खमे निर्जीव खडे खडे झाख रहे थे। ट्राम शायद १९४० के बाद फिर नहीं चली। नगर मे आदमियों की कमी के कारण शायद अभी और कितने ही समय तक इसे चलने की तकलीफ नहीं करनी पड़ेगी। विपुरी बहुत भव्य और सुन्दर नगर रहा होगा यह अब भी उसके खण्डहर बता रहे थे। यहा से पहाड दूर-दूर हैं। मकानों मे एक तो बारहमजिला था, छ-सात मजिलवाले तो बहुत से थे। नगर की सडकें सीधी नहीं थीं। नगर के

बीच में पार्क-लेनिन था, जिसका फिन नाम कुछ दूसरा ही रहा होगा। इसी में १९२४ में मन्ताइनिन द्वारा बनाई गई बारहसिंगा की सुन्दर मूर्ति है। दूसरी जगह एक और कुत्ता लिये हुये काले तरुण की मूर्ति फिन कलाकार की सफल साधना का उदाहरण है। बडी प्यास लगी थी। प्यास से निवृत्त हो हमने नगर की सैर शुरू की। अभी मुश्किल से सौ मे से दस मकानों को ही काम चलाऊ करके लोग रहने लगे थे। नगर के पुराने निवासी (फिन) तो लड़ाई के समय ही भाग गये, अब सारे रूस से ढूढ-ढाड कर लोग लाये जा रहे थे। युद्ध ने बडा ध्वस किया था, तो भी १० सैकडा आबाद घरों के अतिरिक्त ५० सैकडा और भी आसानी से आबाद किये जा सकते थे। उनकी खिडकियों, दरवाजों और छतों की ही मरम्मत करनी पडेगी। छ ही बरस पहिले जहा सब जगह केवल फिन भाषा सुनी जाती थी, अब उसका स्थान रूसी ने ले लिया है। केवल दीवारों पर लिखित पुराने विज्ञापनों में ही "कसटिलस ओस के पाड की यस्काच विस्की" जैसे विज्ञापन लैटिन अक्षरों मे थे। फिन लोगों को रोमन चर्च ने ईसाई बनाया था, पीछे वहाँ उसी चर्च की सुधारवादी शाखा प्रोटेस्टेन्ट की प्रधानता हुई, इसलिये फिन भाषा ने रोमन लिपिको स्वीकार किया। प्रथम सस्कृति फैलानेवाले लोग इस तरह जातियों में अपना स्थायी चिन्ह छोड़ते हैं। मध्यएसिया में और दूसरी जगहों में भी जहा-जहा अरबी संस्कृति फैली, वहां अरबीलिपि ने चाहे तो पुरानी लिपिको मार करके अथवा भाषा के अलिखित होने पर अपनी लिपिको देकर अपने लिए चिरस्थायी स्थान बनाया। रोमनचर्च-प्रभावित यूरोप के देशों ने इसी तरह रोमन (लातिन) लिपि को अपनाया। ग्रीक चर्च ने जहा-जहा ईसाई धर्म फैलाया, वहा (रूस, बुल्गारिया आदि) देशों मे ग्रीक लिपि अपनाई गई। भारतीय सस्कृति के प्रभाव से ही आज भी भारतीय लिपि से निकली लिपियाँ तिब्बत, बर्मा, स्याम, कम्बोज आदि में प्रचलित है।

विपुरी से समुद्र दूर है, लेकिन समुद्र की एक मूंछ यहां तक पहुच गई है, जिसके कारण यह समुद्र तटवर्ती बन्दरगाह है। नगर के एक शिखर

जल की खाईं के बीच मे पुराना "जामुक" (गढ) है, जिसकी बनावट स्वीडिश ढंग की है। अभी तक स्वीडिश वंश के लोगों का ही फिनलैंड का आभिजात्यवर्ग रहा है, जिनमें से ही एक माइनरहाइम कई सालों तक फिनलैंड का सर्वेसर्वा रहा। पहिले यह गढ सारा पत्थर का था, पीछे कितनी ही ईंटों की मीनारें जोड दी गईं। शताब्दियों पहिले यह गढ बनाया गया होगा। जो इमारतें तथा रक्षा-प्रकार आदि यहा बने हैं, वह शताब्दियो के मानव श्रम के परिणाम हैं। लेकिन रक्षा-पंक्तियों मे मानव का जितना श्रम लगा कुछ ही समयो के भीतर लगाया गया, उसके सामने यह जामुक कुछ भी नहीं था। जामुक मे अभी भी आदमी रह सकते हैं, जबकि उन रक्षा-पंक्तियों का अब कोई उपयोग नहीं रहा। नगर मे रीनक (हाट) थी, जिसमें आस-पास के गांव की चीजें बिक रही थी। बेचनेवालो के देखने से ही पता लग जाता था, कि अब इस देहात में केवल रूसी रह गये हैं। रूसियों को उजडे हुए विपुरी और आगे तक फैले इस विभाग को बसाने के लिये अपने पुत्र-पुत्रियो को भेजना पड रहा है, इसी लड़ाई में क्रिमिया के तातार यहा से लुप्त हो गये और उस उजडे हुए मनोरम प्राय द्वीप मे भी अब रूसियों को ही जाकर बसना पड रहा है। पूर्वी प्रुशिया (जर्मनी) के भी एक भाग को रूसियो को बसाना पड रहा है, इस प्रकार इस युद्ध मे रूसी जाति को उत्तर, दक्खिन और पश्चिम मे बहुत दूर तक फैलना पडा। पहिली फिनलैंड की लडाई के बाद इस इलाके मे मध्यएसिया की मगोलायित जातियों मे से भी कितने ही लोग लाकर बसाये गये थे, लेकिन अब तो उनके यहा भी विशाल मरुभूमि को उर्वर भूमि में परिणत किये जाने के कारण उन्हें यहा नहीं भेजा जा सकता। पार्क के एक कोने मे लाल रग का गिरजा था, जो लडाई में ध्वस्तप्राय हो गया। कुछ बडी इमारतों को मरम्मत करके उनमें सैनिकों को बसा दिया गया है। सैनिको मे कुछ तुर्क और मगोल चेहरे भी दिखाई पड रहे थे। सोवियत मे कितनी ही पल्टनें "मिश्रित" होती हैं, अर्थात् एक ही रेजीमेन्ट मे कई तरह की जातियों के नौजवान भर्ती रहते हैं। सात साल की अनिवार्य शिक्षा—जिसमें चार साल रूसी भी अनिवार्य है—के कारण भाषा

की कोई दिक्कत नहीं। सैनिक जीवन में वह सोवियत भूमि के भ्रातृभावका परिचय भी पाते हैं। रीनक (हाट) में मेव बिक रहे थे। कश्मीर की तरह मीठे सेब तो ईरान और मध्यएसिया छोड कहीं नहीं मिलते, तो भी यहा के सेब बुरे नहीं थे। हमने ६ रूबल में २ मेव खरीदे, चार रूबल में कुलफी की बरफ खायी। चीजों के बहुत मँहगे होने का एक बुरा प्रभाव तो यह जरूर देखने मे आता है, कि आदमी मुक्तहस्त होकर अपने मित्रों का स्वागत नहीं कर सकता और मैं और मेरा के फेर मे जल्दी पड जाता है।

४ बजे हमारी लारी तिरयोकी की ओर रवाना हुई। एक जगह बिपुरी के पास ही यात्रियों के कागज-पत्र देखे गये, किन्तु मेरे पास अपना पासपोर्ट भी नहीं था। देखना शिष्टाचार ही जैसा मालूम होता था, नहीं तो एक विदेशी विना पासपोर्ट के इतनी दूर की सैर आसानी से नहीं कर पाता। एक जगह हमे एक बडा सरोवर दिखाई पडा। जल मे काई थी, लेकिन गर्मी होने से स्नान करने का मन कर रहा था। घटा भर ठहरकर हम लोगों ने स्नान किया। ८० वें किलोमीतर के पास दूर तक खेत थे, स्थान ऊचा नीचा था। यहा खेतों मे वन्द गोभी, आलू जैसी फसलें खडी थीं और खेती करनेवाले जर्मन युद्धबन्दी थे। कोई जेलखाने का तरह वन्द करके वह रखे नहीं गये थे, वल्कि वह परित्यक्त घरों में रहते खेतों मे काम करते थे। सोवियत-शासक निश्चित जानते थे—भागने पर यह कहीं दूर नहीं जा सकते, इनकी भाषा ही पकड़वाने में सहायक नहीं होगी, वल्कि सोवियत नागरिकों की तत्परता भी वैसा न होने देगी। लौटते वक्त हम समुद्र के किनारे-किनारे चलनेवाली सडक मे जा रहे थे। कितने ही परित्यक्त ग्राम, घर और खेत देखकर अपने यहा की जनाकीर्ण वस्तियों याद आतीं थीं। हम लोगों ने सौ-सौ रूवल पर लौरी किराया की था। लौरी क्या खुला हुआ ठेला था, जिसपर देवदार की लकडी के वेंच रख दिये गये थे। पीछे उठँगनी भी नहीं थी। और यात्रियो की वात नहीं जानता, लेकिन मेरी तो गत वन गई थी। मुझे सबसे पिछली वेंचपर कोने में जगह मिली थी। पीठ, घुटने और कमर में जो दर्द हो रहा था, उसके बारे में क्या पूछना?

रास्ते भर खूब धूल फाकनी पडा था। कहीं-कहीं पर सोवियत सैनिकों को भी खेतों के काम में लगे देखा—अन्न-समस्या को अपने देश से दूर जो रखना था। विपुरी से चलने के ४ घंटे बाद हम अपने उपवन में आ पहुंचे।

हमारी शाला में आज एक कलाकार कहानीवाचक आया था। उसके कहानी पढने में अभिनय का आनन्द आता था।

अब हमारे रहने के एक हफ्ते और रह गये थे। २२ जुलाई को दोपहर को भोज हुआ। भोज युनिवर्सिटी की तरफ से था, इसको कहने की आवश्यकता नहीं, अथवा जब अध्यापकों को खाने-पीने का पैसा देना पडता था, तो हमारी तरफ से ही भोज था, यह भी कह सकते हैं। युनिवर्सिटी के रेक्तर (चासलर) वोज्नेसेन्सकी आज स्वय मौजूद थे। वैसे हफ्ते में एक दो बार अपनी कार पर वह तिरयोकी जरूर हो जाया करते थे। एक एक मेजपर भोजन करनेवाले चार चार व्यक्तियों के लिये एक-एक शराब की बोतल और दो-दो "पीवा" (बियर) की बोतलें एक-एक लेमोनाद के साथ रखी हुई थीं। मैं तो लेमोनाद में से ही कुछ ले सकता था, इसलिये हमारी मेज के तीन साथियों को एक पूरी बोतल मिली। हमारे मेज की शराब जार्जिया की बनी हुई पुरानी अंगूरी शराब थी। दूसरी मेजों पर भी अच्छी अच्छी अगूरी शरावें थीं। भोज में लेनिनग्राद के पाच-छ प्रसिद्ध कलाकार गानेवाले थे, लेकिन समय की पाबन्दी हमारे देश की तरह रूस में भी तुच्छ समझी जाती है, फिर वह तो कलाकार थे। उनके लिये घंटा-पौन-घंटा प्रतीक्षा की गई, फिर भोज शुरू हो गया। वोज्नेसेन्सकी ने भोज का व्याख्यान दिया। मातृभूमि के लिये मद्यचषक उठाये जाने लगे। बीच-बीच में बराबर मनोरंजन वक्तृतायें होती गईं। शराब के साथ मछली, रोटी तथा दूसरी स्वादिष्ट चीजें थीं। डीन विक्तर मोरिसोविच स्ताइन ने भी भाषण दिया दो-तीन और भी वक्ता बोले, रेक्तर ने हमारे दूसरे की हरेक मेज के पास अपने मद्यचषक को ले जाकर टनटनाते हुए स्वास्थ्य और मैत्री के लिये पान किया, फिर उसी तरह दूसरे कमरे की भी मेजोंपर गये। उस वक्त क्या दूसरे समय में भी वोज्नेसेन्सकी को लोगों में

खडे-बैठे देखकर कोई नहीं कह सकता था, कि वह इतने वडे विश्वविद्यालय के चासलर हैं।

मेरे मद्य न पीने की असामाजिकता का प्रभाव मेरी मेज तक ही रहा—वहा के लोग मद्यको एक सुन्दर पानी से अधिक नहीं मानते और उसे अतिथि-सत्कार का सबसे अच्छा साधन समझते हैं। हमने किसी को यहा या और जगहों मे भी नशे में गिरते-पडते नही देखा।

आज भोज के उपलक्ष्य में संगीत-मंडली (कसर्त) भी होनेवाली थी। तब तक कलाकार लोग आ पहुचे थे। साढे नौ बजे प्रोग्राम रूस की ७० वर्षीया प्रसिद्ध नीटो आनोव्स्कया के कला-प्रदर्शन से आरंभ किया गया। दूसरे कलाकारों मे सगीतकार जर्जिन्स्की भी था, जिसने 'तिखी दोन" (शान्त दोन) ओपरा तथा दूसरे बहुत से नाट्य वस्तु तैयार किये थे। आनोव्स्कया वोल्शेविक क्रान्ति के समय ४० साल की थी। उस समय भी वह जारकी राजधानी की लाडली रही होगी। उजड़े वसन्त को देखने से ही मालूम होता था, कि वह तरुणाई में अत्यन्त सुन्दर थी। उसने चेखोफ् की कहानियों मे से एक का अभिनय-पूर्ण ढग से पाठ किया। बहुत प्रभावशाली अभिनय था। कहानी के जितने पात्र थे, उनके कथन को वह उचित तथा भिन्न-भिन्न स्वरों मे अदा करती थी। कहानी पढना भी एक उच्च कला है, इसका वह प्रमाण दे रही थी, और वह कला रूस में चरम सीमा तक पहुची थी। ११ बजे के बाद तक कसर्त जारी रहा।

जान पड़ता है, समय बीतने के साथ मच्छरों, खटमलों और पिस्सुओं के बल में भी वृद्धि हुई थी। रातको उन्होंने नींद हराम करदी थी। २ हफ्ते बाद हमारे पीछे के पाखाने की बदबूदार हवा ही कह रही थी, कि अब यहा से डडा-कुडा उठाओ।

२२ जुलाई को भोजनोपरान्त ६ बजे हम "पहाड़ी" पर घूमने निकले। साथ घूमनेवाली एक महिला कह रही थी—४-५ साल पहिले रुफकाश (काकेकश) के श्री विश्रामोपवन में कुछ लोग ठहरे हुए थे, १०

जोडी नर-नारी जंगल में टहलने गये, वहा डाकुओं ने उन्हें पकड़कर सब कुछ छीन नगा करके छोड दिया, बेचारे वैसे ही नगे अपने विश्रामस्थान को लौटे।

मैंने कहा— जिस तरह यहा तिरयोकी के बन में आधी रातको घूसते हुए हम इस कहानी को सुन रहे हैं, उसी तरह न जाने इस वक्त काकेकश के वन मे घूसते हुए कुछ लोग तिरयोकी में फिन-डाकुओं द्वारा ५० जोडों को लूटकर नंगे कर के छोड देने की कथा सुनते होंगे।

सचमुच ही जो वर्ग अपने प्रभुत्व को खो चुका है, उसके अवशेष अपनी हरकतों को जल्दी छोड नहीं सकते। शायद इस शताब्दी के अन्त तक भी पुराने वर्ग-समाज की प्रतिक्रिया और प्रतिध्वनि यहा से पूर्णतया लुप्त नहीं होगी। आज के घूमने में हमें एक सीमेन्ट और लोहे का बना हुआ चबूतरा मिला, जिसपर युद्ध के समय १० मील तक मार करनेवाली बडी जर्मन तोप लगी हुई थी। वैसे कटीले तारों की बाढें, मोटे तख्तों से पटी युद्ध की खाइया, खाली टिन तथा दूसरी चीजें अब भी जगह जगह मिलती थीं। यह तोप शायद क्रोन्स्ताद के नौसैनिक दुर्ग पर आक्रमण करती थी।

२४ जुलाई को समुद्र उत्तरगित और हवा-पानी ठंडे थे। स्नान करनेवाले बहुत कम दिखलायी पड रहे थे। प्राणि-शास्त्र का एक छात्र समुद्र के पास छोटा सा गडढा खोद रहा था। पूछने पर उसने बतलाया कि इसमें मेढक रक्खेंगे। ईगर ने भी एक मेंढक पाल रखा था। वह अपना मेढक भी दौड कर ले आया। उसने समझा, वहा मेढकों के लिये एक छोटा सा सरोवर बनेगा। जिसमें विद्यार्थी के मेढक तैरेंगे, उसीमे मेरा भी मेंढक तैर लेगा। वह मेंढक लेकर अपने परिचित विद्यार्थी के साथ वहा काम में लग गया। मैंने घर मे जाकर घंटा भर प्रतीक्षा की, लेकिन ईगर का कहीं पता नहीं था, वह वहीं डटा हुआ था। जाकर देखा तो विद्यार्थी कैंची से मेढक के सिर को मूली की भांति काट रहा है, बिल्कुल निश्चित हो जरा भी संकोच न दिखलाते हुए वह एक के बाद दूसरे मेढक को काटता जा रहा है, और शीशियों मे से किसी मे खारा और किसी में उसकी कोई दूसरी ग्रन्थि डालता जा रहा था। मेरे लिये यह एक

क्षण-भर भी ठहरना असह्य था, हृदय फूलने पचकने लगा था; किन्तु ईगर उस तमाशे को विद्यार्थी की तरह ही वहा बैठा देख रहा था। अभी उसे दया के संस्कार प्राप्त नहीं थे कि किसी प्राणी का वध होते देख तिलमिलाता। मां ने जब उसे उस दृश्य को देखते देखा, तो घबड़ा गयी और डाट-डपटकर उसको अपने साथ लायी फिर वह बडी गंभीरता से लेक्चर दे रही थी—वहा फिर मत जाना, यह बहुत बुरा है। यदि कोई तुम्हारा सिर काटे। मुझे भी उपदेश देने के लिये कह रही थी, लेकिन मैंने कहा—छोड दो, क्या जाने उसे आगे डाक्टर या प्राणिशास्त्री बनना हो, फिर हमारी यह शिक्षा उसके रास्ते में बाधक होगी। यह तो वहा साफ ही दिखाई पड रहा था कि दया भी अभ्यास और संस्कार का परिणाम है। आज भी विद्यार्थियों ने हल्ला कर रखा था— "कन्सर्ट होनेवाला है, और लेनिनग्राद के कई प्रसिद्ध कलाकार आ रहे हैं।" लोग ६ बजे से पहिले ही कुर्सियोंपर डट गये। ६ बज गये, किन्तु कलाकार और कलाकारिनियों का कहीं पता नहीं था। फिर रियाल (पियानो) पर एक छात्र बैठ गया और उसने तानसेनी लयमें कुछ उस्तादी संगीत के हाथ दिखलाने शुरू किये। आध घंटे तक पट्ठा पियानो पर डटा रहा। श्रोतृमंडली भी कलाकारों की प्रतीक्षा में बैठी रही। फिर अन्तराल (विश्राम) की घोषणा हुई, लोग अब भी विश्वास किये हुए थे, कि कलाकार आ रहे हैं। फिर हमारी युनिवर्सिटी की एक छात्रा, लगडी किन्तु सुमुखी और सुकण्ठी ने कई गाने सुनाये। लेनिनग्राद शहर की गैर-पेशेवर गायिकाओं की प्रतियोगिता में वह प्रथम आयी थी, इसलिये "घर्की मुर्गी साग बराबर" कहकर भले ही कोई कदर न करे, लेकिन उसने गाया अच्छा था। अब श्रोतृमडली भी समझ गयी, कि संगीतशाला में जल्दी जमा करने के लिये छात्रों ने यह अफवाह उडाई थी। साढे दस बजे प्रोग्राम समाप्त हुआ। अभी पश्चिम को ओर गोधूलि की लालिमा छायी हुई थी और सध्यगति होने में केवल डेढ घंटा रह गया था।

\+ + +   + + +   + + +

हमारी ऊपर की कोठरियां कबूतरों के दरबे जैसी ही थीं, जिनमे एक एक मे एक सपत्नीक प्रोफेसर ठहरे हुए थे। हमारी कोठरी आखिर मे थी, उसकी बगल की कोठरी मे युनिवर्सिटी के प्रोरेक्तर (वायसचासलर) आकोव्लेव्खुवा अपनी पुत्री आसिया के साथ ठहरी हुई थीं। युद्ध के समय वह सरातोफ युनिवर्सिटी मे रेक्तर थीं। इनकी योग्यता को देखकर रेक्तर वोज्नेसिन्स्की उन्हें यहा खींच लाये थे। शिक्षण, छात्रवृत्ति आदि का काम इनके जिम्मे था, साथ ही प्राणि-शास्त्र का अध्यापन भी करती थीं। लडका सेना से अभी लौटा नहीं था। १२ साल की लडकी पाचवीं क्लास में पढ रही थी, जो यहा साथ आयी थी। उन्हें युनिवर्सिटी के काम से बीच-बीच में जाना पडता था। उनकी मा उक्रैन की और पिता जार्जिया का था, पिता के ही कारण शायद अत्यधिक ऊची नाक उन्हें मिली थी। उनकी कोठरी के बाद की कोठरी मे मध्यकालीन इतिहास के प्रमुख विद्वान् प्रोफेसर ग्रूकोव्स्की उपनाम गोरिल्ला अपनी तरुणी भार्या के साथ रहते थे। ग्रूकोव्स्की की यह चौथी पत्नी बहुत सुन्दर थीं। लोग कह रहे थे, कि तृतीया बहुत ही सुन्दर थी और उसके पहिले वाली भी कम सुन्दर नहीं थी। प्रोफेसर की आयु ४५ वर्ष के आस-पास थीं। वह सिद्धहस्त प्रोफेसर समझे जाते हैं। उनके बाद युनिवर्सिटी के एक कार्यकर्त्ता कोर्मनोफ सपत्नीक ठहरे हुए थे। उसके बाद हमारे परिचित दोकन (डीन) स्ताइन सपत्नीक ठहरे हुए थे। प्रोफेसर स्ताइन १९२७ मे चीन की राष्ट्रीय सरकार के अर्थशास्त्रीय परामर्शदाता रह चुके थे। प्राचीन अर्थशास्त्र के भी वह मर्मज्ञ हैं, विशेषकर चीन और भारत के। उनके बाद प्रो० मात्ररोदिन रूसी इतिहास के अच्छे पडित और "प्राचीन रूस राज्य-निर्माण" ग्रन्थ के कर्त्ता तथा इतिहास फेकल्टी के डीन सपत्नीक ठहरे हुए थे। मात्ररोदिन पैर मे कुछ लगडे थे। उनकी तरुण पत्नी हरवक्त सजी धजी रहतीं—आंखों में खूब काजल पुता, मुंहपर जरूरत से ज्यादा पौडर, ओठों पर मात्रा मे अधिक अधर-राग और पोशाक अत्यन्त भडकीली। इतना बनाव सिंगार तो रूस की स्त्रियों में क्या विदेशी स्त्रियों मे भी कम ही देखने को मिलेगा। उनका माग

समय शरीर रंगने और पोशाक बदलने में जाता था। प्रौढ पति तरुणी भार्या की हरेक नाजबरदारी के लिये तैयार थे। कोरसनोफ को छोड़कर इन दरवों में रहनेवाले सभी उच्च दर्जे के प्रोफेसर और उनमें से दो डीन थे। मैं इन दरवों के भाग्यपर सोच रहा था कहा ६ वर्ष पहिले यहा फिनिश् आभिजात्य वर्ग के अतिथियों के मनोरंजन के लिये वेश्यायें रखी जाती थीं, और कहा अब उनका संभ्रान्त पुरुषों के अतिथि-विश्राम के रूप में परिवर्तन। स्ताइन, मावरोदिन, और गुकोव्सकी यहूदी थे, जिनमें दो अपनी फेकल्टी के डीन थे। इससे पता लगेगा, कि यहूदी कितने प्रतिभाशाली होते हैं। स्ताइन को छोड़कर बाकी की पत्नीया रूसी थीं। वस्तुत: शिक्षित यहूदी अब विशाल रूसी जाति में खप जाने के लिये तैयार हैं। योग्यता होनेपर अब जाति किसी के रास्ते में रुकावट नहीं हो सकती, यह भी कारण है, जोकि वह इतने आगे बढ सके हैं। रूसी तरुणिया यहूदी प्रोफेसरों की पत्नी बनने में कोई हिचक नहीं दिखलातीं। वर्त्तमान शताब्दी के अन्त तक जान पडता है, अधिकाश यहूदी सन्तानें रूसी बन गई दीख पडेंगी। यह भी पता लगा कि फिजिक्स-मैथमेटिक्स के डीन भी यहूदी ही हैं।

२६ जुलाई को खटमलों, पिस्सुओं और मच्छरों के बाद अब मक्खियों ने भी दर्शन देना शुरू किया, लेकिन अभी कम संख्या में ही। चोर्नीका (मकोय) अब सब पक गई थी, और हमारे उपवन में क्या, बल्कि हमारे निवासस्थान के बगल ही में उनके काले फलों में लदे हुए पौधे थे, जिनमें लडके चिमटे रहते थे। इस महीने के अन्त तक ही उन्हें खतम होजाना था। मलीना (रास्पबरी) अभी अपनी कलियों में सकुचाकर छिपी हुई थी। हमारे रहने भर तो वह मुह खोलने के लिये तैयार नहीं थी। अगले महीने आनेवाले उसको पायें होंगे। उसके पौधे भी यहा बहुत ज्यादा थे। जेम्ल्याका (स्ट्राबेरी) के पौदे बहुत कम थे, लेकिन इस वक्त वह पकने लगी थीं। लडाई के समय बहुत से कलखोज जब उच्छिन्न हो गये और उसके बाद आदमियों का मिलना भारी समस्या होगया, तो लेनिनग्राद जैसे नगरों के आस-पास के खेतों को

भिन्न-भिन्न फैक्टरियों और संस्थाओं ने सोवखोज (सरकारी खेतो) बना लिया। इन खेतों में अधिकतर साग-सब्जी और स्ट्राबरी जैसे फलों की खेती होती थी। वैतनिक श्रमिक वहा काम करते थे, जो मालिक संस्थाओं के पास चीजों को भेजते रहते हैं। आज हमारे अपने सोवखोज की स्ट्राबरा भोजन के समय लोगों के सामने आयी थी। लोग बडे उत्साह के साथ कह रहे थे–हमारे सोवखोज की स्ट्राबरी है। हम समुद्र के किनारे दूसरी ओर टहलने गये वहा एक अच्छा खासा बगला युद्धाग्नि में दग्ध देखा। लोहे की चारपाइयां और कितने ही धातु के टूटे-फूटे बर्तन वहा अब भी दिखलायी पड़ रहे थे। यह भी युद्ध के पहिले किसी फिन तालुकदार का विलास-भवन रहा होगा।

२७ जुलाई को अब ३ दिन ही रह गये थे। उपवन मे पहिली-दूसरी या पन्द्रहवीं तारीख को लोग आया करते हैं, जानेवाले दो दिन पहिले ही स्थान खाली कर देते हैं, ताकि नये मेहमानों के लिये जगह ठीकठाक की जा सके। लोग चलाचलू से हो रहे थे। अध्यापकों को प्रतिव्यक्ति प्रतिमास साढे सात सौ रूबल देना पडता था। दीना मार्कोव्ना गोल्दमान जैसी महिला-अध्यापकों को—जिनके पति युद्ध में मर गये—आधा ही और छात्रों को कुछ भी नहीं देना पडता। खाने की कुछ अव्यवस्था जरूर थी, जिसे अस्थायी कहना चाहिये, नहीं तो सैकड़ों-हजारों विद्यार्थियों को मुफ्त ग्रीष्म-निवासों में खाने रहने का स्थान तथा प्रोफेसरों को भी कम खर्च पर सुन्दर प्रकृति की गोद में बैठकर एक दूसरे से मिलने और अपने भविष्य के काम के चिन्तन के लिये अवसर देना अन्यत्र सुलभ नहीं हो सकता था।

लोगों को यहा सबसे ज्यादा शौक था— समुद्रस्नान करना, पुरुषों को केवल जाघिया, और स्त्रियों को स्तनबन्द और जाघिया पहिने धूप में लेटकर शरीर को सावला बनाना। शरीर जितना ही सावला बन जाय, उतनी ही प्रशसा की बात मानी जाती थी। किसी ने हमारी सफलता के लिये प्रशसा की, तो मैंने कहा यह तो सैकड़ों सहस्रों पीढियों के आतप में तपने तथा तत्सबद्ध रुधिर संमिश्रण का परिणाम हैं। कितनों ने तो धूप लेते लेते अपनी गर्दन और पीठ के कितने की हिस्सों के खाल की एक तह निकलवा डाली था, कुछ लोग

सवा पाच बजे लारी रवाना हुई। सडक समुद्र के किनारे से जारही थी। फिनलैंड की पुरानी सीमा तक महावन चला गया था, जिसमें सभी जगह युद्ध की मोर्चाबदियाँ थीं। हमारे उपवन से १५ किलो मीतर तक तो विश्रामोपवन ही चले गये थे, जिनमें से सबसे ज्यादा वालोद्यानों के थे। २० किलोमीतर जाने पर फिनलैंड की पुरानी सीमा मिली। जगल उच्छिन्न करके अब ग्राम और कस्बे बस गये थे। रास्ते मे ही सेस्त्रारेच (स्त्रसा नदी) का अच्छा खासा कस्बा था। घटे भर की यात्रा करने के बाद हम लेनिनग्राद के बौद्ध-विहार के पास पहुच गये। लेकिन लोगों को घर-घर उतारना था, इसलिये दो घटे बाद ८ बजे से थोडा पहिले हम अपने घर पहुचे। अच्छा हुआ जो रास्ते मे वर्षा नहीं हुई नहीं तो लारी खुली थी। घर पर सामान रख देने के बाद वर्षा शुरू हुई। हमारी सडक अधिकतर गोल-गोल पत्थरों के ढलों की थी, जहा लारी बहुत दचके खाती थी। खैर शारीरिक कष्ट का कोई सवाल नहीं था।

महीने भर बाद रेडियो अर्थात् बाहरी दुनिया के समीप पहुचे थे। भारत का प्रोग्राम खतम हो चुका था, लदन और मास्को ही सुन सके।

युनिवर्सिटी खुलने में एक महीने की देर थी। इसलिये फिर हम अपने पढने और नोट लेने मे लग गये।

२१ जुलाई को सवेरे थोडी वर्षा हुई। आज अपने कोपरेटिव दुकान से सामान लाना था। राशन के लिये हमारे वास्ते दो दूकानें थीं, एक अपने मुहल्ले की, जहा कि हम अपने साधारण राशनकार्ड की चीजे लेते थे, और दूसरी युनिवर्सिटी से नातिदूर अध्यापकों की कोपरेटिव दूकान थी, जहा हम साढे चार सौ रूबलवाले विशेष राशन-कार्ड की चीजें लेते थे। इस दूकान से साधारण कार्ड की चीजे भी ले सकते थे, लेकिन विशेष कार्ड की चीजें साधारण दूकान से नहीं ली जा सकती थीं। उस दिन चार बजे ट्राम से कजान-गिरजे के पास कोपरेटिव मे गये। घटे भर प्रतीक्षा करने के बाद लोला भी आगई। फिर चीजों के खरीदने मे तीन घटे लगे। एक दिन पहिले कार्ड देने मे चीजे सब तयार मिल सकती थीं। हाँ, हमारे यहा की तरह यहा की भी घड़ियां दो घटे लेट रहती

हैं, किन्तु, जब आदमी हरेक चीज अपनी आखों से देखकर बधवाना चाहे, तो वह कैसे हो सकता था ? आज महीने का आखिरी दिन था, इसलिये बचा हुआ राशन ले लेना जरूरी था, चाहे उसके लिये कितना ही समय लगे। शिक्षित-वर्ग में अब भी पुराने मध्यमवर्ग की सख्या काफी है, और कमकरवर्ग से आये हुए लोगों में से भी कितनों ने शादी-सम्बध या दूसरी तरह पुराने मध्यमवर्ग के भावों को ग्रहण कर लिया है। महिलाओं को मालूम हुआ, कि अक्तूबर में राशन-कार्ड उठ जायेगा। वह बहुत डरने लगीं। कह रही थीं— भारी क्यू की पाँती में घंटों खड़ा रहना पड़ेगा जो हमारे बसकी बात नहीं है। वहा तो जो ज्यादा खड़ा रह सके, वही ज्यादा खरीद सकेगा, और पीछे हाथ मे ज्यादा दाम पर बेच भी सकता है। मैंने कहा— यदि दुकानें ज्यादा खुल जायें, जैसी कि अब भी राशन की दुकानें हैं, तो उतनी देर क्यों होगी ?

टिनवाली मछली, माँस, मक्खन, अनाज, सभी चीजें एक मन से ज्यादा खरीदी थीं। इतनी चीजों को पीठ पर ढोना शक्ति से बाहर की बात थी, हालाँ कि सकोच का वहाँ कोई ख्याल नहीं था, क्योंकि सभी प्रोफेसर और लेक्चरर, पुरुष और महिलायें १५–२० किलोग्राम सामान अपनी पीठ पर लादे चले जा रहे थे। मैंने कहा— अभी इतजाम करता हूँ, और जाकर इतूरिस्त से किराये पर एक टैक्सी माग लाया। किराया २६ रूबल था, यद्यपि हमने ४० रूबल दिये। यदि भारवाहक लेना होता तो इससे कहीं ज्यादा मजदूरी देनी पडती।

शहर में घरों की मरम्मत और पुनर्निर्माण बड़े जोरों से जारी था। तितल्ले मकान चौतल्ले बनाये जा रहे थे। हमको आशा होने लगी कि शायद मकानों की अधिकता होने पर युनिवर्सिटी के पास कहीं तीन कमरे मिल जायें। युनिवर्सिटीवाले भी युनवर्सिटीनगर बसाने की सोच रहे थे, और युनिवर्सिटी के आसपास के मुहल्लों को ले लेना चाहते थे। यह कोई मुश्किल नहीं था, क्योंकि "सभी भूमि गोपाल की" अर्थात् लेनिनग्राद के सारे मकान लेनिनग्राद नगरपालिका के थे।

पहली अगस्त का दिन आया। आज न बिजली काम कर रही थी, न पानी का नल ही। कल-कारखानों के उत्पादन के आंकड़े गला दबाने के लिये तैयार थे, इसलिये वहा हरेक काम घड़ी की सुई की तरह बडी तनदेही से होता था। जो पानी, बिजली का कष्ट नागरिकों को हो रहा था, उसका टन या मीटर में आंकड़ा नहीं बन सकता था, इसलिये उधर उतनी सावधानी नहीं रखी जा सकती थी।

कल की लायी खाद्य-सामग्री मे टिन से बाहर का कलवासा और मछली जैसी चीजें काफी थीं, जिनको ज्यादा देर तक रखा नही जा सकता था, इसलिये मित्रों को दावत देना जरूरी था। लोला की सखी सोफी पास में ही थी, लेकिन उसको बुलाने में विशेष तैयारी की जरूरत थी, इसलिये उसे नहीं निमन्त्रित किया, लेकिन और कई बन्धु-मित्र नर-नारिया पधारीं। अगस्त में अब सर्दी पडने लगी थी, इसलिये मैं जगलो को बन्द रखना चाहता था, लेकिन लोला का आग्रह खिडकी खोल रखने का था, क्योंकि उससे " वितामिन " का झोंका आ रहा था। मैं खिडकी इसलिये भी खुला रखना नहीं चाहता था, कि खाने के कमरे में काम करते समय खिडकी से कोई चीज न उठ जाय। नल बिगडने से पानी को हमें दूर से भर कर लाना पडा। बिजली खैर देर से आगई, उसमे केवल इतना ही नुकसान हुआ कि मैं भारतीय रेडियो नहीं सुन सका।

४ अगस्त को गृहिणी के आग्रह पर अमेरिकन फिल्म "वलेरिना" देखने गये। पुराने मध्यवर्ग की स्त्रिया ब्रिटिश या अमेरिकन फिल्मों को अधिक पसन्द करती थी, क्योंकि वहा उनके वर्ग के जीवन की सुन्दर झाकी मिलती थी। फिल्म बुरा नहीं था। वहा से हम फोटोग्राफ की दूकान पर गये— फोटोग्राफर न कह कर फोटोग्राफी की दूकान कहना चाहिये, क्योंकि इस दूकान का मालिक कोई व्यक्ति या व्यापारिक कम्पनी नहीं थी। सभी दुकानें यहा विचवई के बिना हैं। लेकिन यदि कोई फोटोग्राफर अपनी दूकान रखना चाहे, तो उसमें बाधा नहीं है। उसे सरकारी फैक्टरियो से बने माल के मिलने में भी कोई दिक्कत नहीं, लेकिन वह नौकर नहीं रख सकता। हा, चार-छ फोटोग्राफर मिलकर अपनी कोआपरे-

टिव दूकान खोल सकते हैं । घडीसाजों के बारे में भी यही बात है। हम फोटोग्राफी-कार्यालय में गये। बडों के फोटो का दाम बहुत कम था, मगर लडकों का पचास-पचास रूबल पडता था । लड़कों को फोटो के लिये ठीक बैठाने में दिक्कत थी,इसलिये उनके कई फोटो लेने पडते थे। हमने भी कुछ फोटो खिचवाये। फिर 'उर्नीवर-मार्ग' (विश्व-पण्यशाला) में गये,जहा कई तल्ले वाले मकानों में हजारों तरह की चीजें बिक रही थीं। वहा ईगर के लायक कोई तैयार चीज नहीं मिली। कपडा था, लेकिन हमारे पास पहले से ही काफी कपडा रखा हुआ था, और दर्जियों की ढिलाई के कारण सिल नहीं रहा था। फिर आगे, पोस्तीन की दूकान थी, जिसमें बहुमूल्य साइबेरियन समूर तथा मध्यएसिया की कराकुल भेडो के रेशम जैसी चमकते छाले रखे हुये थे। छोटा कोट बनवाने में भी ८-१० हजार रूबल से कम नहीं लगता था, फिर ईगर तो जल्दी जल्दी बढ रहा था, इसलिये छ महीने के बाद ही कोट उसके लिये बेकार हो जाता। पहली सितम्बर से ईगर को स्कूल में जाना था, इसलिये ओवरकोट और दूसरी पोशाक बनवानी ही थी। मा का काम हमेशा धीरेधीरे होता था, इसलिये यह कम सम्भव था, कि महीने भर बाद भी उसके कपडे बन सकेंगे।

५ अगस्त को फिर हम मुहल्ले की अदालत में गये। समय की पाबन्दी न करने की तो मानो लोगों ने कसम खा रखी है। इसका यदि अपवाद था, तो उत्पादन-स्थान, क्योंकि वहा पचवार्षिक योजना के आकडे गला दबाने के लिये तैयार थे। अदालत में एक जज और दो सहायक-जज बैठे हुए थे । सहायकों में एक स्त्री भी थी। एक प्रधान-सहायक कानून जानता था। कानून न जाननेवाले निर्वाचित जज कुछ समय के लिये होते थे, यह हम बतला आये हैं। लाल कपडा बिछी मेज की एक ओर तीनों जज बैठे हुए थे। मेज की बायीं ओर एक क्लर्क-स्त्री बैठी थी । सामने दर्शकों के बैठने के लिये पन्द्रह-बीस कुर्सिया पड़ी थीं। एक कठघरे में कारखाने का मजदूर खडा किया गया था। मालूम हुआ, वह रेल-इजन बनानेवाले कारखाने का छ-सात सौ मासिक पाने वाला मिस्त्री है जो चार साल सेना में भी काम कर चुका है, और सैनिक

सर्जेन्ट होकर पिछले सितम्बर में हीं सेना से अलग हुआ। किसी मार-पीट में फसकर आज कठघरे में आया था। शराब पीकर मार-पीट कर बैठा था। बयान लेकर उसे भेज दिया गया। बाकी मुकदमो में ज्यादातर मकान से सबंध रखते थे। युद्ध के समय लोग घर छोड़कर सेना में या दूसरी जगह चले गये, तब तक उनके घरों को दूसरों ने आकर दखल कर लिया, अब लौटकर वह अपना घर माग रहे थे। वर्षों से बस गये लोग घर छोडकर जायें कहाँ, इसलिये उजुर-माजुर कर रहे थे। हमारे यहाँ की तरह मुकदमों को महीनों लटकाये रहने की प्रथा यहा नहीं थी। गवाही-साची लेकर एक-दो पेशी में फैसला हो जाता। हमारे देश के कूपमण्डूक यही जानते हैं, कि यूरोप में एक ही कानून-व्यवस्था चलती है, और वह वही है, जिसे कि अंग्रेज मानते हैं। अग्रेजों की प्रथा के अनुसार कानून के शब्द का अनुगमन करना सबसे आवश्यक है, लेकिन जर्मनी, रूस आदि देशों में शब्द की नहीं बल्कि भाव की प्रधानता है, इसलिये वहा वकीलों की इतनी ज्यादा नहीं चलती। सोवियत-व्यवस्था ने तो मुकदमों की सख्या को वैयक्तिक संपति की सीमा को संकुचित करके बहुत ही कम कर दिया है। दीवानी मुकदमें एक तरह से नाम-मात्र के हैं, और सपत्ति तथा-स्त्री-पुरुष के सम्बन्धवाले फौजदारी मुकदमो की भी सख्या बहुत कम हो गई है। अदालतों का यही ढाचा नीचे से ऊपर तक चला गया है। एक जज न होकर तीन जज रहते हैं। हॉ, ऊपर की अदालत के जज कानून के विशेषज्ञ हुआ करते है।

६ अगस्त को, जान पडता है, तापमान उनके अनुकूल था, इसलिये मक्खिया बहुत हो गई थीं, दिन में बहुत हैरान कर रही थीं। शायद बगल की खाली जमीन में जो साग-सब्जी और दूसरी चीजें पडी हुई थीं, उसके कारण मक्खियों का जोर बढा। मक्खियों के मारने के कागज बहुत सस्ते मिल रहे थे, और पेंदी की ओर से खुले शीशे के बर्तनो मे भी मक्खिया फसाई जाती थीं, किन्तु सौ-पचास के बलिदान से उनकी सख्या क्या घटती? दिन के शत्रु मक्खियां और रात के खटमल-पिस्सू एव दिन-रात दोनों मे अखण्ड राज्य था मच्छरों का।

७ अगस्त को तीन बजे बाद गरम कपडों की जरूरत पड़ने लगी। बैस

तापमान तो यहा बराबर आख-मिचौनी करता रहता है, लेकिन अब पता लग गया, कि अगस्त के प्रथम सप्ताह के बाद जाड़े का आगमन नहीं तो शरद का आगमन जरूर हो जाता है । बादल भी जब तब दिखलाई पड़ने लगे, नलके का पानी भी ठंडा हो चला ।

६ अगस्त से हमारे घर में मरम्मत का काम लगा था । घर के स्वामियो (नगरपालिका) की ओर से मरम्मत हो रही थी, लेकिन काम करनेवाली एक दिन का काम चार दिन में करना चाहती थी । अभी रसोईघर और चौपालिका के घरों की ही मरम्मत होती थी, जिनका हमें बराबर काम नही पड़ता था । दीवारो पर कागज लगाने की आवश्यकता थी । वह हम से कागज माग रही थी किन्तु कार्यालय से पूछने पर मालूम हुआ, कि वह दिया जा चुका है । रहने की कोठरियों में भी थोड़ी मरम्मत की आवश्यकता थी, जिसके २५० रूबल माग रही थी । हफ्ते में एक दिन तो घरों के लकड़ी के फर्शको धोना आवश्यक था, उसके लिये एक स्त्री ५० रूबल माग रही थी— अर्थात् दो घटे के काम के लिये ३०–३५ रुपया । लेकिन,आपको मजबूर कौन कर रहा था,काम अपने हाथ से कर लीजिये । शारीरिक श्रम का मूल्य वहा कम नहीं था । लोला ने दूसरी स्त्री को १५ रूबल और एक किलो (सवा सेर) आटा पर राजी किया । १० अगस्त को घर की मरम्मत खतम हो चुकी थी । सामान को ठीक जगह पर रख दिया गया था । सामान के बारे में क्या कहना है ? 'सर्व-सग्रह कर्तव्य क कालेफलदायक' के महामत्र का लोला अक्षरश अनुगमन करनेवाली महिला थी । दोनों कमरे और रसोई का घर भी सामान से भरा हुआ था । वह किसी चीज को फेंकने या देने के लिये तैयार नहीं थी पतीलिया कब की टूट चुकी हैं, लेकिन वह भी आले मे पड़ी हुई हैं, कितने बरतन फेंके जा चुके हैं, लेकिन उनके ढक्कन जमा करके रखे हुए हैं । बोतल और शीशियां इतनी, कि उनको सालो मे भूला भी जा चुका है, किन्तु जगह खाली करने की अवश्यकता नहीं । ऐसी स्थिति मे यदि खाने और सोने के कमरे भी मालगोदाम बन गये हों, तो आश्चर्य क्या ? हा, खैरियत यही थी, कि वह आलमारियों या खुले रैकों मे रखे हुए थे ।

अत्यन्त प्रेम करनेवाली मां अपने लड़के के स्वास्थ्य की शत्रु होती है, इसका प्रमाण भी हमें घर में मिल रहा था। ईगर का पेट कभी नही ठीक होने पाता था, क्योंकि मा उसे ठूँस-ठूँस कर खिलाना चाहती थी। आखिर पाचनशक्ति की भी कोई हद होती है। हम तो समझते थे, कि हमारे देश में ही घी-तेल-चर्बी की भर मार पसन्द की जाती है,किन्तु वहा भी यही हालत थी। १४ अगस्त को हमने नोट किया " पेट में गडबड़ी प्राय ही हो जाती है, कारण लोला का चर्बी-पूर्ण भोजन।"

१६ अगस्त अर्थात् अगस्त के मध्य में पहुचते-पहुचते कितने ही अल्प-जीवी तृण पीले हो पतझड के आने की सूचना दे रहे थे। आलू अभी तैयार नहीं थे। चीजें सस्ती और अधिक प्राप्य होने के कारण इस वर्ष लोगों ने साग-भाजी के खेतों मे उतनी तत्परता नहीं दिखलायी। लोला को एक नौकरानी की अत्यन्त अवश्यकता थी, घर के काम करने के लिये ही नहीं बल्कि इसलिये कि १ सितम्बर से ईगर स्कूल जाने लगेगा और उसके लौटने के समय (एक बजे) हम दोनों युनिवर्सिटी रहेंगे। एक बुढिया काम करने के लिये मिल रही थी। राशन की कडाई और चीजों की मँहगाई का लोगों के सदाचार पर भी प्रभाव पड रहा था। बुढिया ने कहा— "मैं भगवान्-विश्वासिनी हू, कोई चीज नहीं छूती"। २०० रूबल मासिक और भोजन देने मे राजी हो जाती। बुढिया के कोई नहीं था, पेन्सन पाती थी। न जाने किस कारण लोला की उससे नहीं पटी। नौकरानी की खोज जारी रखी गई।

१८ अगस्त को हमारे मुहल्ले में भी एक रोमनी (सिगानिका) नगे पैरो घूम रही थी। दो पुरुष उसमे हाथ दिखला रहे थे। पाच-पांच रूबल तो देते ही, इसप्रकार २० आदमियों का हाथ देखकर वह सौ रूबल रोज कमा सकती थी, फिर उसे काम करने की क्यों परवाह होने लगी? सहस्राब्दियों का कोढ एक अतवार रखने से नहीं दूर होता। हाथ देखना, भाग्य मानना, यह आज का मिथ्या विश्वास नहीं है, इसको दूर करने के लिये बुढियाओं के बड़े जबर्दस्त घूंट की अवश्यकता है।

युनिवर्सिटी बन्द थी, छात्र-छात्रायें भी छुट्टी पर थे। सबसे ऊपरी वर्ग की छात्रा वर्था कभी कभी हमारे परिदर्शन में सहायता करती थी। १६ अगस्त को वह हमें शहीदों की समाधि की ओर ले गई। अक्तूबर क्रांति के समय जो लोग हेमन्त-प्रासाद और आस-पास के स्थानों में बलिदान हुए, उन्हीं वीरों की यहां समाधियाँ थीं। सगखारा की चमकती हुई चट्टानों की पांच-छ: हाथ ऊँची दीवारों से यह समाधियां घिरी हुई थीं। पास में भारी पुष्पोद्यान तैयार किया जा रहा था। समाधि-उद्यान के पास ही लैत्नीइ-साद (ग्रीष्मोद्यान) था, जो कि जारशाही युग के धनी-मानी लोगों के विहार का स्थान था। सचमुच ही ग्रीष्म में इसकी शोभा निराली थी। ग्रीष्म की धूप से बचने के लिये यहां वृक्षों की घनी छाया थी। यूरुप के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मूर्तिकारों की कृतियाँ— प्रतिमूर्तियों के रूप में— यहां रखी हुई थीं। अधिकांश मूर्तियां संगमरमर की थीं, जिनमें से कितनी ही अंग-भग्न थीं। १८ वीं सदी के प्रसिद्ध कथाकार क्रिलोफ की धातु-मयी मूर्ति भी यहां स्थापित थी। क्रिलोफ ने पंचतंत्र की तरह पशु-पक्षियों के नाम से बहुत-सी कहानियां लिखीं, जिनसे तत्कालीन समाज के बड़ों पर गहरी चोट की गई थी, लेकिन सीधी चोट न होने के कारण वह तिलमिलाकर रह जाते थे, और क्रिलोफ का कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे। आखिर क्रिलोफ भी उच्च-वर्ग का पुरुष था। उसकी मूर्ति के साथ कहानियों के पशु, पक्षी पात्रों की भी मूर्तियां बनी हुई हैं। सोवियत-युग में भी क्रिलोफ की कहानियां लड़कों और बड़ों का बड़ा मनोरंजन करती हैं। लड़के तो यहां बड़े चाव से देखने आते हैं, और एक एक जन्तु की मूर्ति को देखकर अपनी पढ़ी हुई कहानियों का स्मरण दिलाते हैं। मुझे इस बाग के सैलानियों में अधिकतर लड़के ही दिखाई पड़े। कला के अद्-भुत नमूनों को देखने पर ख्याल आता था, कि कितनी भारी धन-राशि इनके निर्माण में लगी होगी। लेकिन जन-शोषण से प्राप्त अपार सम्पत्ति में से कुछ को कला पर खर्च कर देना शोषक के लिये कोई भारी बात तो नहीं है।

२१ अगस्त को वेर्था के साथ हम रूस-म्यूजियम और एरमिताज म्यूजियम देखने गये। रूस-म्यूजियम १८६५ ई० में स्थापित हुआ था। पहिले यह विशाल

प्रासाद जार अलेक्सान्द्र प्रथम के छोटे भाई मिखाइल पाव्लिच के लिये १८१६ई० में आरंभ हो चार वर्ष बाद १८२३ में तैयार हुआ। उसके बहुत दिनों बाद १८६५ ई० में ज़ार के विशेष फरमान के अनुसार इसे रूसी कला का म्यूजियम बना दिया गया। यद्यपि इसका आरंभ आधी शताब्दी पहिले हुआ था, किन्तु इस में सबसे अधिक चीजें १६१७ की क्रान्ति के बाद आयीं, जब कि धनियों और सामन्तों के घरों में पडी कला की चीजे बाजारों में बिकने लगीं, और म्यूजियमों ने ढूँढ-ढूँढ कर उन्हें खरीदना शुरू किया। युद्ध के समय और म्यूजियमों की तरह यहा की भी सामग्री सुरक्षित स्थानों मे भेज दी गई थी, अभी केवल १८ वीं १६ वीं सदी के चित्रकारों और कुछ मूर्तिकारों की ही कृतिया प्रदर्शित की गई थीं। वैसे यहा की ११ वीं १२ वीं सदी की दुर्लभ कृतिया खासतौर से दर्शनीय हैं, मगर अभी वह नवम्बर तक यथास्थान रखी जानेवाली थीं। इवानोफ का प्रसिद्ध चित्र "लोगों में मसीह" की यहा भी एक प्रति है, जिसे अपेक्षाकृत छोटे रूप में उस कलाकार ने पहिले तैयार किया था। यहा वह सब ड्राइंग तथा दूसरी वस्तुयें सुरक्षित रखी हुई हैं, जिनको महान् चित्रकार ने अपनी फिलस्तीन की दीर्घ यात्रा में वस्तु से उतारा था और पीछे उन्हें जोडकर इस भव्य चित्र को तैयार किया था। शिस्किन प्रकृति का महान् चित्रकार था। वसन्त, हेमन्त, शरद, ग्रीष्म को वह सजीव करके दिखलाने में अद्वितीय था। उसके कितने ही चित्र देखे, जो बडे ही गंभीर और सुन्दर हैं।

वहा से एरमीताज़-म्यूजियम गये। एरमीताज़-म्यूजियम पहिले ज़ार के महान् प्रासाद (हेमन्त-प्रासाद) के एक पास के राजमहल मे खोला गया था, जो क्रांति के समय (१६१७) तक उसी महल तक सीमित रहा, लेकिन क्रान्ति के बाद जनता के युग के आरम्भ होते ही प्रदर्शनीय वस्तुओं की संख्या बडी तेजी से बढी, इसलिये पास का हजार कमरोंवाला ज़ार का हेमन्तप्रासाद भी म्यूजियम को दे दिया गया। युद्ध के समय नष्ट होने से बचाने के लिये सामग्री दूसरी जगह भेजी गयी थी, अब चीजें आ रही थीं, उन्हे सजाया भी जा रहा था, लेकिन सारे म्युजियम को सजाकर तैयार करने में अभी काफी समय की देर

थी। वहां जाने पर मध्यएसिया के इतिहास के विशेषज्ञ प्रोफेसर याकूबोव्सकी से भेंट हुई। वह युनिवर्सिटी में इतिहास के प्रोफेसर भी हैं, और उजबेकिस्तान तथा ताजकिस्तान में भेजे जाने वाले अभियानों के नेता भी होते रहे हैं। उन्होंने वरख्शा के बारे में बतलाया कि वह पांचवीं-छठी सदी का ध्वसावशेष है, और श्वेत हूणों की राजधानी हो सकता है, लेकिन भित्तिचित्र के हाथियो, अंकुश, महावतों की वेष-भूषा को वह भारत से ज्यादा सम्बन्धित नहीं कहते थे। उनका कहना था कि उन चित्रों पर सासानी प्रभाव ज्यादा है। उनका ध्यान इस ओर नहीं था, कि श्वेतहूण आधे उत्तरी भारत के स्वामी थे, और उनके एक राजा तोरमान ने ग्वालियर में एक बहुत ही सुन्दर सूर्य-मंदिर बनवाया था। उनसे यह मालूम हुआ, कि वरख्शा के खनन के नेता शिश्किन का एक अच्छा लेख किसी पत्रिका में निकलने जा रहा है, कई चित्र भी होंगे। मैंने उसके लिये पीछे बहुत छान-बीन की, प्रेस तक दौड़ लगाई, लेकिन कहीं उस लेख का पता नहीं लगा।

एरमीताज-म्यूजियम के एक विशेषज्ञ प्रोफेसर इस्सिन मिले। वह काकेशश और मध्यएसिया के धातुयुग के विशेषज्ञ हैं। उन्होंने बड़े प्रेम से कितनी ही बातें बतलायीं और फिर मुझे कई कमरों को दिखलाया। नव-पाषाण-युग, शकयुग, और उत्तरी कजाकस्तान की प्रागैतिहासिक सामग्री चुनी जा चुकी थी। ई० पू० दसवीं से सातवीं सदी मे ऊपरी इर्तिश-उपत्यका पर जाइसन झील के उत्तर सोने की खानों में काम होता था। वहा सोने के पत्थरों को चूर्ण कर धुलाई के द्वारा सोना अलग किया जाता था। कोक्चेतोफ में भी सोने की और भी बड़ी खानें थीं। यहां का ही सोना दक्षिण की ओर (भारत, ईरान) जाता था। लेना का सोना अभी सुलभ नहीं हुआ था। उत्तरी काकेश्श मे टिन की भी खानें हैं। तांबा तो वहां तथा बलकाश के उत्तरी तट तथा दूसरी जगहों में बहुत पाया जाता है। उत्तरी काकेशश के धातु के इतिहास पर पुस्तक लिखने के बाद अब वह कजाकस्तान-सिबेरिया के धातु-स्थानों पर कलम चला रहे हैं। उन्होंने ई० पू० तृतीय शताब्दी के शक-सरदार की कब्र से निकले एक लाल रङ्ग के घोड़े के शवको

भी दिखलाया। यह कब्र उत्तर-पूर्वी कजाकस्तान में अल्ताई के पास निकली थी। कब्र में सरदार के शव के साथ काफी सोने आदि की चीजें रक्खी गई थीं। लेकिन, उसी समय चोरों ने खोदकर उसे निकाल लिया। लकडी की शवाधानी, घोड़े, और घोड़ों की चीजे वहाँ बच गई थीं। जिस छेद से चोर भीतर घुसे थे, उसी छेद से उसी समय पानी भीतर चला गया, जो सर्दी के मारे चिरकाल के लिये बरफ बन गया, जिस से घोड़ों के रोम, चर्म आदि सभी २२ शताब्दियो बाद भी सुरक्षित मिले। जिस स्थान पर कब्र थी, वह हूणों और शकों की सीमा पर थी। लेकिन वहाँ सिवाय कुछ अलंकरण के कहीं पर भी मंगोलायित शरीर-लक्षणों का प्रभाव नहीं था। चीन का भी प्रभाव इस कब्र की चीजों पर नहीं था। इस्सिन ने बतलाया, कि यहा के घोडे और चारजामे तथा काकेशश के उत्तर की सिथियन समाधियों वालों जैसे ही हैं, जिसका अर्थ है दोनों जातिया— पश्चिमी सिथियन और पूर्वी शक—एक थीं। इनके घोडे हूणों के जैसे नहीं बल्कि दक्षिण और पश्चिम के घोड़ों जैसे बडे-बडे थे।

हमने साथ-साथ और भी कुछ चीजें देखीं, जिनमे पुराने रूमियों के आभूषणों में हसली, बगरी, केयूर, और कर्णफूल भारत जैसे थे। हो सकता है इन मे से कुछ आभूषण शकों द्वारा भारत पहुँचे हो।

२४ अगस्त को खबर मिली कि भारत में राष्ट्रीय सरकार के नामों की घोषणा करदी गई है। मुस्लिम लीग उसमे शामिल नहीं हुई।

रूस मे पेशों और व्यवसायों की सीमा-रेखा कितनी कम हो गई है, और मस्तिष्कजीवी भी शरीरजीवी बनने में कोई संकोच नहीं महसूस करते, इसका पता हमारे घर की दीवारों पर कागज चिपकाने के लिये आयी महिला थी। वह इञ्जीनियर थी, लेकिन अपने काम से बाहर यदि कोई काम मिल जाता, तो उसे स्वीकार करने में आनाकानी नहीं करती थी। हमने अपनी छोटी-सी शयन-कोठरी की दीवार पर रंगीन कागज चिपकाने के लिये कहा। वह १५० रूबल पर राजी होगई, और २५ अगस्त को ऐतवार के दिन उसने उस काम को कर दिया। उसे १४ घंटे लगाने पडे। हजार रूबल से कम उसका वेतन नहीं होगा, तो भी

यदि महीने में पाच सात दिन इस तरह काम करके हजार रूबल और मिल जायें, तो हरज क्या ?

२६ अगस्त को यह सुनकर लीला और उसकी साथिनो ने संतोष की सास ली, कि अभी साल भर तक राशन हटने वाला नहीं है । सरकारी दूकाने ऐसी भी थीं, जिनमें राशन-बिना चीजें मिलती थीं। वे राशन की चीजों के मिलने का एक और स्थान रीनक (हाट) था । वहा १२० रूबल किलोग्राम चीनी ७० या ८० रूबल में मिल जाती थी । इसी तरह दूसरी चीजें भी तिहाई कम दाम पर बिक रही थीं। हाँ, बिना राशन की दूकान की तरह यहा चीजें बराबर नहीं मिलती थीं, क्योंकि लोग अपनी राशन की चीजों को बेचकर दूसरी अपेक्षित चीजें खरीदते थे, कोई मध्यवर्गी आदमी लोगों से चीजें जमा करके बेचने नहीं पाता था, इसीलिये बराबर चीजो का मिलना संभव नहीं था।

३० अगस्त आया। एक दिन छोड पहिली सितम्बर से ईगर को स्कूल जाना था। आज पास के स्कूल मे उसका नाम दर्ज हो गया। माँ को खिलाने की बहुत फिक्र थी। यद्यपि बालोद्यान में उसे पूरा खाना मिलता था, किन्तु शाम सबेरे अपने मिश्का (चूहे) को ठूस-ठूस कर खिलाये बिना माँ कैसे रहती ? पहिली तारीख को सभी माताए स्वय और अपने लड़कों का अच्छी तरह बनाव-सिंगार करके स्कूल पहुची । आज उनके बच्चे अक्षर आरम्भ करनेवाले थे । पिछले महीने का अन्तिम सप्ताह लड़कों और उनकी माताओं के भी बालोद्यानों से छुट्टी लेने में बीते थे। लडकों के यह स्मरणीय दिन थे, बालोद्यान के बाद अब अगले दस वर्षों तक की स्कूली पढाई, लडकों और लडकियो की अलग हुआ करेगी, और चार साल साथ बिताने वाले लडके लड़किया अब घर पर ही एक दूसरे से मिल सकेंगे। कई वर्षों के तजर्बे के बाद सोवियत के शिक्षा-शास्त्रियों को सह-शिक्षा उठा देने की जरूरत मालूम हुई। उन्होंने देखा कि १७ वर्ष की आयु के भीतर लडकियों के विकास की गति कुछ अधिक होती है ।

सितम्बर के साथ शरद अब पूरी तौर से प्रकट होने लगी । यही वर्षा

के भी दिन थे, जो तापमान के गिरने के साथ हिम-वर्षा के दिन बन जायेंगे। लोगों ने अब अपने आलुओं को जल्दी जल्दी खोदना शुरू किया, क्योंकि कुछ आलू चोरी चले गये थे। हमारी क्यारी में पिछले वर्ष से ज्यादा साठ किलोग्राम (प्राय दो मन) आलू हुआ। ६ सौ रूबल का आलू पैदा करना कम सफलता की बात नहीं थी। हमारी पड़ोसिन को जब खेती करने की बात कही गई, तो उसने कहा— क्यों खेत खोदने जाऊँ, जब कि एक रात के जागने में मेरा काम बन सकता है। चाहे वेतन अधिक भी कर दिया जाय, लेकिन चीजों के महगे होने से लोगों के सदाचार पर बुरा प्रभाव पड़ता है, यह यहाँ मालूम हो रहा था।

अभी तक लोला को कोई नौकरानी नहीं मिली थी। नौकरी ढूँढती एक बुढ़िया २१ अगस्त को आयी। वह फ्रेंच, अंग्रेजी, इतालियन, और जर्मन भाषायें जानती थी। पुराने आभिजात्य वर्ग की लड़की थी, इसलिये यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों की सैर करना और कई भाषाओं का पढ़ना उसके लिये आवश्यक था। बुढ़िया का बाप ज़ार की पार्लियामेण्ट का मेम्बर था। कितनी ही बार वह यूरोप की सैर कर चुकी थी। युद्ध के समय शहर छोड़कर चली गई थी, इसलिये उसके कमरे में कोई दूसरा बैठ गया था। अब झोली में अपना सारा घर लिये बेघर होकर घूम रही थी। वह भोजनशाला में रहने की जगह मिल जाने पर यहीं रहकर ईगर की देख-भाल करने के लिये तैयार थी, लेकिन हमें तो ऐसे आदमी की अवश्यकता थी, जो कि खाना भी बना सके।

कल-मशीन का काम ऐसा ही होता है, जब तब वह बिगड़ जाती है, और फिर काम ठप्प हो जाता है, इसलिये मशीन-युग के हरेक नागरिक को कल-मशीन की बातें भी सीख लेनी आवश्यक है। बिजली और चूल्हे के मिस्त्री तो हम बन ही गये थे, पहिली सितम्बर को हमारा रेडियो भी बन्द हो गया। पीछे से खोलकर परीक्षा की, तो एक बल्ब बिगड़ा मालूम हुआ। पास-पड़ोस में ढूंढने पर एक रेडियो-विशेषज्ञ मेजर निकल आये। उन्होंने आकर अपना बल्ब लगा दिया और साथ ही कुछ बातें भी हमें बतला दीं। पारिभाषि

देने पर लेने से इन्कार कर दिया।

पहिला सितम्बर रविवार को पडा था, इसलिये शिक्षण सस्थाओ के साल का आरम्भ २ सितम्बर से हुआ। युनिवर्सिटी मे पिछले साल की तरह लडकों का नितान्त अभाव नही था, अब लडके भी दिखाई देने लगे थे। पढाने के घटो आदि का निश्चय पहिले ही हो गया था, इसलिये अब फिर हमारी गाडी पहिले की तरह चलने लगी।

उसी दिन एक भारतीय छात्र की चिट्ठी अमेरिका से आयी। वह योजना के सबध में विशेष अध्ययन करने के लिये आना चाहते थे। भारत से उन्होंने कई पत्र रूस भेजे, लेकिन उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। हम मे चाहते थे, कि उनके लिये कोई प्रयत्न करें। बेचारे जानते नहीं थे, कि पूजीवादी दुनिया के कटु अनुभवों के कारण सोवियतवाले विदेशी विद्यार्थियों को लेने के लिये तब तक तैयार नहीं होते, जब तक पूरी तौर से विश्वास न हो जाय, कि वह किसी विदेशी सरकार के खुफिया नहीं हैं।

× × × ×

भारत से २४ जून को हवाई डाक से भेजा-पत्र ७ सितम्बर को मिला, इससे मालूम होगा कि भारत के साथ सम्बन्ध रखना कितना मुश्किल था। कुछ पत्र तो चार महीने के भी बाद हमारे पास पहुचे।

२०० रूबल मासिक, भोजन, तथा रविवार की छुट्टी पर भी नौकरानी मिलना मुश्किल हो रहा था। यदि कोई काम करने के लिये तैयार था, तो उसे अपने काम से हटने के लिये जल्दी आज्ञा नहीं मिल रही थी। हमने दोनों कमरों की धुलाई के लिये प्रति रविवार ४० रूबल पर प्रबन्ध कर लिया था।

सितम्बर के प्रथम सप्ताह में भारत में जगह जगह साम्प्रदायिक दगों की खबरें आरही थीं। काग्रेस ने राष्ट्रीय मत्री मण्डल को सभाल लिया था। लीग अपने हठ पर डटी थी, और उसके कारण जगह जगह झगडे हो रहे थे। ८ सितम्बर को जवाहरलाल नेहरू की वक्तृता रेडियो पर सुनी 'भाइयो और बहिनों' से शुरू और "जय हिन्द" के साथ समाप्त। १२ मिनिट की वक्तृता थी। अभी

पहिले पहल सरकार की बागडोर हाथ में आई थी, इसलिये ऊपरी बातों ही ज्यादा थीं।

११ सितम्बर को युनिवर्सिटी जाते समय पहिले प्रोफेसर इस्सिन से एरमिताज में जाकर बातें कीं। उन्होंने बतलाया कि कजाकस्तान की ताम्बे, टिन और सोने की खानें अधिकतर पितल-युग (प्राय ई० पू० १३ वीं सदी) की थीं। सोने की खानों में एकाध लोहे के हथियार भी मिले हैं। ताम्रयुग कजाकस्तान में ई० पू० द्वितीय शताब्दी तक रहा। इसके बाद खानों में काम बन्द हो गया। यह खानें उसके बाद १८ वीं और १९ वीं सदी में और अधिकतर तो २० वीं सदी में फिर से चालू हुई। अकमोलिन्स्क में आधे भुइघरे वाले घर मिले हैं, जिनमें खानों के कमकर रहा करते थे, और जो हिन्दू-यूरोपीय जाति के थे। उस समय अकमोलिन्स्क में और अधिक जंगल था। खानों के स्थानों के बारे में उन्होंने बतलाया —

ताम्र— अकमोलिन्स्क, बलखाश, अल्ताई (इर्तिश से दक्षिण)।

सुवर्ण— कोक्चेतोफ प्रदेश में ३० स्थान, अल्ताई मे इर्तिश से दक्षिण।

टिन— दक्षिणी अल्ताई, कल्बा पहाड़, इर्तिश का उभय तट।

उनसे यह भी मालूम हुआ कि क्रान्ति से पहिले कजाक कमकर बहुत कम थे, लेकिन अब वह खानों और कारखानों में काफी हैं।

युनिवर्सिटी की पढाई बाकायदा शुरू हो गई थी, किन्तु बाकायदा का मतलब था अध्यापकों का बाकायदा जाना। युद्ध के बाद विद्यार्थियों के मनोभावों के बारे में यह अक्सर शिकायत की जाती थी, कि वह पढने की अधिक परवाह नहीं करते। मुझे संस्कृत, तिब्बती, और हिन्दी पढानी पड़ती थी। घर से युनिवर्सिटी पहुचने में डेढ घन्टा और उतना ही लौटने में लगता था। जब वहां विद्यार्थियों को गुम देखता, तो समय की बर्बादी का अफसोस होता। लौटते समय ट्राम में चलना आसान नहीं था। खड़े होने की जगह मिलती तो भी लोगों के मारे दबने-पिचने लगता। यदि बैठने की जगह मिल जाती, तो घुटनों में नीचे के पैरों की खैरियत नहीं थी।

मैंने प्रधान-मत्री को एक बधाई का तार भेज दिया था । सेंसरों की धाँधली जैसी चल रही थी, उससे यह आशा नहीं थी, कि तार पहुच ही जायगा, हालाँ कि उसमें कोई वैसी बात नहीं थी । लेकिन १४ सितम्बर के दिल्ली-रेडियो से नेहरू जी के पास शुभेच्छा भेजने वाले लोगों में लेनिनग्राद के प्रोफेसर राहुल साकृत्यायन का नाम भी सुना । इससे यह तो मालूम हुआ कि रूस देश में भी नई सरकार के शुभेच्छु हैं, लेकिन जहा तक हमारे इष्टमित्रो का सम्बन्ध था, वह इस नई सरकार को कोई अहमियत नहीं देते थे ।

लोला ने अपने सगे सम्बन्धियों को नौकरानी के लिये कह रखा था । एक महिला एक ७० वर्षीया वृद्धा को अपने साथ लेकर १५ सितम्बर को आयीं । फिर एक दूसरी भी सबन्धिनी अपने दो बच्चों के साथ आयीं । घर में चार-पाच लडके, और तीन चार मेहमानो के आ जाने से कुछ चहल-पहल हो गई । लोला के चचेरे भाई की लडकी नताशा बडी भद्र महिला थीं । उसके दो बच्चे थे, पति दूर चला गया था और शायद छोड भी चुका था । दोनों बच्चों का पालन मा स्वय कमाकर कर रही थी । उसने अपने छोटे बच्चे को पितृकुल का नाम (बेर्नस्ताम) दे रखा था । लोला बहुत ज्यादा स्नेह प्रकट करनेवाली स्त्री नहीं थी, लेकिन नताशा के साथ उसका स्नेह था । उसको इस बात का अफसोस था कि इस रक्तकेशी ने एक यहूदी से विवाह किया है । उसके लडके का भी केश लाल था । वह यद्यपि ईगर से एक ही साल बडा था, लेकिन कहानिया खूब पढ लेता था,पढने का शौक भी उसे बहुत था, और यह अनुभव करने लगा था, कि मा कितनी मेहनत करके हमारी परवरिश कर रही है । वृद्धा शायद काम नहीं कर सकती थी, इसलिये उसको नही रखा गया ।

१६ सितम्बर सोमवार होने से हमारे स्नान का दिन था । हर हफ्ते की तरह आज भी स्नान करने गये । दोपहर बाद वर्षा ही वर्षा रही । गोया शरद धूम-धाम से आरम्भ हो गई थी । अब दिन में भी घर में बैठने वक्त गरम कोट की जरूरत पडने लगी थी । बिना राशन की दूकानों मे दाम और कम हो गया । चीनी १२० रूबल की जगह ७० रूबल किलोग्राम हो गई, गगनराई

से चीनी पाच रूबल किलोग्राम मिलती थी । चौकोर चीनी के डले, ५. ७० रूबल से १५ रूबल किलोग्राम कर दिये गये थे, अर्थात् एक तरफ राशन की चीजों का दाम ऊपर उठाया गया था और दूसरी तरफ बिना राशन की चीजों का दाम नीचे किया जा रहा था। काली रोटी १. १० रूबल से ३. ४० रूबल किलोग्राम हो गई थी। मक्खन बिना राशन का साढे तीन सौ से २६० रुबल हो गया था । रोटी का इतना दाम बढना कम वेतनवालों के लिये कष्टप्रद था, क्योंकि सबसे कम वेतन पानेवाले दो सौ से तीन सौ रूबल तक ही तनख्वाह पाते थे। हा ८०० सौ रुपये तक, मासिक पाने वालों के वेतन मे २० सैकडे की वृद्धि भी करदी गई थी । वहा के अर्थ-शास्त्र को समझना मुश्किल मालूम होता था, किन्तु हम किसी को भूखा नहीं देखते थे।

हमारे ही मुहल्ले की एक प्रौढा मान्या को लोला ने नौकरानी ठीक किया। उसका मकान पास ही में था। वह एक लडके और लडकी की मा थी । लड़ाई के बाद उसका घर बिखर गया ।

शिश्किन के वरख्शा सबन्धी लेख को ढूढने के लिये हम १९ सितम्बर को अकदमी प्रेस गये, किन्तु वह वहा नहीं मिला। अकदमी के प्राच्य-प्रतिष्ठान के पुस्तकालय में गये । बिना पासपोर्ट देखे भीतर जाने की इजाजत नहीं थी। इस तरह के अनुत्पादक श्रम मे हर जगह काफी आदमियों को लगे देख कर ख्याल आता था क्या इन्हें यहा से हटाकर किसी उत्पादन मे और आवश्यक काम में नहीं लगाया जा सकता ? इसमें सदेह नहीं कि ऐसे प्रबन्ध से खतरे की गुजाइश बहुत कम रह जाती है, लेकिन ऐसे ख्याली खतरों के भय से सभी क्षेत्रों में यान्त्रिक प्रबन्ध को अपनाना अच्छा नहीं मालूम होता था । खैर, मेरे पास पासपोर्ट था, युनिवर्सिटी के प्रोफेसर होने का प्रमाण-पत्र था, इसलिये जाने में कोई दिक्कत नहीं हुई ।

वरान्निकोफ बहुत कम बोलनेवाले विद्वान् है, जिसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने विषय पर भाषण देने या लिखने मे अक्षम है। उन्होंने बहुत सी पुस्तकें लिखी है, और " प्रेमसागर " का गद्यमय और तुलसीकृत रामायण का पद्यमय

रूसी अनुवाद किया है,इसलिये हम उन्हें आलसी-सकोची नहीं समझ सकते । २१ सितम्बर को मैं उनके घर गया था । वरान्निकोफ अकदमिक हैं, इसलिये वह रूस के डेढ-सौ जीवन्मुक्त देवताओं में से हैं । उनकी पत्नी भी प्रोफेसर हैं । पुस्तकों के जमा करने का कितना शौक है, यह उनके घर का विशाल पुस्तकालय बतला रहा था । उक्रइन के एक दरिद्र बढई के पुत्र ने अपने अध्यवसाय से इस स्थान को प्राप्त किया था । यदि सोवियत शासन नहीं स्थापित हुआ होता, तो वह शायद ही इस पद पर पहुच पाते । मुझे कई मर्तबें तुलसीकृत रामायण के अनुवाद के सबन्ध में परामर्श देने के लिये जाना पडा था । जहाँ तक अनुवाद का सम्बन्ध है, उसे उन्होने पहिले ही पूरा कर लिया था, अब वह प्रेस में जा रहा था ।

२३ सितम्बर को हाथ और पैर ठिठुर रहे थे । जान पडता था, तापमान हिमविन्दु से नीचे चला गया है । अब साढे पाच बजे अंधेरा हो जाता था और दो दिनों से रेडियो खराब होने से २४ सितम्बर को तो हमें जग अंधेरा मालूम होता था ।

२६ सितम्बर को जब युनिवर्सिटी से घर लौटे, तो देखा हमारी नई नौकरानी मानिया ने घर को घर बना दिया है, अस्त-व्यस्त चीजों को एक जगह पर ठीक से रख दिया है, घर साफ है । लेकिन पूरी व्यवस्था कायम करने के लिये मानिया स्वतत्र कहाँ थी ?

२७ सितम्बर को पेडों के पत्ते करीब करीब सभी पीले पड गये थे । सर्दी बढ गई थी, लेकिन लोग अभी कन्टोप नहीं पहिन रहे थे । पोस्तीन का कोट कोई कोई पहिने हुए थे ।

नाटकों और फिल्मो के बारे में न कहने मे यह न समझना चाहिये, कि हम अब उन्हें देखने नहीं जा रहे थे। २८ सितम्बर को मारिन्स्की-तियात्र में हम एक ऐतिहाहिक ओपेरा " क्न्याज ईगर " (राजुल ईगर) देखने गये । ओपेरा का लेखक महान् नाट्यकार अ० प० वोरोदिन (१८७४–८७ ई०) था । आज से ७०–७५ साल पहिले यह ओपेरा अभिनीत हुआ था । ईगर रूस का